

Barcode : 99999990076966
Title - Soor Poorva Brijbhasha Aur Uska Sahitya
Author - Singh, Dr. Shivprasad
Language - hindi
Pages - 279
Publication Year - 1958
Barcode EAN.UCC-13



सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

पूज्य पिता जी को

सूरपूर्व व्रजभाषा के उन भज्ञात लेखकों की स्मृति
में, जिनकी रचनाएँ सूर-साहित्य के विशाल भवन
के निर्माण के लिए नींव में द्य गईं ।

पूज्य पिता जी को

सूरपूर्व मजभाषा के उन भज्ञात लेखकों की स्मृति
में, जिनकी रचनाएँ सूर-साहित्य के विशाल भवन
के निर्माण के लिए नींव में दब गईं ।

तद्भव शब्दों का एकमान राज्य था। इस बीच धीरे धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईपद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ जाने से भाषा भी बदली सी जान पडने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनोंको शास्त्र का पल्ला पकडा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पडा। शांकर मत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जाँच मथन किया है उससे यह व्यक्तव्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वीं से चौदहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रंथों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपों का बहुत ही उद्बोधक परिचय दिया है। इस निबन्ध में १४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के बीच लिखे गये ब्रजभाषा साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की ब्रजभाषा की त्रुटित शृंखला का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानों की धारणा रही है कि ब्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबन्ध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है। सगुण भक्ति का ब्रजभाषा काव्य सूरदास के पूर्व आरम्भ हो चुका था जिसका सकेत प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य अपभ्रंश रचनाओं में चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम परक प्रसंगों तथा स्तुतिमूलक रचनाओं से मिलता है। जैन काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानों के मन में अभी उतना आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पडने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा के जैन काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्त्व भी दिखाया है।

तद्भव शब्दों का एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईपद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ जाने से भाषा भी बदली सी जान पडने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनोंको शास्त्र का पहा पकडा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पडा। शास्त्र मत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जा मथन किया है उससे यह व्यक्तव्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वीं से चौदहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रंथों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपों का बहुत ही उद्बोधक परिचय दिया है। इस निबन्ध में १४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के बीच लिखे गये ब्रजभाषा साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की ब्रजभाषा की त्रुटित शृंखला का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानों की धारणा रही है कि ब्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में ब्रह्मभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबन्ध से इस मान्यता का उचित मिरास हो जाता है। सगुण भक्ति का ब्रजभाषा काव्य सूरदास के पूर्व आरम्भ हो चुका था जिसका सकेत प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य अपभ्रंश रचनाओं में चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम परक प्रसंगों तथा स्तुतिमूलक रचनाओं से मिलता है। जैन काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानों के मन में अभी उतना आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पडने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा के जैन काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुजित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्त्व भी दिखाया है।

आभार

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यंत अस्पष्ट और कुहाच्छन्नप्राय रहा है। सूरदास का ब्रजभाषा का आदि कवि मानने में ब्रजभाषा के प्रमीचित्त को उल्लास और गर्व का अनुभव भले ही होता हो, जो स्वाभाविक है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्याभिनिवशी और भाषा विकास के अनुसंधितों निरंतर उस दूरी हुई शृंखला के सधान की आशा से परिचालित होते रहे हैं जिसने अपनी पृष्ठभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसंधायकों की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कभी भी फलपती नहीं हुई क्योंकि दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक के ब्रज साहित्य का सधान पुस्तकों में नहीं उन ज्ञात अविज्ञात भांडारों में हो सकता था जो अद्यावधि अचलस्थित हैं और अपनी उदरस्थ सामग्री के विषय में अकल्पनीय मौन धारण किए हुए हैं।

सन् १९५३ में गुद्वर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य के सधान का यह कार्य मुझे सौंपा तो मैं उस अज्ञात सामग्री की प्राप्ति के विषय में किंचित् आशावित जरूर था, किन्तु अपनी साक्षित शक्ति और भांडारों में दबी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओं में लिखे हस्तलेखों, गुटकों में से सूर पूर्व ब्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न भिन्न लिपियों में लिखे इन अग्राह्य लेखों के विचित्र अक्षरों को उकीलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह हीन हो पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्व मंदिर के सहाय सचालक मुनिजिन विजय जी, आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर के सचालक श्री अरचन्द नाइटा, श्रीमुज मथुरा के श्री ब्रजवल्लभ शरण, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भांडारों के उत्साही जगों ने यदि मेरी सहायता न की होती, तो ब्रजभाषा की इस धुलित कड़ी को जाड़ने का यह यत्किंचित् प्रयत्न भी संभव न हो पाता।

हस्तलेखों में प्राप्त सामग्री के अलावा सूर पूर्व ब्रजभाषा से सम्बद्ध प्रकाशित सामग्री का भी उक्त दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववृत्ता और परवृत्ता अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना संभव नहीं है। सूर पूर्व ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के सम्य परवृत्ता ब्रजभाषा से उसके सग्रहों का निरूपण करते समय डा० धीरेंद्र वमा की पुस्तक 'ब्रजभाषा' से बहुत सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबंध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र कराने में अन्य भी कई सज्जनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डा०

आभार

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यन्त अस्पष्ट और कुद्दाच्छन्नप्राय रहा है। सूरदास का ब्रजभाषा का आदि कवि मानने में ब्रजभाषा के प्रमी चित्त को उत्साह और गर्व का अनुभव भले ही हाता हा, जा स्वाभाविक है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्याभिनिवश और भाषा विकास के अनुसंधित्सु निरंतर उस दूरी हुई शृंखला के सधान की आशा से परिचालित हाते रहे हैं जिसने अपनी पृष्ठभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसंधायकों की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कभी भी फलपत्ती नहीं हुई क्योंकि दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक क ब्रज साहित्य का सधान पुस्तकों में नहीं उन ज्ञात अविज्ञात भांडारों में हा सकता था जा अद्यावधि अयनस्थित हैं और अपनी उदरस्थ सामग्री के विषय में अक्लरनीय मौन धारण किए हुए हैं।

सन् १९५३ में गुस्वर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य के सधान का यह कार्य मुझे सौंपा तो मैं उस अज्ञात सामग्री की प्राप्ति के विषय में किंचित् आशावित जरूर था, किन्तु अपनी सामित शक्ति और भांडारों में दबी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओं में लिखे हस्तलेखों, गुप्तों में से सूर पूर्व ब्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न भिन्न लिपियों में लिखे इन अग्राह्य लेखों के विचित्र अक्षरों को उकीलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में सदेह हीन हा पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्त्व मंदिर के सभाध्य सचालक मुनिजिन विजय जी, आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर के सचालक श्री अरचन्द नाहटा, श्रीमुज मथुरा के श्री ब्रजवल्लभ शरण, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भांडारों के उत्साही जनों ने यदि मेरी सहायता न की हाती, तो ब्रजभाषा की इस घुम्टि कड़ी को जाडने का यह यत्किंचित् प्रयत्न भी संभव न हो पाता।

हस्तलेखों में प्राप्त सामग्री के अलावा सूर पूर्व ब्रजभाषा से सम्बद्ध प्रकाशित सामग्री का भी उक्त दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववर्ता और परवर्ता अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना संभव नहीं है। सूर पूर्व ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के सम्य परवर्ता ब्रजभाषा से उसके सङ्घों का निरूपण करते समय डा० धीरेन्द्र वमा की पुस्तक 'ब्रजभाषा' से बहुत सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना निमग्न आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबंध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र कराने में अन्य भी कई सजना ने अपना अमूल्य सहायग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डा०

विषय-सूची

(अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं)

१. प्रस्ताविक

ब्रजभाषा के उदय-काल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की धारणायें, १-२-सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा के आन्तरिक उदय माने जाने के कारण ३-४ इस मान्यता की झुटिया और सीमायें : मध्यदेशीय भाषा की मदती परम्परा १७ वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का उदय मानने से झुटित-विक्रमी दसवीं से १६ वीं शताब्दी तक की मध्यन्तरित झुटित शृंखला के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव-आधारभूत सामग्री और उसका पुनर्निरीक्षण-५-१२, ब्रजभाषा सम्बन्धी कार्य, आरम्भिक ब्रजभाषा के अध्ययन के अभाव में इन कार्यों की अपूर्णता १३-१४, आदिकालीन तथा भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि-आरंभिक ब्रज-काव्य, इस साहित्य के तथाकथित अभाव के कारण परवर्ती साहित्य के अध्ययन में उत्पन्न कठिनाइयाँ—साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और काव्यरूपों के अध्ययन के लिये दसवीं से सोलहवीं शताब्दी के ब्रजसाहित्य का सघान आवश्यक १५-१७

२. ब्रजभाषा का रिक्त : मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

मध्यदेश-उसकी भाषा-परम्परा का ब्रजभाषा के रिक्त के रूप में अध्ययन, १८-भारतीय आर्यभाषा का आरम्भ-छन्दस्, १९-आर्यभाषा के अन्तर्वर्तों और बहिर्वर्तों विभाजन—इस विभाजन के माया शास्त्रीय आधार—इनकी विशेषतायें और झुटिया, २०-वैदिक भाषा की ध्वनि प्रक्रिया : स्वर सप्रसारण, स्वरभक्ति, स्वरगम तथा २-ल की विनिमेयता—ब्रजभाषा के विकास में इनका योग, २१-वाक्य विन्यास में कर्ता, कर्म, क्रिया का अनुक्रम, उपसर्ग और भाषा विशिष्टता, २२-मध्यदेशीय छन्दस् के ब्राह्मणों में परिगृहीत रूप से संस्कृत का निर्माण—बौद्ध भारत में भाषा स्थिति, २३ २४-अशोक के शिलालेखों की भाषा-ऋ के विभिन्न परिवर्तन, आदि स्वर-लोप तथा अन्य ध्वनि विकार, २५-पालि : मध्यदेश की भाषा—पालि भाषा के ध्वनि-तत्त्व और रूप-तत्त्व का विश्लेषण, ब्रजभाषा के निर्माण में इनका प्रभाव, २६-२७-नाटकों की प्राकृतें : महाराष्ट्री शौरसेनी का कनिष्ठ रूप—प्राकृतों में ध्वनि और रूप संबंधी विकास—नव्य आर्य भाषा पर इनका प्रभाव, २८-२९-शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशेषताएँ, ३०-अपभ्रंश : ध्वनि और रूप—ब्रजभाषा के गठन—निर्माण में इसका योग, ३१-३४ ।

३. ब्रजभाषा का उद्गम शौरसेनी अपभ्रंश (विक्रमी १०००-१२००)

अपभ्रंश और नव्य आर्य भाषायें, ३५-३६-शौरसेनी अपभ्रंश कहा की भाषा थी—मध्यदेश से इसका सम्बन्ध, ३७-४०-प्राकृत व्याकरण में हेमचन्द्र संकलित दोहों की भाषा—देशी विदेशी विद्वानों की धारणा कि यह भाषा मध्यदेशीय है, ४१-कुछेक गुजराती विद्वानों

विषय-सूची

(अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं)

१. प्रस्ताविक

ब्रजभाषा के उदय-काल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की धारणायें, १-२-सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा के आकस्मिक उदय माने जाने के कारण ३-४ इस मान्यता की झुटिया और सीमायें : मध्यदेशीय भाषा की महती परम्परा १७ वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का उदय मानने से झुटित-विक्रमी दसवीं से १६ वीं शताब्दी तक की मध्यन्तरित झुटित शृंखला के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव-आधारभूत सामग्री और उसका पुनर्निरीक्षण-५-१२, ब्रजभाषा सम्बन्धी कार्य, आरम्भिक ब्रजभाषा के अध्ययन के अभाव में इन कार्यों की अपूर्णता १३-१४, आदिकालीन तथा भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि-आरंभिक ब्रज-काव्य, इस साहित्य के तथाकथित अभाव के कारण परवर्ती साहित्य के अध्ययन में उत्पन्न कठिनाइयाँ—साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और काव्यरूपों के अध्ययन के लिये दसवीं से सोलहवीं शताब्दी के ब्रजसाहित्य का सघन आवश्यक १५-१७

२. ब्रजभाषा का रिक्त : मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

मध्यदेश-उसकी भाषा-परम्परा का ब्रजभाषा के रिक्त के रूप में अध्ययन, १८-भारतीय आर्यभाषा का आरम्भ-छन्दस्, १९-आर्यभाषा के अन्तर्वर्तों और बहिर्वर्तों विभाजन—इस विभाजन के भाषा शास्त्रीय आधार—इनकी विशेषतायें और झुटिया, २०-वैदिक भाषा की ध्वनि प्रक्रिया : स्वर सप्रसारण, स्वरमत्ति, स्वरागम तथा २-ल की विनिमेयता—ब्रजभाषा के विकास में इनका योग, २१-वाक्य विन्यास में कर्ता, कर्म, क्रिया का अनुक्रम, उपसर्ग और भाषा विशिष्टता, २२-मध्यदेशीय छन्दस् के ब्राह्मणों में परिगृहीत रूप से सस्कृत का निर्माण—बौद्ध भारत में भाषा स्थिति, २३ २४-अशोक के शिलालेखों की भाषा-ऋ के विभिन्न परिवर्तन, आदि स्वर-लोप तथा अन्य ध्वनि विकार, २५-पालि : मध्यदेश की भाषा—गालि भाषा के ध्वनि-तत्त्व और रूप-तत्त्व का विश्लेषण, ब्रजभाषा के निर्माण में इनका प्रभाव, २६-२७-नाटकों की प्राकृतें : महाराष्ट्रों शौरसेनी का कनिष्ठ रूप-प्राकृतों में ध्वनि और रूप संबंधी विकास—नव्य आर्य भाषा पर इनका प्रभाव, २८-२९-शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशेषताएँ, ३०-अपभ्रंश : ध्वनि और रूप-ब्रजभाषा के गठन—निर्माण में इसका योग, ३१-३४ ।

३. ब्रजभाषा का उद्गम शौरसेनी अपभ्रंश (विक्रमी १०००-१२००)

अपभ्रंश और नव्य आर्य भाषायें, ३५-३६-शौरसेनी अपभ्रंश कहा की भाषा थी—मध्यदेश से इसका सम्बन्ध, ३७-४०-प्राकृत व्याकरण में हेमचन्द्र सकलित दोहों की भाषा—देशी विदेशी विद्वानों की धारणा कि यह भाषा मध्यदेशीय है, ४१-कुछेक गुजराती विद्वानों

पद रचना का आरम्भ, १६७—ग्वालियरी भाषा . क्या अलग भाषा थी—मिर्जा खा के व्याकरण में ग्वालियरी ब्रजभाषा के अन्तर्गत मानी गई, ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग, १६८—१७० ।

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

सधार अग्रवाल का प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११), १७१, कवि, परिचय, रचना, काव्य-वस्तु, १७२—१७३—जाधू मणियार का हरिचन्द पुराण (विक्रमी १४५३), १७४, रचनाकाल भाषा और साहित्य का परिचय १७५, विष्णुदास (संवत् १४६२), कवि परिचय, रचनार्य और भाषा १७६—१७८, कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (वि० १५१६) हस्तलेख परिचय, रचनाकाल, आदि का विवरण, १७९, कथा-वस्तु १८०—१८१, झूगर बावनी (वि० १५३८) १८२—१८३, मानिक कवि की बैताल पचीसी (विक्रमी १५४६) १८४—१८५, कवि ठक्कुरसी (विक्रमी १५५०) रचना भाषादि, १८६, छिताई वार्ता (विक्रमी १५५० के लगभग) रचनाकार, काल निर्णय, भाषा-साहित्य १८७—१८८, येवनाथ की गीता-भाषा (विक्रमी १५५७) परिचय, १८९—१९०, चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५७ संवत् के लगभग) परिचय और काल निर्माण १९१, चतुर्भुजदास का नेमिश्चरगीत (संवत् १५७१), १९२—धर्मदास का घमोपदेश (संवत् १५७८), १९३—छोदल (१५७८) रचनाएँ, पञ्चसहेली और बायजो की प्रतियाँ काव्य भाषादि १९५—१९८—बाचक सहज सुन्दर का रतनकुमार रास (१८२ संवत्) १९९ ।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

गुरुग्रन्थ के ब्रज कवि, २००—नामदेव, कवि परिचय, रचनाकाल, रचनार्य-भाषा २०१—२०२—त्रिलोचन, परिचय और रचना २०३—जयदेव, गुरु ग्रन्थ के पद, प्राकृतपैगलम् के पदों से इनकी भाषा की तुलना, जीवनवृत्त, २०४—वेनी, २०५—सधना, २०६—रामानन्द, जीवन वृत्त, रामानन्द की हिन्दी रचनार्य, २०७—२०८—कबीर की भाषा, २०९—२१२—रैदास कवि परिचय, पद, प्रह्लादचरित, भाषा, २१३—२१५—पीपा, २१६—घन्या भगत, २१७—नानक—जीवन वृत्त, पंजाबी और ब्रज रचनाओं का निर्णय, २१८—२१९ ।

अन्य कवि

हरिदास निरञ्जनी, निरञ्जन सम्प्रदाय का परिचय, कवि, काल निर्णय, हस्तलेखों के आधार पर जन्मतिथि का निर्धारण—रचनार्य, भाषा, २१०—२२०—निम्बाके सम्प्रदाय के कवि, २२१—श्रीभट्ट, हरिव्यास देव और परशुराम देव का काल निर्धारण, २२२—विप्रमतीसी का लिपिकाल, परशुराम वाणी का रचनाकाल—परशुराम सागर की रचनार्य विप्रमतीसी से कबीर की इसी नाम की रचना का साम्य, काव्य और भाषा, २२२३—२५—तत्त्ववेत्ता, २२७—नरहरि भट्ट जीवन वृत्त रचना-काल-नरहरि भट्ट की भाषा—ध्वनि और रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ, २२८—२३४—मीराबाई, जीवन वृत्त सम्बन्धी शोध का निष्कर्ष, २३५—मीरा के गीतों की भाषा, २३६—रचनार्य, २३७—संगीतकार कवियों की रचनार्य—संगीत और ब्रजभाषा, २३८—खुसरो, जीवन वृत्त, रचनार्य भाषा, २३९—२४०—गोपाल नायक—काल निर्णय

पद रचना का आरम्भ, १६७—ग्वालियरी भाषा . क्या अलग भाषा थी—मिर्जा खा के व्याकरण में ग्वालियरी ब्रजभाषा के अन्तर्गत मानी गई, ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग, १६८—१७० ।

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

सघार अग्रवाल का प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११), १७१, कवि, परिचय, रचना, काव्य-वस्तु, १७२—१७३—जाधू मणियार का हरिचन्द पुराण (विक्रमी १४५३), १७४, रचनाकाल भाषा और साहित्य का परिचय १७५, विष्णुदास (संवत् १४६२), कवि परिचय, रचनायें और भाषा १७६—१७८, कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (वि० १५१६) हस्तलेख परिचय, रचनाकाल, आदि का विवरण, १७६, कथा-वस्तु १८०—१८१, डूंगर बावनी (वि० १५३८) १८२—१८३, मानिक कवि की बैताल पचीसी (विक्रमी १५४६) १८४—१८५, कवि ठक्कुरसी (विक्रमी १५५०) रचना भाषादि, १८६, छिताई वार्ता (विक्रमी १५५० के लगभग) रचनाकार, काल निर्णय, भाषा-साहित्य १८७—१८८, घेवनाथ की गीता-भाषा (विक्रमी १५५७) परिचय, १८९—१९०, चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५७ संवत् के लगभग) परिचय और काल निर्माण १९२, चतरुमल का नेमिश्चरगीत (संवत् १५७१), १९३—धर्मदास का घमोपदेश (संवत् १५७८), १९४—छोड़ल (१५७८) रचनाएँ, पञ्चसहेली और बावनी की प्रतियाँ काव्य भाषादि १९५—१९८—बाचक सहज सुन्दर का रतनकुमार रास (१८२ संवत्) १९९ ।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

गुरुग्रन्थ के ब्रज कवि, २००—नामदेव, कवि परिचय, रचनाकाल, रचनायें-भाषा २०१—२०२—त्रिलोचन, परिचय और रचना २०३—जयदेव, गुरु ग्रन्थ के पद, प्राकृतपैगलम् के पदों से इनकी भाषा की तुलना, जीवनवृत्त, २०४—बैनी, २०५—सघना, २०६—रामानन्द, जीवन वृत्त, रामानन्द की हिन्दी रचनायें, २०७—२०८—कबीर की भाषा, २०९—२१२—रैदास कवि परिचय, पद, प्रह्लादचरित, भाषा, २१३—२१५—पीपा, २१६—धन्ना भगत, २१७—नानक—जीवन वृत्त, पंजाबी और ब्रज रचनाओं का निर्णय, २१८—२१९ ।

अन्य कवि

हरिदास निरञ्जनी, निरञ्जन सम्प्रदाय का परिचय, कवि, काल निर्णय, हस्तलेखों के आधार पर जन्मतिथि का निर्धारण—रचनायें, भाषा, २१०—२२०—निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि, २२१—श्रीभट्ट, हरिव्यास देव और परशुराम देव का काल निर्धारण, २२२—विप्रमतीसी का लिपिकाल, परशुराम बाणो का रचनाकाल—परशुराम सागर की रचनायें विप्रमतीसी से कबीर की इसी नाम की रचना का साम्य, काव्य और भाषा, २२२३—२५—तत्त्ववेत्ता, २२७—नरहरि भट्ट जीवन वृत्त रचना-काल-नरहरि भट्ट की भाषा-ध्वनि और रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ, २२८—२३४—मीराबाई, जीवन वृत्त सम्बन्धी शोध का निष्कर्ष, २३५—मीरा के गीतों की भाषा, २३६—रचनायें, २३७—संगीतकार कवियों की रचनायें—संगीत और ब्रजभाषा, २३८—रुसरो, जीवन वृत्त, रचनायें भाषा, २३९—२४०—गोपाल नायक—काल निर्णय

के निर्धारित-लक्षण, संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश की कथाओं में अन्तर, प्राचीन ब्रजकथा-काव्य ३८७-३९०—रासक और रासो । रासक का विकसितशील अर्थ और स्वरूप, आलंकारिकों के लक्षण—मसृण रासक से लीला काव्यों का उद्भव-सन्देश, रासक और पृथ्वी राजरासो, ३९१-३९२ लीला काव्य: लक्षण और विकास लोकात्मक काव्य प्रकार,—नृत्य और गेयता—ब्रजभाषा के लीला काव्य, ३९३-३९५—षड्भूत और बारहमासा—शास्त्रीय और लौकिक पक्ष, उद्दीपन काव्य, संयोग और वियोगकी स्थितियोंसे इसके रूपका सम्बन्ध—पिंगल, ब्रज, गुजराती, मैथिली, राजस्थानीके बारहमासोंका सन्तुलनात्मक अध्ययन ३९६-३९८—बेलि-काव्य ३९९-४०० बावनी ४०१-०२—विप्रमतीसी ४०३—गेय मुक्तक—गीतियों के विकास का इतिहास, लक्षण, ब्रज में गेय पदों का स्वरूप ४०४-६—मंगल काव्य ४०७ ।

६. उपसंहार

भाषा और साहित्य के विवेचन से प्राप्त निष्कर्ष और उपलब्धियाँ । ४०८-१६

१०. परिशिष्ट

१४ वीं से १६ वीं विक्रमी शताब्दी में लिखी गई रचनाओंके हस्तलेखों से उद्धृत अंश ।

११. संदर्भ ग्रन्थ-सूची

के निर्धारित-लक्षण, संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश की कथाओं में अन्तर, प्राचीन ब्रजकथा-काव्य ३८७-३९०—रासक और रासो । रासक का विकसितशील अर्थ और स्वरूप, आलंकारिकों के लक्षण—मसृण रासक से लीला काव्यों का उद्भव-सन्देश, रासक और पृथ्वी राजरासो, ३९१-३९२ लीला काव्यः लक्षण और विकास लोकात्मक काव्य प्रकार,—नृत्य और गेयता—ब्रजभाषा के लीला काव्य, ३९३-३९५—षड्शतु और बारहमासा—शास्त्रीय और लौकिक पद्य, उद्दीपन काव्य, संयोग और वियोगकी स्थितियोंसे इसके रूपका सम्बन्ध—पिंगल, ब्रज, गुजराती, मैथिली, राजस्थानीके बारहमासोंका सन्तुलनात्मक अध्ययन ३९६-३९८—बेलि-काव्य ३९९-४०० बावनी ४०१-०२—विप्रमतीसी ४०३—गेय मुक्तक—गीतियों के विकास का इतिहास, लक्षण, ब्रज में गेय पदों का स्वरूप ४०४-६—मंगल काव्य ४०७ ।

६. उपसंहार

भाषा और साहित्य के विवेचन से प्राप्त निष्कर्ष और उपलब्धियाँ । ४०८-१६

१०. परिशिष्ट

१४ वीं से १६ वीं विक्रमी शताब्दी में लिखी गई रचनाओंके हस्तलेखों से उद्धृत अंश ।

११. संदर्भ ग्रन्थ-सूची

प्रास्ताविक

§ १. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ । ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया । भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से बंगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियों ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य प्रणयन का प्रयत्न भी किया । एक ओर महाप्रभु बल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद संज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयों ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की । डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (*Dialectos Praecipua*) कहा है । इसे वे मध्यदेश की आदर्श भाषा मानते हैं ।^१ श्रष्ट्याप के कवियों की रचनाओं का सौष्ठव और सौन्दर्य अप्रतिम था । उनके संगीतमय पदों से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गए । डा० चाटुर्जी ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के सदृश एक विदेशी विजेता के लिये जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक औत्सुक्य का प्रयोग-मात्र थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वामाविक

^१ It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the *dialectos praecipua* and may well be considered as typical of Midland Language on the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP 10

प्रास्ताविक

§ १. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से बंगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियों ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य प्रणयन का प्रयत्न भी किया। एक ओर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद संज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयों ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की। डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (*Dialectos Praecipua*) कहा है। इसे वे 'मध्यदेश की आदर्श भाषा मानते हैं'।^१ अष्टछाप के कवियों की रचनाओं का सौष्ठव और सौन्दर्य अप्रतिम था। उनके संगीतमय पदों से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गए। डा० चाटुर्जी ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के सदृश एक विदेशी विजेता के लिये जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक औत्सुक्य का प्रयोग-मात्र थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वामाविक

1 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the *dialectos praecipua* and may well be considered as typical of Midland Language on the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP 10

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।^१ वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि पृथ्वीराज रासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नहीं; जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'सदेहात्मक और विवादग्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डा० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्तन की व्यवस्था करने का सकल्प किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'^२ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नहीं कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वीं शताब्दी में प्रकाश में आई,'^३ हालांकि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकांश मात्रा में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हद तक पञ्जाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'^४ डा० प्रियर्सन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नहीं स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्दबरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पड़ते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य बिल्कुल अन्धकार में पड़ा हुआ है।'^५

§ ३ उपर्युक्त विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४ आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-सकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानों को प्राप्त थी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसको प्रामाणिकता सदिग्ध थी, इसलिए उसके परीक्षण का प्रश्न ही नहीं उठा। सन्तों की रचनाओं का भाषागत विवेचन नहीं हुआ, और उसे 'मिश्रित,' 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णतः अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा परम्परा छान्दस् या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी अग्नश तक प्रायः अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वीं शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस महती परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इस

१. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० २०

२. वही पृ० २१-२२

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १९५

४. वही पृ० १८६

५. Linguistic Survey of India Vol IX Part I P 71-73

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।^१ वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि पृथ्वीराज रासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नहीं; जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'सदेहात्मक और विषादग्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डा० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्तन की व्यवस्था करने का सकल्य किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'^२ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नहीं कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वीं शताब्दी में प्रकाश में आई,'^३ हालांकि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकांश मात्रा में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हद तक पञ्जाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'^४ डा० ग्रिफ़र्सन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नहीं स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्दबरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पड़ते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य बिल्कुल अन्धकार में पड़ा हुआ है।'

§ ३ उपर्युक्त विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४ आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-संकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानों को प्राप्त थी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसकी प्रामाणिकता सदिग्ध थी, इसलिए उसके परोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठा। सन्तों की रचनाओं का भाषागत विवेचन नहीं हुआ, और उसे 'मिश्रित,' 'सधुक्कड़ों' या 'खिचड़ी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णतः अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा परम्परा छान्दसू या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी श्रमश्रु तक प्रायः अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वीं शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस महती परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इस

१. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० २०

२. वही पृ० २१-२२

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १९५

४. वही पृ० १८६

5 Linguistic Survey of India Vol IX Part I P 71-73

गए । मुसलमानों के आक्रमण, मिश्रण और मेलजोल से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण १३ वीं शताब्दी के आसपास दिल्ली मेरठ की भाषा को ज्यादा तरजीह मिली और पंजाबी तथा खड़ी बोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नई भाषा फारसी शब्दों के साथ रेखता या 'हिंदवा' के नाम से चल पड़ी । किन्तु उस नई भाषा को परम्पराप्रिय जनता की आर से कोई बड़ा प्रस्ताहन न मिला । हिन्दुओं की सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानों प्रभाव से अस्पष्ट अन्य बालिया द्वारा ही होता रहा । ब्रजभाषा इनमें मुख्य थी जिसका साहित्य राजपूत दरबारों और धार्मिक संस्थानों द्वारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानों के आक्रमण का सबसे बड़ा प्रभाव इन सांस्कृतिक केन्द्रों पर ही हुआ, और यत्किंचित् साहित्य सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती थी, नष्ट हो गई । ईस्वी सन् की दसवीं और १४ वीं शताब्दी के बीच मध्यदेश में देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम मिलता है । इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा सकता है । किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं । डा० हजारिप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस अवकाश युग को प्रकाशित करने वाली ना भी सामग्री मिल जाये उसे सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है । क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की समावना लेकर आई है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की घड़कन ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के सतत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है ।'

अपभ्रंश भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकांश पश्चिमी अपभ्रंश का है । १३ वीं शताब्दी के आसपास के साहित्य में प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं । गुजरात देश की रचनाओंमें प्राचीन राजस्थानी के तत्व तथा सिद्धांत गानों (दाहों में नहीं) की भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है । फिर भी ६०० से १२०० तक का अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है । परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं में हम ब्रजभाषा के विकास बिंदु पा सकते हैं । बहुत से विद्वान् इन रचनाओं की भाषा को केवल शौरसेनी अपभ्रंश नाम के आधार पर ही ब्रजभाषा (शौरसेनी भाषा) से सम्बद्ध नहीं मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्वों की दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधारण कहा जायेगा । आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है ।

ग्यारहवीं शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दाहे हैं । गुलेरी जी ने बहुत पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग २ अंक ५ में हेमचन्द्र के दाहों तथा इसी तरह के कुछ अन्य फुटकल दाहों का संकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया । गुलेरी जी ने जब इस संग्रह को प्रस्तुत किया था तब इनके आधार ग्रंथों का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक संपादन हुआ था और न तो इनके भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का कोई विवेचन ही किया गया था । गुलेरी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन दोहों में पुरानी हिन्दी के भाषा-तत्वों को छँदने का प्रयत्न किया । अपभ्रंश की जा भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गंभीर अध्ययन उन्होंने किया था और यही कारण है कि उन्होंने इन दाहों की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न

गए। मुसलमानों के आक्रमण, मिश्रण और मेलजोल से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण १३ वीं शताब्दी के आसपास दिल्ली मेरठ की भाषा को ज्यादा तरजीह मिली और पंजाबी तथा खड़ी बोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नई भाषा फारसी शब्दों के साथ रेखता या 'हिंदवा' के नाम से चल पड़ी। किन्तु उस नई भाषा को परम्पराप्रिय चेतना की आर से कोई बड़ा प्रस्ताहन न मिला। हिन्दुओं की सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानों प्रभाव से अस्पष्ट अन्य बालिया द्वारा ही होता रहा। ब्रजभाषा इनमें मुख्य थी जिसका साहित्य राजपूत दरबारों और धार्मिक संस्थानों द्वारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानों के आक्रमण का सबसे बड़ा प्रभाव इन सांस्कृतिक केन्द्रों पर ही हुआ, और यत्किंचित् साहित्य सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती थी, नष्ट हो गई। ईस्वी सन् की दसवीं और १४ वीं शताब्दी के बीच मध्यदेश में देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा सकता है। किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस अवकाश युग को प्रकाशित करने वाली ना भी सामग्री मिल जाये उसे सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है। क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन ही नहीं, केवल सुरक्षित चित्त के सत्य और सुचिन्तित वाक्पाठ्य का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी हाती है।'

अपभ्रंश भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकांश पश्चिमी अपभ्रंश का है। १३ वीं शताब्दी के आसपास के साहित्य में प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं। गुजरात देश की रचनाओंमें प्राचीन राजस्थानी के तत्व तथा सिद्धांत गानों (दाहों में नहीं) की भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी ६०० से १२०० तक का अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है। परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं में हम ब्रजभाषा के विकास बिंदु पा सकते हैं। बहुत से विद्वान् इन रचनाओं की भाषा को केवल शौरसेनी अपभ्रंश नाम के आधार पर ही ब्रजभाषा (शौरसेनी भाषा) से सम्बद्ध नहीं मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्वों की दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधारण कहा जायेगा। आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दाहे हैं। गुलेरी जी ने बहुत पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग २ अंक ५ में हेमचन्द्र के दाहों तथा इसी तरह के कुछ अन्य फुटकल दाहों का संकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया। गुलेरी जी ने जब इस संग्रह को प्रस्तुत किया था तब इनके आधार ग्रंथों का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक संपादन हुआ था और न तो इनके भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का कोई निवेदन ही किया गया था। गुलेरी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन दाहों में पुरानी हिन्दी के भाषा-तत्वों को छूटने का प्रयत्न किया। अपभ्रंश की जा भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गंभीर अध्ययन उन्होंने किया था और यही कारण है कि उन्होंने इन दाहों की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न

ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओं के समी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्भिन्न ही हो पाए हैं। उत्तर भारत में इन दिनों संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रबल भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डा० तेसीतोरों ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ठ और पिंगल नाम से साहित्यिक अपभ्रंश का ही एक कनिष्ठ रूप प्रचलित था जिसकी आत्मा मूलतः नव्य भाषाओं से अनुप्राणित थी किन्तु जिसपर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रों में कोई महत्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, कीर्तिरत्ना के कुछ प्रयोगों और बौद्ध सिद्धों के कतिपय गीतों की भाषा के आधार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ और पिंगल ब्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विवरण तीसरे अध्याय 'संक्रान्ति-कालीन ब्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा की दोनों शैलियों, अवहट्ठ शैली तथा पिंगल या चारण शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ठ चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नहीं मिलते जैसा कि पिङ्गल रचनाओं की भाषा में, फिर भी अवहट्ठ ब्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अवहट्ठ की रचनाओं में प्राकृत पिंगलम्, सन्देशरासक, कीर्तिरत्ना, नेमिनाथ चौपई, धूलिमदफागु आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में ब्रजभाषा के बीजाक्षर वर्तमान हैं। पिङ्गल की प्रामाणिक रचनाओं में श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द, प्राकृतपिंगलम् के हम्मीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद गृहीत होते हैं। पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक छप्पयों की भाषा तथा परवर्ती सत्वरणों की भाषा की मुख्य विशेषताएँ तथा इनमें समुपलब्ध ब्रजभाषा के तत्वों का विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

§ ८. संक्रान्तिकाल (१२वीं-१४वीं) में उपर्युक्त अवहट्ठ और पिङ्गल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त ब्रजभाषा के बोलचाल के रूप की भी कल्पना की जा सकती है। पिङ्गल या अवहट्ठ जन सामान्य की भाषायें नहीं थीं। पिङ्गल और अवहट्ठ उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थीं अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। ब्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली ब्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वीं १६वीं के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक का अर्थ है उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थों में तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिये हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नहीं है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिसमें तीन उक्ति-ग्रन्थ संकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनाएँ संक्रान्तिकालीन देश्य भाषा रूपों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशी में हुई है, मुग्धावबोध की गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के संतुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक ब्रजभाषा अर्थात् बोलचाल की ब्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रायः दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओं के समी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्भिन्न ही हो पाए हैं। उत्तर भारत में इन दिनों संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रबल भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डा० तेसीतोरों ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ठ और पिंगल नाम से साहित्यिक अपभ्रंश का ही एक वनिष्ठ रूप प्रचलित था जिसकी आत्मा मूलतः नव्य भाषाओं से अनुप्राणित थी किन्तु जिसपर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रों में कोई महत्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, कीर्तिरत्ना के कुछ प्रयोगों और बौद्ध सिद्धों के कतिपय गीतों की भाषा के आधार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ और पिंगल ब्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विवरण तीसरे अध्याय 'संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा की दोनों शैलियों, अवहट्ठ शैली तथा पिंगल या चारण शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ठ चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नहीं मिलते जैसा कि पिङ्गल रचनाओं की भाषा में, फिर भी अवहट्ठ ब्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अवहट्ठ की रचनाओं में प्राकृत पिंगलम्, सन्देशरासक, कीर्तिरत्ना, नेमिनाथ चौपई, धूलिमहपागु आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में ब्रजभाषा के बीजाक्षुर वर्तमान हैं। पिङ्गल की प्रामाणिक रचनाओं में श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द, प्राकृतपिंगलम् के हम्मीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद गृहीत होते हैं। पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक छुप्पों की भाषा तथा परवर्ती सत्वरणों की भाषा की मुख्य विशेषताएँ तथा इनमें समुपलब्ध ब्रजभाषा के तत्वों का विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

§ ८. संक्रान्तिकाल (१२वीं-१४वीं) में उपर्युक्त अवहट्ठ और पिङ्गल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त ब्रजभाषा के बोलचाल के रूप को भी कल्पना की जा सकती है। पिङ्गल या अवहट्ठ बन सामान्य की भाषायें नहीं थीं। पिङ्गल और अवहट्ठ उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थीं अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। ब्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली ब्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वीं १६वीं के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक का अर्थ है उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थों में तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिये हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नहीं है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिसमें तीन उक्ति-ग्रन्थ संकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनाएँ संक्रान्तिकालीन देश्य भाषा रूपों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशी में हुई है, मुग्धावबोध का गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के संतुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक ब्रजभाषा अर्थात् बोलचाल की ब्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रायः दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

इयत्ता मान ली जाती है। आचार्य शुक्ल ने सन्तों की भाषा के सिलसिले में इस 'सधुकड़ी' शब्द को बार-बार प्रयुक्त किया है। डा० रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में निर्गुणसत्त-काव्य की भाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं 'सन्त काव्य की भाषा बहुत अपरिष्कृत है। सन्त काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है, पूर्वा हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी।'^१ मुख्य भाषा क्या थी, इसकी चर्चा नहीं की गई, प्रभाव अवश्य बताया गया। वस्तुतः सन्तों की भाषा को समझने के लिए हमें सम्पूर्ण उत्तर भारत की तात्कालिक भाषा स्थिति को समझना होगा। सन्तों के पहले एक सुनिश्चित काव्य भाषा थी अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश जो बाद में विकसित होकर ब्रजभाषा के प्राचीन रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई पिंगल उस काल की सर्वव्यापक साहित्य भाषा थी। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों द्वारा गृहीत हुआ। पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।'^२ वस्तुतः यह पिंगल सम्पूर्ण उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में व्याप्त हो गया था। पिंगल को ही तासी हिन्दुई कहते हैं। पिंगल या प्राचीन ब्रजभाषा के साथ-साथ दिल्ली, मेरठ की पश्चिमी हिन्दी, पञ्जाबी के प्रभाव के साथ फारसी शब्दों के संमिश्रण से 'रेखता' भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी जो बाद में काफी प्रचलित और व्यापक भाषा हो गई। सन्तों का साहित्य इन दोनों भाषाओं में लिखा गया है। मिश्रण, खिचड़ी, या सधुकड़ी विशेषण 'रेखता' में लिखे साहित्य की भाषा को ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसी में खड़ी, पञ्जाबी, राजस्थानी और फारसी का मिश्रण हुआ था। रेखता का अर्थ ही मिश्रण होता है। काव्यभाषा पिंगल अथवा पुरानी ब्रजभाषा का साहित्य अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध भाषा में है, क्योंकि इसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी, यह भाषा काफी सशक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी।

§ ११. ब्रजभाषा के आरम्भिक विकास को समझने के लिए सन्त साहित्य की भाषा पर विचार होना चाहिए। सन्तों की रचनाओं का सबसे पुराना लिखित रूप गुरुग्रन्थ (१६६१ विक्रमी) में उपलब्ध होता है। गुरुग्रन्थ की रचनाओं में दोनों शैलियों की हिन्दी-कविताएँ संकलित हैं। ब्रजभाषा कविताओं की संख्या भी काफी है करीब ५० प्रतिशत। गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं में ब्रजभाषा का काफी प्राचीन रूप सुरक्षित है। नामदेव की ब्रजभाषा सूरदास की ब्रजभाषा से स्पष्टतः पुरानी मालूम होती है। बहुत से विद्वान् सन्तों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त नामदेव की भाषा को सूरदास की भाषा की पूर्वपीठिका तो मानते हैं किन्तु उनके मत से 'इस भाषा के नामदेव-कृत होने में सन्देह है, कदाचित् ब्रजभाषा की मौखिक परम्परा ने उसे इस प्रकार की भाषा का रूप दे दिया।'^३ नामदेव की भाषा को सूरदास और कुम्भनदास की भाषा की पृष्ठभूमि मानते हुए भी डा० गुप्त एक मौखिक परम्परा की कल्पना करते हैं। यह समझ में नहीं आता कि वे नामदेव को इस प्रकार की भाषा का लेखक मानने में कौन-सा दोष देखते हैं। कदाचित्

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, मृ० सं० १९५४, पृ २६७

२. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४६ ईस्वी पृ० ६५

३. अष्टाक्षर और ध्वनि सम्प्रदाय, पृष्ठ १६

इयत्ता मान ली जाती है। आचार्य शुक्ल ने सन्तों की भाषा के सिलसिले में इस 'सधुकडी' शब्द को बार-बार प्रयुक्त किया है। डा० रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में निर्गुणसत्त-काव्य की भाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं 'सन्त काव्य की भाषा बहुत अपरिष्कृत है। सन्त काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है, पूर्ण हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी।'^१ मुख्य भाषा क्या थी, इसकी चर्चा नहीं की गई, प्रभाव अवश्य बताया गया। वस्तुतः सन्तों की भाषा को समझने के लिए हमें सम्पूर्ण उत्तर भारत की तात्कालिक भाषा स्थिति को समझना होगा। सन्तों के पहले एक सुनिश्चित काव्य भाषा थी अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश जो बाद में विकसित होकर ब्रजभाषा के प्राचीन रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। पिंगल उस काल की सर्वव्यापक साहित्य भाषा थी। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों द्वारा गृहीत हुआ। पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।'^२ वस्तुतः यह पिंगल सम्पूर्ण उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में व्याप्त हो गया था। पिंगल को ही तासी हिन्दुई कहते हैं। पिंगल या प्राचीन ब्रजभाषा के साथ-साथ दिल्ली, मेरठ की पश्चिमी हिन्दी, पञ्जाबों के प्रभाव के साथ फारसी शब्दों के संमिश्रण से 'रेखता' भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी जो बाद में काफी प्रचलित और व्यापक भाषा हो गई। सन्तों का साहित्य इन दोनों भाषाओं में लिखा गया है। मिश्रण, लिचडी, या सधुकडी विशेषण 'रेखता' में लिखे साहित्य की भाषा को ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसी में खड़ी, पञ्जाबी, राजस्थानी और फारसी का मिश्रण हुआ था। रेखता का अर्थ ही मिश्रण होता है। काव्यभाषा पिंगल अथवा पुरानी ब्रजभाषा का साहित्य अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध भाषा में है, क्योंकि इसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी, यह भाषा काफी सशक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी।

§ ११. ब्रजभाषा के आरम्भिक विकास को समझने के लिए सन्त साहित्य की भाषा पर विचार होना चाहिए। सन्तों की रचनाओं का सबसे पुराना लिखित रूप गुरुग्रन्थ (१६६१ विक्रमी) में उपलब्ध होता है। गुरुग्रन्थ की रचनाओं में दोनों शैलियों की हिन्दी-कविताएँ संकलित हैं। ब्रजभाषा कविताओं की संख्या भी काफी है करीब ५० प्रतिशत। गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं में ब्रजभाषा का काफी प्राचीन रूप सुरक्षित है। नामदेव की ब्रजभाषा सूरदास की ब्रजभाषा से स्पष्टतः पुरानी मालूम होती है। बहुत से विद्वान् सन्तों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त नामदेव की भाषा को सूरदास की भाषा की पूर्वपीठिका तो मानते हैं किन्तु उनके मत से 'इस भाषा के नामदेव-कृत होने में सन्देह है, कदाचित् ब्रजभाषा की मौखिक परम्परा ने उसे इस प्रकार की भाषा का रूप दे दिया।'^३ नामदेव की भाषा को सूरदास और कुम्भनदास की भाषा की पृष्ठभूमि मानते हुए भी डा० गुप्त एक मौखिक परम्परा को कल्पना करते हैं। यह समझ में नहीं आता कि वे नामदेव को इस प्रकार की भाषा का लेखक मानने में कौन-सा दोष देखते हैं। कदाचित्

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, मृ० सं० १९५४, पृ २६७

२. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४६ ईस्वी पृ० ६५

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ १६

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय संगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियों के साथ फारसी संगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी-फारसी के तीन हजार शब्दों का कोश प्रस्तुत किया गया है। ब्रजभाषा की कविताओं को समझने के लिए ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का सक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में उपस्थित किया। फारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानों को दृष्टि में रखकर मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन ढंग से विचार किया है। ध्वनियों के अध्ययन में मिर्जा खाँ का श्रम प्रशंसनीय है, किन्तु जैसा डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानों पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खाँ 'द' को दाल इ-सर्फा अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'ध' को दाल इ-सर्फीन यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। उसी तरह 'ड' को 'डाल इ-मुश्कला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ढ' को डाल इ-अस्कल अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनियमित और अनिश्चित मात्रा बोध कराने हैं। फिर भी मिर्जा खाँ का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओं के ध्वनि तत्त्व के अध्ययन में बहुत बड़ा योगदान है। मिर्जा खाँ ने व्याकरणिक शब्दों (Grammatical terms) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग में आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए कर्तव (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविष्य (Future) क्रिया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताए गए हैं।

ब्रजभाषा का दूसरा व्याकरण बानू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पादार अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त सक्षिप्त रीति से ब्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियों पर लिखा यह छन्द देखें :

देव जो सो सुखो देव जे हैं से पूननोय
देव को नमत पूजें देवन के मति सित
देव सों मिलाप मेरो देवन सो रमें मन
देव को सुदीनों चित्त देवन को गृह वित
देव तें न दूजो साथी देवन सों बडो हू न
देव को रसिक दास देवन कौन गुन हित
देव में विरति नति देवन में सतगति
करो कृपा हे देव हे देवन द्रवो नित

व्याकरणिक नियमों का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु उसमें व्याकरण की चारीकी नहीं है। फिर भी १६ वीं शताब्दी में लिखे जाने के कारण इस व्याकरण का महत्त्व निःसंदिग्ध है।

§ १४ ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही योरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८८८ ईस्वी में लल्हू जी लाल ने ब्रजभाषा के कारक विभक्तियों और क्रियाओं पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में ब्रजभाषा-क्षेत्र की भी चर्चा हुई। लल्हू जी लाल के मत से ब्रजभाषा ब्रजमंडल, ग्वालियर, भरतपुर रिया

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय सगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियों के साथ फारसी सगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी-फारसी के तीन हजार शब्दों का कोश प्रस्तुत किया गया है। ब्रजभाषा की कविताओं को समझने के लिए ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का सक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में उपस्थित किया। फारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानों को दृष्टि में रखकर मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन दृष्टि से विचार किया है। ध्वनियों के अध्ययन में मिर्जा खाँ का श्रम प्रशंसनीय है, किन्तु जैसा डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानों पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खाँ 'द' को दाल इ एफ़ा अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'ध' को दाल इ-सर्ज़ीन यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। उसी तरह 'ड' को 'डाल इ-मुश्कला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ढ' को दाल इ अस्कल अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनियमित और अनिश्चित मात्रा बोध कराने हैं। फिर भी मिर्जा खाँ का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओं के ध्वनि तत्त्व के अध्ययन में बहुत बड़ा योगदान है। मिर्जा खाँ ने व्याकरणिक शब्दों (Grammatical terms) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग में आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए कर्तव्य (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविष्य (Future) क्रिया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताए गए हैं।

ब्रजभाषा का दूसरा व्याकरण बाबू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पादार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त सक्षिप्त रीति से ब्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियों पर लिखा यह छन्द देखें :

देव जो सो सुखो देव जे हैं से पूजनोय
 देव को नमत पूजो देवन के मति मित
 देव सों मिलाप मेरो देवन सों रमें मन
 देव को सुदीनां चित्त देवन को गृह वित
 देव तें न दूजो साधी देवन सों बडो हू न
 देव को रसिक दास देवन कौन गुन हित
 देव में विरति नति देवन में सतगति
 करो कृपा हे देव हे देवन द्रवो नित

व्याकरणिक नियमों का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु उसमें व्याकरण की शारीकी नहीं है। फिर भी १६ वीं शताब्दी में लिखे जाने के कारण इस व्याकरण का महत्त्व निःसंदिग्ध है।

§ १४ ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही योरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८८८ ईस्वी में लल्लू जी लाल ने ब्रजभाषा के कारक विभक्तियों और क्रियाओं पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में ब्रजभाषा-क्षेत्र की भी चर्चा हुई। लल्लू जी लाल के मत से ब्रजभाषा ब्रजमंडल, ग्वालियर, भरतपुर रियासत,

आधारित थी। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'आन माडर्न इंडोआर्यन वर्नोक्यूल्स' में भी व्रजभाषा पर प्रसंगवश कहीं कहीं विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई योरोपीय भाषावैज्ञानिकों ने अवान्तर रूपसे, भारतीय भाषाओं के अध्ययन के सिलसिले में व्रजभाषा पर विचार किया। वीम्स ने अलग से प्रची राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा।^१ जिसमें व्रजभाषा के प्राचीन रूपपर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हार्नले, तेसीतोरी आदि ने भी व्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डा० केलग ने हिन्दी व्याकरण में व्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलग ने व्रजभाषा अध्ययन का मुख्य आधार लल्लू जी लाल की 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रहीं हैं। व्रजभाषा की विशेषताओं का निर्धारण केलग ने इन्हीं पुस्तकों की भाषा के आधार पर किया। केलग ने परसर्गों, क्रियाओं, सर्वनामों और विभक्तियों की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। १८७५ ईस्वी में केलग का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो आज तक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में व्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विकीर्ण रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु व्रजभाषा के सन्तुलित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। वैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'विहारोत्पाकर' में कवियर रत्नाकर ने व्रजभाषा की कुछ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'व्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्वपूर्ण और काम की चीज है। व्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य डा० धीरेन्द्र वर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डॉ० लिट् उपाधि के लिए व्रजभाषा पर 'ला लाग व्रज' नाम से प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५४ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। व्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में कुछेक को छोड़कर बाकी सभी व्याकरण की सीमा में ही बंधे हुए थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्व प्रथम इस महत्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक को सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन व्रजभाषा (१६वीं-१८वीं) तथा आधुनिक औत्तिक व्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बड़े परिश्रम से व्रजप्रदेश के हिस्सों से भिन्न बोलियों के रूप वहाँ के लोगों के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक व्रज और बोलचाल की व्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किसी भी भाषा-अनुसन्धित्सु के लिए परिशिष्ट में संकलित बोलियों के उद्धरणों और अन्त में सङ्गठित शब्द-सूची का महत्व निर्विवाद है।

व्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का विवरण देखकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास के पहले व्रजभाषा का यदि शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित हो सके तो वह निश्चय ही टूटी हुई ऋद्धि जोड़ने में सहायक होगा और १६ वीं शताब्दी से बाद की व्रजभाषा के अध्ययन का पूरक हो सकेगा।

आधारित थी। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'आन माडर्न इंडोआर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी ब्रजभाषा पर प्रसंगवश कहीं कहीं विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई योरोपीय भाषावैज्ञानिकों ने अवान्तर रूपसे, भारतीय भाषाओं के अध्ययन के तिलसिले में ब्रजभाषा पर विचार किया। वीम्स ने अलग से प्रन्वी राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा।^१ जिसमें ब्रजभाषा के प्राचीन रूपपर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हानेले, तेसीतोरी आदि ने भी ब्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डा० केलग ने हिन्दी व्याकरण में ब्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलग के ब्रजभाषा अध्ययन का मुख्य आधार लल्लू जी लाल को 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रही हैं। ब्रजभाषा की विशेषताओं का निर्धारण केलग ने इन्हीं पुस्तकों की भाषा के आधार पर किया। केलग ने परसों, क्रियाओं, सर्वनामों और विभक्तियों की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। १८७५ ईस्वी में केलग का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो आजतक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में ब्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विकीर्ण रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु ब्रजभाषा के सन्तुलित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। वैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'विहारोदयाकर' में कविवर रत्नाकर ने ब्रजभाषाकी कुछ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'ब्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्वपूर्ण और काम की चीज है। ब्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य डा० धीरेन्द्रवर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डॉ० लिट् उपाधि के लिए ब्रजभाषा पर 'ला लाग ब्रज' नाम से प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५४ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। ब्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में बुल्लेक को छोड़कर बाकी सभी व्याकरण की सीमा में ही बंधे हुए थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्व प्रथम इस महत्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक को सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन ब्रजभाषा (१६वीं-१८वीं) तथा आधुनिक औत्तिक ब्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बड़े परिश्रम से ब्रजप्रदेश के हिस्सों से भिन्न बोलियों के रूप वहाँ के लोगों के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक ब्रज और बोलचाल की ब्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किसी भी भाषा-अनुसन्धित्सु के लिए परिशिष्ट में संकलित बोलियों के उद्धरणों और अन्त में सङ्गन विस्तृत शब्द-सूची का महत्व निर्विवाद है।

ब्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का विवरण देखकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास के पहले ब्रजभाषा का यदि शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित हो सके तो वह निश्चय ही टूटी हुई झड़ी जोड़ने में सहायक होगा और १६ वीं शताब्दी से बाद की ब्रजभाषा के अध्ययन का पूरक हो सकेगा।

ध्रुपद और निष्पुनर गानों में लौकिक शृंगार के वर्ण विषयों को आध्यात्मिक ढंग से समझने की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओं के कतिपय अंश उद्धृत किये हैं (देखिये §२४५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।

§ १६ १४वीं से १६वीं तक के साहित्य का विवेचन सैद्धान्तिक ऊहापोह के रूप में तो बहुत हुआ है, खासतौर से सिद्ध-सन्तों के साहित्य को समझने के लिए पूरा तन्त्र-साहित्य, हठयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का सर्वांग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ सौ तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अभूत पूर्व विकास शौरसेनी अभ्रश में दिखाई पड़ता है तथा जिसका परवर्ती विकास बनारसीदास जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओं में मिलता है, इस काल में अन्धकार में पड़ा रह जाता है। कबीर या अन्य सत्तों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रभाव को हूँदने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन सत्तों के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमसाख्यानक काव्यों की परम्परा का मतलब ही अन्धवी काव्य लगाया जाने लगा है। अन्धवी में भी प्रेमसाख्यानक का क्षेत्र सारी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमसाख्यानक काव्यों का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमसाख्यानकों की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है। इस प्रेमसाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सारी सत्तों ने नहीं किया। यह मूलतः भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जयसी के पहले के कई प्रेमसाख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छित्ताई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनों हिन्दू पद्धति के प्रेमसाख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००-१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रूढ़ियों और तन्मूर्त लोक उपादानों को समझने के लिए न केवल रासो काव्यों का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यों की भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी संवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्गत वस्तु-तत्त्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल विवाहलो, वेलि, विलास आदि काव्य रूपों का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नहीं।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस दृष्टी हुई कड़ी के न होने से कई प्रकार की गुत्थियाँ सामने आती हैं। उदाहरण के लिए अष्टद्वार के कवियों की लौकिक प्रेमव्यञ्जना और दोहे

ध्रुपद और निष्पुन्द गानों में लौकिक शृंगार के वर्ण विषयों को आध्यात्मिक ढंग से समझने की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओं के कतिपय अंश उद्धृत किये हैं (देखिये §२४५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।

§ १६ १४वीं से १६वीं तक के साहित्य का विवेचन सैद्धान्तिक ऊहापोंह के रूप में तो बहुत हुआ है, खासतौर से सिद्ध-सन्तों के साहित्य को समझने के लिए पूरा तन्त्र-साहित्य, हठयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का समांग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ सौ तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अभूत पूर्व विकास शौरसेनी अवधूत में दिखाई पड़ता है तथा जिसका परवर्ती विकास बनारसीदास जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओं में मिलता है, इस काल में अन्वकार में पड़ा रह जाता है। कबीर या अन्व सतों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रभाव को हूँदने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन सतों के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमख्यानक काव्यों की परम्परा का मतलब ही अवधी काव्य लगाया जाने लगा है। अवधी में भी प्रेमख्यानक का क्षेत्र सूफी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमख्यानक काव्यों का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमख्यानकों की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है। इस प्रेमख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सूफी सतों ने नहीं किया। यह मूलतः भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जायसी के पहले के कई प्रेमख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छित्ताई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनों हिन्दू पद्धति के प्रेमख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००-१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रुढ़ियों और तन्त्रगृहीत लोक उपादानों को समझने के लिए न केवल रासो काव्यों का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यों की भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी संवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्गत वस्तु-तत्त्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल विवाहलो, वेलि, विलास आदि काव्य रूपों का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नहीं।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस दृष्टी हुई कड़ी के न होने से कई प्रकार की गुरतियाँ सामने आती हैं। उदाहरण के लिए अष्टछाप के कवियों की लौकिक प्रेमव्यञ्जना और दोहे

ब्रजभाषा का विषय :

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८. मध्यप्रदेश^१ ब्रजभाषा की उद्गम भूमि है। गंगा-यमुना के काठे में अवस्थित यह प्रदेश अपना महान् सांस्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है। भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

१. मध्यदेश मूलतः गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश—

(क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्य यः प्राग्विनशनादपि ।

प्रत्यगैव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ [मनुस्मृति २।२१]

(ख) विनय पिंग्क, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कज्जल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।

(ग) गरुड पुराण (१।१५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वरूप, कुल्ल, कुतल, कार्शी, कोशल, अथर्व, अर्कलिंग, मलय और वृक सम्मिलित किये गए हैं।

(घ) सूत्र साहित्य के उल्लेखों के विषय में दृष्टव्य है कि का. चैत्रिक दृष्टेयः ।

(ङ) कामसूत्र का जयमंगल टीका में टीकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ठ का यह मत उद्धृत किया है। [गंगा-यमुनायोरित्येके, टीका २।५।२१]

(च) फाह्यान, अलबेरुनी तथा अन्य इतिहासकारों के मतों के लिए देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, सख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित।

२ (१) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद्भ्रजन्मनः ।

स्व स्व चरित्र शिक्षेरन्पृथिव्या सर्वमानवाः ॥ [अनु० २।२०]

व्रजभाषा का स्थिति :

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८. मध्यप्रदेश^१ व्रजभाषा की उद्गम भूमि है। गंगा-यमुना के काठे में अवस्थित यह प्रदेश अपना महान् सांस्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्त्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है। भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

१. मध्यदेश मूलतः गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश—

(क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्य यन्प्राग्निनशनादपि ।

प्रत्यगेषु प्रयागाच्च मध्यदेश प्रकीर्तितः ॥ [मनुस्मृति २।२१]

(ख) विनय पत्रिक, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कजगल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।

(ग) गरुड पुराण (१।१५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वत्थ, कुल, कुतल, काशी, कोशल, अथर्व, अर्कलिंग, मलय और वृक सम्मिलित किये गए हैं।

(घ) सूत्र साहित्य के उल्लेखों के विषय में द्रष्टव्य डा० काथ का वैदिक इंडेक्स।

(ङ) कामसूत्र का जयमंगला टीका में टीकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ठ का यह मत उद्धृत किया है। [गंगायमुनयोरित्येके, टीका २।५।२१]

(च) फाह्यान, अलबेरुनी तथा अन्य इतिहासकारों के मतों के लिए देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, सख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित।

२ (१) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद्व्रजजन्मनः ।

स्व स्व चरित्र शिष्टैरनृधिव्या सर्वमानवा ॥ [मनु० २।२०]

मितानी जातियों और उनके जनों के साथ स्थापित किया जाता है।^१ हत्ती भाषा वस्तुतः मूल आर्य भाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इंदो आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नहीं कहा जा सकता। भारतीय आर्य भाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्य भाषा से है जो अफगानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सों में विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें जरठोष्ट्र धर्म के प्राचीन मंत्र संकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भाषा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।^२ ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कबीले सप्तसिन्धु में पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुमा और स्वात नदियों से लेकर पूरब में गंगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मंत्रों का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिन्धु या पचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मंत्र-राशि का कुछ अंश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हों।^३ किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों के मंत्र निःसन्देह गंगा-यमुना के काठे में बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होंने वैदिक धर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को क्रमवद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मंत्रों को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनों ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, संस्कृति और सम्यक्ता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणों और आभिजात्य राजानों ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस पास के लोगों को प्रभावित किया और मध्यदेश की तद्वर्गीय और सम्यक्ता को पूरब में काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागों में भी प्रसारित किया।'^४ मध्यदेशीय आर्यों की भाषा की शुद्धता का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है^५ किन्तु यह बाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का संकेत है। वस्तुतः वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।^६ यह मान्यता साधारण भी कही

१ H R Hall Ancient History of Near East 1913 pp 201, and Cambridge History of India vol I chapter III

२. अवेस्ता और ऋग्वैदिक मंत्रों की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य : इन्दो आर्यन ऐंड हिन्दी, पृ० ४८, ५६ तरापोरवाला एलिमेंट्स आव दि साइन्स आव लैंग्वेज पृ० ३०१-२४, पृ० बी० डब्ल्यू जैक्सन कृत अवेस्ता प्रेमर'

३. अवेस्ता के ईरानी आर्य मंत्रों और ऋतुओं या उन्सवों पर गाये जाने वाले वैदिक सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'ऐसे आन दी सेक्ड लैंग्वेज, राइटिंग्स ऐंड रिलीजन्स आव पारसोज़ ऐंड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य

४ Origin and Development of Bengali Language 1926 P 39

५. यजुः संहिता २।२०

६. तस्मात् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते उदञ्च एव यन्ति वाचम् शिञ्चितम् यो वा तत् भागच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति (सांख्यायन या कोशीतकि ब्राह्मण ७।६)।

मितानी जातियों और उनके जनो के साथ स्थापित किया जाता है।^१ इत्ती भाषा वस्तुतः मूल आर्य भाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इन्दो आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नहीं कहा जा सकता। भारतीय आर्य भाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्य भाषा से है जो अफगानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सों में विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें जरठोष्ट्र धर्म के प्राचीन मन्त्र संकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भाषा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।^२ ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कच्चीले सप्तसिन्धु में पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुमा और स्वात नदियाँ से लेकर पूरब में गंगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मन्त्रों का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिन्धु या पचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मन्त्र-राशि का कुछ अंश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हों।^३ किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों के मन्त्र नि सन्देह गंगा-यमुना के काँठे में बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होंने वैदिक धर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को क्रमवद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मन्त्रों को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनों ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, संस्कृति और सभ्यता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणों और आमिजात्य राजान्यों ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस पास के लोगों को प्रभावित किया और मध्यदेश की तहजीब और सभ्यता को पूरब में काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागों में भी प्रसारित किया।'^४ मध्यदेशीय आर्यों की भाषा को शुद्धता का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है^५ किन्तु यह वाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का सकेत है। वस्तुतः वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।^६ यह मान्यता साधारण भी कही

1 H R Hall Ancient History of Near East 1913 pp 201 and Cambridge History of India vol I Chapter III

२. अवेस्ता और ऋग्वैदिक मन्त्रों की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य : इन्दो आर्यन ऐंड हिन्दी, पृ० ४८, ५६ तारापोरवाला एलिमेंट्स आव दि साइन्स आव लैंग्वेज पृ० ३०१-२४, पृ० बी० डब्ल्यू जैक्सन कृत अवेस्ता ग्रेमर'

३. अवेस्ता के ईरानी आर्य मन्त्रों और ऋतुभा या उसवों पर गाये जाने वाले वैदिक सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'ऐसे आन दी सेक्ड लैंग्वेज, राइटिंग ऐंड रिलीजन्स आव पारसोज़ ऐंड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य

4 Origin and Development of Bengali Language 1926 P 39

५ यजुः संहिता २।२०

६ तस्मात् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते उदञ्च एव यन्ति वाचम् शिचित्तम् यो वा तत् भागच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति (सारयायन या कोशीतकि ब्राह्मण ७।६)।

१. बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर पश्चिमी तथा पूरव की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए तथा उ वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर ह्रत हो गए हैं। जैसे काश्मीरी अलि, सिंधी अलि, बिहारी औलि किन्तु हिन्दी आलि। २-बहिर्वर्ती भाषाओं विशेषतर पूर्वी भाषाओं में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्तमान है, मध्यदेशीय में नहीं। ३-अइ > ऐ तथा अउ > ऐ बाहरी शाखा की पूर्वी भाषाओं में विभूत 'ए' तथा 'ओ' के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ४-संस्कृत के च् ज् पूर्वी भाषाओं में त्स-स् तथा द्ज-ज् में बदल आते हैं। ५-रू त्स, तथा ड, ङ के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बहि. शाखाओं में स्पष्ट मान्य हो जाती है। ६-पूरव तथा पश्चिम की बहिः भाषाओं में द् ड् परस्पर विनिमेय है किन्तु मध्यदेशीय में नहीं। ७-बाहरी भाषाओं में म्य > म तथा भीतरी में म्व > व में उदलता है। ८-रू का बाहरी शाखाओं में लोप हो गया है, पश्चिमी हिन्दी में यह वर्तमान है। ९-स्वर मध्यग स > ह् में परिवर्तन बाहरी में ही दिखाई पड़ता है। १०-श, ष, स् > श् के रूप मागधी में दिखाई पड़ता है। ११-महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण में परिवर्तन के आधार पर भी यह भिन्नता स्पष्ट होती है। १२-द्वित्व वर्णों के सरलीकरण में पूर्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घाकरण के आधार पर भी यह भेद दिखाई पड़ता है। रूप तत्त्व सम्बन्धी भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए डा० ग्रियर्सन ने निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये।

१. बाहरी भाषायें पुनः सश्लिष्ट हो रही हैं जब कि भीतरी भाषाओं में सश्लिष्टता दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ हिन्दी में विभक्तियों और परसर्ग के, का, ने, में आदि सज्ञा शब्दों से पृथक् लिखे जाते हैं। बंगाली में सम्बन्ध के 'रामेर' आदि रूप सश्लिष्टता व्यक्त करते हैं। क्रिया रूपों को देखने से यह अन्तर और भी स्पष्ट होता है।^१ क्रियारूपों पर विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा कि बाहरी भाषायें प्राचीन आर्य भाषा की किसी ऐसी बोली से निकली हैं जिसमें कर्म वाच्य के कृदन्तज रूपों के साथ सर्वनामों के लघुरूपों का सम्भवतः प्रयोग होता था किन्तु भीतरी भाषायें संस्कृत की उस शाखा से प्रभावित हैं, जिनमें ऐसे क्रियारूपों के साथ सार्वनामिक लघु रूपों का प्रयोग नहीं होता था इसीलिए हिन्दी में कर्मवाच्य की 'मारा' क्रिया में सर्वनामों के वचन, पुरुष के अनुसार कोई अन्तर नहीं होता। मैंने हमने मारा, तूने तुमने मारा, उसने-उन्होंने मारा, किन्तु बाहरी शाखा की भाषाओं के साथ ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अन्तर्वर्ती भाषाओंके व्याकरण बाहरी भाषाओं के व्याकरण की अपेक्षा अधिक सरल और सक्षिप्त होते हैं। डा० चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन के मतभेद और विवाद की बात हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ उसके विस्तार में जाने का कोई प्रयोजन नहीं है। चाटुर्ज्या ने बहुत विस्तार के साथ ग्रियर्सन के तर्कों को प्रमाणहीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—जो भी हो डा० ग्रियर्सन की इस स्थापना से मध्यदेशीय भाषा की महत्वपूर्ण स्थिति और विशेषता का सकेत मिलता है। ग्रियर्सन ने समुद्र-तट पर बसे गुजरात प्रान्त की भाषा को अन्तर्वर्ती कहा है। उन्होंने इस भाषाको मूलतः शौरसेनी श्रेणी की भाषा स्वीकार किया है। यह मान्यता व्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से कर्मवाच्य के कृदन्तज रूपों और विश्लिष्टता सम्बन्धी प्रवृत्ति के सकेत भी मध्यदेशी

१. क्रियारूपों का विवरण ग्रियर्सन के लिखित सर्वे आव इंडिया भाग १ खंड १ में देखा जा सकता है।

१. बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर पश्चिमी तथा पूरव की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए तथा उ वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर लुप्त हो गए हैं। जैसे काश्मीरी अलि, सिंधी अलि, बिहारी अलि किन्तु हिन्दी आल। २-बहिर्वर्ती भाषाओं विशेषतः पूर्वी भाषाओं में अपिनिहित (Epenthesis) वर्तमान है, मध्यदेशीय में नहीं। ३-अइ > ऐ तथा अउ > ऐ बाहरी शाखा की पूर्वी भाषाओं में विभूत 'ए' तथा 'ओ' के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ४-संस्कृत के च्, ज् पूर्वी भाषाओं में त्स-म् तथा द्ज-ज् में बदल आते हैं। ५-र, त्स, तथा ड, ङ के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बहि. शाखाओं में स्पष्ट मान्य हो जाती है। ६-पूरव तथा पश्चिम की बहिः भाषाओं में द्, ड् परस्पर विनिमेय है किन्तु मध्यदेशीय में नहीं। ७-बाहरी भाषाओं में म् > म तथा भीतरी में म् > म् में बदलता है। ८-र का बाहरी शाखाओं में लोप हो गया है, पश्चिमी हिन्दी में यह वर्तमान है। ९-स्वर मध्यग स > ह में परिवर्तन बाहरी में ही दिखाई पड़ता है। १०-श, ष, स् > श् के रूप मागधी में दिखाई पड़ता है। ११-महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण में परिवर्तन के आधार पर भी यह भिन्नता स्पष्ट होती है। १२-द्वित्व वर्णों के सरलीकरण में पूर्व स्वर के क्षतिपूर्क दीर्घाकरण के आधार पर भी यह भेद दिखाई पड़ता है। रूप तत्त्व सम्बन्धी भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए डा० ग्रियर्सन ने निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये।

१. बाहरी भाषायें पुनः सश्लिष्ट हो रही हैं जब कि भीतरी भाषाओं में सश्लिष्टता दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ हिन्दी में विभक्तियों और परसर्ग के, का, ने, में आदि सहा शब्दों से पृथक् लिखे जाते हैं। बंगाली में सम्बन्ध के 'रामेर' आदि रूप सश्लिष्टता व्यक्त करते हैं। क्रिया रूपों को देखने से यह अन्तर और भी स्पष्ट होता है।^१ क्रियारूपों पर विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा कि बाहरी भाषायें प्राचीन आर्य भाषा की किसी ऐसी बोलो से निकली हैं जिसमें कर्म वाच्य के कृदन्तज रूपों के साथ सर्वनामों के लघुरूपों का सम्भवतः प्रयोग होता था किन्तु भीतरी भाषायें संस्कृत की उस शाखा से प्रभावित हैं, जिनमें ऐसे क्रियारूपों के साथ सार्वनामिक लघु रूपों का प्रयोग नहीं होता था इसीलिए हिन्दी में कर्मवाच्य की 'मारा' क्रिया में सर्वनामों के वचन, पुरुष के अनुसार कोई अन्तर नहीं होता। मैंने हमने मारा, तूने तुमने मारा, उसने-उन्होंने मारा, किन्तु बाहरी शाखा की भाषाओं के साथ ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अन्तर्वर्ती भाषाओंके व्याकरण बाहरी भाषाओं के व्याकरण की अपेक्षा अधिक सरल और सक्षिप्त होते हैं। डा० चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन के मतभेद और विवाद की बात हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ उसके विस्तार में जाने का कोई प्रयोजन नहीं है। चाटुर्ज्या ने बहुत विस्तार के साथ ग्रियर्सन के तर्कों को प्रमाणहीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—जो भी हो डा० ग्रियर्सन की इस स्थापना से मध्यदेशीय भाषा की महत्वपूर्ण स्थिति और विशेषता का सकेत मिलता है। ग्रियर्सन ने समुद्र-तट पर बसे गुजरात प्रान्त की भाषा को अन्तर्वर्ती कहा है। उन्होंने इस भाषा को मूलतः शौरसेनी श्रेणी की भाषा स्वीकार किया है। यह मान्यता व्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से कर्मवाच्य के कृदन्तज रूपों और विश्लिष्टता सम्बन्धी प्रवृत्ति के सकेत भी मध्यदेशी

१. क्रियारूपों का विवरण ग्रियर्सन के लिखित सर्वे भाषा इंडिया भाग १ खंड १ में देखा जा सकता है।

६। १२। १, ६। २। ७) यह अवस्था बाद की भाषाओं अर्थात् मध्य और नव्य आर्य भाषाओं में दिखाई पड़ती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरागम के प्रयोगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरागम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नई हिन्दी में मिलते हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (ब्रज, अवधी) में इनकी संख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पड़ता है जैसे प्रगल्भ > पगल्भ (तैत्तिरीय संहिता २। २। १४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय > पिय, चन्द्र > चन्द आदि रूप।^१ ब्रजभाषा में प्रहर > पहर, प्रमाण > पमान, प्रिय > पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानों की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नहीं है। प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं में क्रमशः र्, र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होंगी। शाखाओं के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने आप उत्पन्न हो जाती है। श्रीर, श्रील, श्लील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।^३ र और ल ब्रजभाषा में परस्पर विनिमेय ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक > भल्ला > भला। चत्वारिंशत् > चालीस, पर्यंक > पलंग; घूर्ण > घोल आदि तथा व्याकुल > वाउल > बाउर, में यह विनिमेयता परिलक्षित होती है।

§ २२. वैदिक भाषा के शब्द-रूपों का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ब्राह्मणों में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की दृग्भाषिक भाषा है जिसके वाक्य विन्यास के बारे में डा० मैकडानल लिखते हैं : 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अस्वाभाव भी मिलते हैं।'^४ वैदिक भाषा में क्रिया पदों में उपसर्गों को जोड़कर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पड़ती है, यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओं के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। संस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओं का उतना प्रयोग नहीं है जितना वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा को ये प्रवृत्तियाँ संस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओं के निकट मालूम होती हैं। सविभक्तिक प्रयोग संस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पड़ती है। गुलेरी जी ने निर्विभक्तिक पदों के ऐसे प्रयोगों को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश को विरासत भी मिली^५ वस्तुतः वैदिक भाषा परिनिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से संपृक्त थी।

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए हैं।

२. धाधो रो लुक्, प्राकृत व्याकरण ८।४।३६८

३. रल्योरभेद : पाणिनीय

४. Vedic Grammar IV Edition 19०० London p 284

५. पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण सन् २००५, पृ० ६

६। १२। १, ६। २। ७) यह अवस्था बाद की भाषाओं अर्थात् मध्य और नव्य आर्य भाषाओं में दिखाई पड़ती है । हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरागम के प्रयोगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं । स्वरागम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नई हिन्दी में विरल हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (ब्रज, अवधो) में इनकी संख्या काफी है । वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पड़ता है जैसे प्रगल्भ > पगल्भ (तैत्तिरीय संहिता २। २। १४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय > पिय, चन्द्र > चन्द आदि रूप ।^१ ब्रजभाषा में प्रहर > पहर, प्रमाण > पमान, प्रिय > पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं । वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है । विद्वानों की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नहीं है । प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं में क्रमशः र्, र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होंगी । शाखाओं के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने आप उत्पन्न हो जाती है । भीर, भील, श्लील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है ।^३ र और ल ब्रजभाषा में परस्पर विनिमेय ध्वनियाँ हैं । इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है । हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं । भद्रक > भल्ला > भला । चत्वारिंशत > चालीस, पर्यंक > पलग; घूर्ण > धोल आदि तथा व्याकुल > वाउल > वाउर, में यह विनिमेयता परिलक्षित होती है ।

§ २२. वैदिक भाषा के शब्द-रूपों का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य विन्यास की ओर आकृष्ट होता है । ब्राह्मणों में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की स्वाभाविक भाषा है जिसके वाक्य विन्यास के बारे में डा० मैकडानल लिखते हैं : 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था । यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अत्रवाद भी मिलते हैं ।'^४ वैदिक भाषा में क्रिया पदों में उपसर्गों को जोड़कर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पड़ती है, यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओं के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे । संस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओं का उतना प्रयोग नहीं है जितना वैदिक भाषा में मिलता है । वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ संस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओं के निकट मालूम होती हैं । सविभक्तिक प्रयोग संस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पड़ती है । गुलेरी जी ने निर्विभक्तिक पदों के ऐसे प्रयोगों को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश को विरासत भी मिली^५ वस्तुतः वैदिक भाषा परिनिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से संपृक्त थी ।

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए हैं ।

२. वाधो रो लुक्, प्राकृत व्याकरण ८।४।३६८

३. रल्योरभेद : पाणिनीय

४. Vedic Grammar IV Edition 19०० London p 284

५. पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण सन् २००५, पृ० ६

रुक गया जो प्रवहमान जीवन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सांस्कृतिक भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन-अव्यापन का माध्यम बनकर रह गई।

§ २४. संस्कृत का प्रभास परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य पर पूरा-पूरा दिखाई पड़ता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकारान्तर से ही माना जा सकता है। संस्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के बोलचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषायें विकसित हो रही थीं, संस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धों की संस्कृत में यह स्फूर्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओं पर विचार करते हुए श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य भाषा के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ है।^१ 'बौद्ध भारत में गान्धार से बंगाल और हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के भू भाग में बोली जाने वाली भाषाओं के मुख्य पांच क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं।

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पञ्जाब और सभवतः सिन्ध में प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिस्थल कहा जा सकता है।

४—पूर्वा में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषायें आती हैं।

उत्तरभारत में प्रचलित इन भाषाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१—आर्य आक्रमणकारियों की भाषा, द्राविड और कोल भाषायें

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो शादी-आदि सम्बन्धों के कारण द्रविडों से मिश्रित हो गए थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई में हो, या सिन्धु की घाटी में या गंगा यमुना के द्वीपों में।

१. भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते हैं

(१) प्राचीन आर्यभाषा १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा आदर्श

(२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्

(क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ई० सन्। अशोक की प्राकृतें, पाली आदर्श

(ख) द्वितीय स्तर-२०० ई० से ६०० ई० संस्कृत नाटकों की प्राकृतें शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि आदर्श

(ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रंश आदर्श

(३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बंगला आदि आदर्श

रुक गया जो प्रवहमान जीवन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सांस्कृतिक भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन-अव्यापन का माध्यम बनकर रह गई।

§ २४. संस्कृत का प्रभान परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य पर पूरा-पूरा दिखाई पड़ता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकारान्तर से ही माना जा सकता है। संस्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के बोलचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषायें विकसित हो रही थीं, संस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धों की संस्कृत में यह सकरता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओं पर विचार करते हुए श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य भाषा के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ है।^१ 'बौद्ध भारत में गान्धार से बगाल और हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के भू भाग में बोली जाने वाली भाषाओं के मुख्य पांच क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं।

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पञ्जाब और सभवतः सिन्ध में प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिस्थल कहा जा सकता है।

४—पूर्वा में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषायें आती हैं।

उत्तरभारत में प्रचलित इन भाषाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१—आर्य आक्रमणकारियों की भाषा, द्राविड और कोल भाषायें

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो शादी-आदि सम्बन्धों के कारण द्रविडों से मिश्रित हो गए थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई में हों, या सिन्धु की घाटी में या गंगा यमुना के दाबे में।

१. भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते हैं

(१) प्राचीन आर्यभाषा १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा आदर्श

(२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्

(क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ई० सन्। अशोक की प्राकृतें, पाली आदर्श

(ख) द्वितीय स्तर-२०० ई० से ६०० ई० संस्कृत नाटकों की प्राकृतें शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि आदर्श

(ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रंश आदर्श

(३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बगला आदि आदर्श

अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं दिखाई पड़ती, उसके वाक्य विन्यास और गठन के भीतर संस्कृत का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोक कालीन प्राकृतों में जो सहजता और जनभाषाओं की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्य भाषाओं के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतों का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनके विकास की दिशाओं में हम तत्कालीन मध्यदेशीय के विकास के सूत्रों को ढूँढ सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है।

ऋ > अ, उ, इ, ए रूपों में परिवर्तित होती है।

कृत > कत (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहवाजगढ़ी)

मृग > मग (गिर०) मिग (कालसी) मुग (शाहवाजगढ़ी)

व्यापृत > व्यापत (गिर०) बियापट (कालसी) वपट (शाहवाजगढ़ी)

एतादृश > एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहवाजगढ़ी)

भातृ > भ्रातृ (शाह० मानसेरा) भाति (कालसी)

पितृ > पितु, पीति (शा० मा०) पितु पिति (काल० घौली)

वृक्ष > वृक्ष (गिर०) रुक्ष (शाह० मा०) लूख (कालसी)

वृद्धि > वटि (गिर०) वटि (शाह०) वट (कालसी)

संस्कृत घातु √ दृच् के दक्ष और दिक्ख परिवर्तन कई लेखों में दिखाई पड़ते हैं। टिसेया को भी केर्न (Kern) और थ्रीहल्ट्ज़ (Hultzsch) संस्कृत के दृश्यते से निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी > पुठ्वी (घौली) में ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ का यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा का हिया < हृदय, पूछनो < पृच्छ, पुहुमी < पृथ्वी, बियौ < कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। इन शिलालेखों की भाषा में संस्कृत सध्यक्षर ऐ का ए के रूप में परिवर्तन महत्वपूर्ण है। कैवर्त > नेवट। औ का प्रायः सर्वत्र ओ रूप दिखाई पड़ता है। पौत्र > पोत्र (गिर० मान०) पोता (शा० गिर० कालसी) संस्कृत पौराण > पोराण (मैसूर)। कुछ शब्दों में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अपि > पि, अप्यक्ष > धियक्ष। अहकम् > हकम्, हम या हौं (ब्रज)। अस्मि > सुमि। अन्त्य विसर्ग का प्रायः लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पड़ता है। यशः > यशो, यषो या यसो भी। वयः > यो। जनः > जने, प्रियः > प्रिये, रूपों में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यञ्जन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्वपूर्ण हैं। आरम्भिक ह का लोप जैसे हस्तिन् > अस्ति। सघोष व्यञ्जनों में स्पर्श ध्वनि का लोप जैसे करण-कारक की विभक्ति मिः का सर्वत्र हि। (Palatalization) तालव्योकरण के उदाहरण भी दिखाई पड़ते हैं। क्ष > छ, क्षण > छण, मोक्ष > मोछ। त्य > च, आत्ययिक > आचयिक। च > ज, अच > आज। न्य का ण में परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। अन्य > अण। मन्य > मण। आरुप् > आ + णय भी होता है।

रूप विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्य भाषा की व्याकरणिक उलझनों का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। पदान्त व्यञ्जनों के लोप से प्रायः अन्त्य स्वरान्त प्रातिपदिक ही बच रहे हैं। अकारान्त प्रातिपदिकों के

अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं दिखाई पड़ती, उसके वाक्य विन्यास और गठन के भीतर संस्कृत का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोक कालीन प्राकृतों में जो सहजता और जनभाषाओं की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्य भाषाओं के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतों का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनके विकास की दिशाओं में हम तत्कालीन मध्यदेशीय के विकास के सूत्रों को दृढ़ कर सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है।

ऋ > अ, उ, इ, ए रूपों में परिवर्तित होती है।

कृत > कत (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहवाजगढ़ी)

मृग > मग (गिर०) मिग (कालसी) मुग (शाहवाजगढ़ी)

व्यापृत > व्यापत (गिर०) वियापट (कालसी) वपट (शाहवाजगढ़ी)

एतादृश > एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहवाजगढ़ी)

भातृ > भ्रातृ (शाह० मानसेरा) भाति (कालसी)

पितृ > पितु, पीति (शा० मा०) पितु पिति (काल० घौली)

वृक्ष > वृक्ष (गिर०) रुक्ष (शाह० मा०) लृक्ष (कालसी)

वृद्धि > वट्टि (गिर०) वटि (शाह०) वट (कालसी)

संस्कृत घातृ/हृत् के दक्ख और दिक्ख परिवर्तन कई लेखों में दिखाई पड़ते हैं। दिक्खा को श्री केर्न (Kern) और श्रीहल्ल्त्स (Hultzsch) संस्कृत के दृश्यते से निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी > पुठ्वी (घौली) में ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ का यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा का ह्रिया < हृदय, पूछनो < पूच्छन्, पुहुमी < पूष्वी, त्रियौ < कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। इन शिलालेखों की भाषा में संस्कृत सध्यक्षर ऐ का ए के रूप में परिवर्तन महत्वपूर्ण है। कैवर्त > केवट। औ का प्रायः सर्वत्र ओ रूप दिखाई पड़ता है। पौत्र > पोत्र (गिर० मान०) पोता (शा० गिर० कालसी) संस्कृत पौराण > पोराण (मैसूर)। कुछ शब्दों में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अपि > पि, अध्यक्ष > धियक्ष। अहम् > हम्, हम या हौं (ब्रज)। अस्मि > सुमि। अन्त्य विसर्ग का प्रायः लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पड़ता है। यशः > यशो, यषो या यसो भी। वयः > यो। जनः > जने, त्रियः > त्रिये, रूपों में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यञ्जन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्वपूर्ण हैं। आरम्भिक ह का लोप जैसे हस्तिन् > अस्ति। सघोष व्यञ्जनों में स्पर्श ध्वनि का लोप जैसे करण-कारक की विभक्ति भिः का सर्वत्र हि। (Palatalization) तालव्योकरण के उदाहरण भी दिखाई पड़ते हैं। क्ष > छ, क्षण > छण, मोक्ष > मोछ। त्य > च, आत्ययिक > आचयिक। च > ज, अच > आज। न्य का ण में परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। अन्य > अण। मन्य > मण। आरुप् > आ + णय भी होता है।

रूप विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्य भाषा की व्याकरणिक उलझनों का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। पदान्त व्यञ्जनों के लोप से प्रायः अन्त्य स्वरान्त प्रातिपदिक ही बच रहे हैं। अकारान्त प्रातिपदिकों के

बाद उनसे उपदेशों के समूह के लिए जो समिति बैठी उसमें भिन्न महाकसर प्रमुख थे, वे चूँकि मध्यदेश के निवासी थे, इसलिए भी संभव है कि उन्होंने वे वचन अपनी भाषा में उपस्थित किये हों। राजकुमार महेन्द्र स्वयं उज्जैन में रहते थे जहाँ उन्होंने मध्यदेशीय भाषा में ही त्रिपिटकों का अनुवाद पढ़ा जिसे वे प्रचारार्थ सिद्ध ले गए थे। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ध्वनि प्रक्रिया और रूपविचार (Morphology) दोनों ही दृष्टियों से पालि को मध्यकालीन आर्य भाषा के द्वितीय स्तर की शौरसेनी प्राकृत के निकट मानते हैं।^१ साहित्यिक भाषा के रूप में पालि मध्य आर्य भाषाओं के संक्रान्तिकाल (२०० ईसा पूर्व से २०० ईस्वी सन्) में विकसित हुई। मध्यदेश की एक बोली पर आधारित यह भाषा संस्कृत की प्रतिद्वन्द्वी भाषा की हैसियत से भारत की लोक कथाओं के जातक रूप में संकलित होने और बुद्ध दर्शन के लिपि बद्ध होने के बाद एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 'इस प्रकार पालि भाषा मध्यदेश की लुप्त भाषिक परम्परा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुई। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पालि के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए लिखते हैं कि 'पालि उज्जैन से मथुरा तक के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वस्तुतः इसे 'पश्चिमी हिन्दी' का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्थानी की भाँति केन्द्र की, आर्यावर्त के हृदय प्रदेश की भाषा थी, अतएव आसपास पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। पालि ही हीनयान बौद्धों के 'घेरवाद' सम्प्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा बनी और यही शाखा सिद्ध में पहुँच कर आगे चलकर वहाँ प्रतिष्ठापित हो गई।^२ भारतीय आर्य भाषा का अध्येता मध्यकाल में पूर्वी भाषा के सहसा प्राधान्य को देखकर आश्चर्य कर सकता है, अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा को कोई स्थान नहीं मिला यहाँ तक कि मध्यदेश में स्थापित स्तम्भों के शिलालेख अर्थात् कालसी, टोपरा, मेरठ और वैराट के शिलालेखों में भी स्थानीय भाषा को स्थान नहीं दिया गया 'किर भी मध्यदेशीय भाषा अपने—र शब्दों, कर्ताकारक के—ओ—वाले रूपों, कर्म बहुवचन के—ए—प्रयोगों के रूप में राजकीय और शासन सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रही, और एक समय ऐसा भी आया कि उसने पालि भाषा के विकास के साथ ही प्राच्य को अपने क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया, अपमान का बदला मध्यदेशीय ने भयकर रूप से लिया और संक्रान्ति काल से लेकर आजतक वह शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश, व्रजभाषा और आजकी हिन्दुस्थानी के रूप में पूर्वी और विहारी भाषाओं पर प्रभुत्व जमाये रही।'^३ हम पालि और बाद की मध्यदेशीय भाषाओं के प्राधान्य को चाटुर्ज्या के शब्दों में रखना उचित नहीं समझते, वे मात्र भाषिक स्थितिनय परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण मध्यदेशीय को प्रमुखता मिलती रही है, जैसा कि चाटुर्ज्या ने स्वयं कहा कि यह आर्यावर्त के हृदय देश की भाषा है, जिसे आसपास के लोग आसानी से और ज्यादा सरलता में समझ सकते हैं, इसीलिए इसे सदैव सम्मान और प्रमुखता मिलती रही है इसमें किसी प्रकार के बदले या प्रतिकार की भावना का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

१ Origin and Development of Bengali Language P 57

२ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४ पृ० १०५

३. ओरीजिन ऐंड डेवेलपमेन्ट ऑफ बँगाली लैंग्वेज, पृ० ६०

बाद उनसे उपदेशों के संग्रह के लिए जो समिति बैठी उसमें भिक्षु महाकस्तुर प्रमुख थे, वे चूँकि मध्यदेश के निवासी थे, इसलिए भी संभव है कि उन्होंने वे वचन अपनी भाषा में उपस्थित किये हों। राजकुमार महेन्द्र स्वयं उज्जैन में रहते थे वहाँ उन्होंने मध्यदेशीय भाषा में ही त्रिपिटकों का अनुवाद पढ़ा जिसे वे प्रचारार्थ सिंहाल ले गए थे। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ध्वनि प्रक्रिया और रूपविचार (Morphology) दोनों ही दृष्टियों से पालि को मध्यकालीन आर्य भाषा के द्वितीय स्तर की शौरसेनी प्राकृत के निकट मानते हैं।^१ साहित्यिक भाषा के रूप में पालि मध्य आर्य भाषाओं के संक्रान्तिकाल (२०० ईसा पूर्व से २०० ईस्वी सन्) में विकसित हुई। मध्यदेश की एक बोली पर आधारित यह भाषा संस्कृत की प्रतिद्वन्द्वी भाषा की दृष्टि से भारत की लोक कथाओं के जातक रूप में संकलित होने और बुद्ध दर्शन के लिपि बद्ध होने के बाद एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 'इस प्रकार पालि भाषा मध्यदेश की लुप्त भाषिक परम्परा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुई। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पालि के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए लिखते हैं कि 'पालि उज्जैन से मथुरा तक के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वस्तुतः इसे 'पश्चिमी हिन्दी' का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्थानी की भाँति केन्द्र की, आर्यावर्त के हृदय प्रदेश की भाषा थी, अतएव आसपास पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। पालि ही हीनयान बौद्धों के 'थेरवाद' सम्प्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा बनी और यही शाखा सिंहाल में पहुँच कर आगे चलकर वहाँ प्रतिष्ठापित हो गई।^२ भारतीय आर्य भाषा का अध्येता मध्यकाल में पूर्वी भाषा के सहसा प्राधान्य को देखकर आश्चर्य कर सकता है, अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा को कोई स्थान नहीं मिला यहाँ तक कि मध्यदेश में स्थापित स्तम्भों के आलेख अर्थात् कालसी, टोपरा, मेरठ और वैराट के शिलालेखों में भी स्थानीय भाषा को स्थान नहीं दिया गया 'फिर भी मध्यदेशीय भाषा अपने—र् शब्दों, कर्ताकारक के—ओ—वाले रूपों, कर्म बहुवचन के—ए—प्रयोगों के रूप में राजकीय और शासन सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रही, और एक समय ऐसा भी आया कि उसने पालि भाषा के विकास के साथ ही प्राच्य को अपने क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया, अपमान का बदला मध्यदेशीय ने भयंकर रूप से लिया और संक्रान्ति काल से लेकर आज तक वह शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश, ब्रजभाषा और आजकी हिन्दुस्थानी के रूप में पूर्वी और विहारी भाषाओं पर प्रमुख जमाये रही।'^३ हम पालि और बाद की मध्यदेशीय भाषाओं के प्राधान्य को चाटुर्ज्या के शब्दों में रखना उचित नहीं समझते, ये मात्र भाषिक स्थितिनय परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण मध्यदेशीय को प्रमुखता मिलती रही है, जैसा कि चाटुर्ज्या ने स्वयं कहा कि यह आर्यावर्त के हृदय देश की भाषा है, जिसे आसपास के लोग आसानी से और ज्यादा सरलता में समझ सकते हैं, इसीलिए इसे सदैव सम्मान और प्रमुखता मिलती रही है इसमें किसी प्रकार के बदले या प्रतिकार की भावना का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

१ Origin and Development of Bengali Language P 57

२ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५१ पृ० १७५

३. ओरीजिन ऐंड डेवेलपमेन्ट ऑफ बँगाली लैंग्वेज, पृ० ६०

परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं स्वीकार किये गए थे।^१ उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुलिग रूप 'इमस्स', 'पल' का प्रथमा बहुवचन 'पला', 'अस्थि' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप। डा० भांडारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते। इन रूपों में वे पुलिग और नपुसक लिङ्ग के अन्तर को मिटाने की उस प्रवृत्ति का सूत्रपात मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई।^२ संस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपा में पालि में केवल आठ ही रह गए। भविष्य और वर्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो तीन ही अवशिष्ट रहे। कुछ नये क्रिया रूप भी दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'म्हे' वर्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या 'मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'त्यो'। इस प्रकार के कई कालों के रूप मिलते हैं। वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप हैं जिनका निर्माण आरम्भिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई संस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं। इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डा० भांडारकर ने कहा कि 'जब संस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ। अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि नव्य आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense) के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल में ही वर्तमान रही है।^३ ब्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन मानने वालों के लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

§ २८. पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। भारतीय आर्यभाषा के मध्यमन्तीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अग्रना विशेष महत्व है। इन प्राकृतों को हम बहुत दूर तक अनता की भाषा नहीं कह सकते। संस्कृत नाट्यकारों ने इस भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनो की बातचीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता मण्डल के लिए हास्य का एक सत्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो। बाद की प्राकृत रचनाएँ इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्ष शैली में लिखी गई हैं कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं। यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे उन बोलियों का आधार रहा है जिनसे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों को शुद्ध सहज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। संस्कृत वैयाकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते हैं। मागधी प्राकृत निःसन्देह मगध की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्तमान मथुरा के आस पास की भाषा थी, इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है।

१. वही, पृ० ५७

२. वही, पृ० ५७

३. वही, पृ० ६३

परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं स्वीकार किये गए थे।^१ उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुलिग रूप 'इमस्स', 'पल' का प्रथमा बहुवचन 'पला', 'असि' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप। डा० भाडारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते। इन रूपों में वे पुलिग और नपुसक लिङ्ग के अन्तर को मिटाने की उस प्रवृत्ति का सूत्रान मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई।^२ संस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपा में पालि में केवल आठ ही रह गए। भविष्य और वर्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो तीन ही अवशिष्ट रहे। कुछ नये क्रिया रूप भी दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'म्हे' वर्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या 'मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'त्यो'। इस प्रकार के कई कालों के रूप मिलते हैं। वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप हैं जिनका निर्माण आरम्भिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई संस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं। इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डा० भाडारकर ने कहा कि 'जब संस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ। अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि नव्य आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense) के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल में ही वर्तमान रही है।^३ ब्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन मानने वालों के लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

§ २८. पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। भारतीय आर्यभाषा के मध्यमस्तरीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अपना विशेष महत्व है। इन प्राकृतों को हम बहुत हद तक जनता की भाषा नहीं कह सकते। संस्कृत नाटककारों ने इस भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनता की बातचीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता मण्डल के लिए हास्य का एक सत्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो। बाद की प्राकृत रचनाएँ इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्ष शैली में लिखी गई हैं कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं। यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे, इन बोलियों का आधार रहा है जिनसे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों को शुद्ध सहज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। संस्कृत व्याकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते हैं। मागधी प्राकृत निःसन्देह मगध की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्तमान मधुरा के आस पास की भाषा थी, इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है।

१. वही, पृ० ५७

२. वही, पृ० ५७

३. वही, पृ० ६३

विकारिणी है।^१ मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर में स्वर मध्यम अव्योप व्यञ्जनों का सयोप रूप दिखाई पड़ता है, कालान्तर में सयोप ध्वनियों उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद में उच्चारण की कठिनाई के कारण ये लुप्त हो गईं। विद्वानों की धारणा है कि शुक ७ सुअ, शोक ७ सोअ, नदी ७ नई की विकास स्थिति में एक अन्तर्वृत्ता अवस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक' के सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अवस्थायें भी रही होंगी। चाटुर्ज्या ने लिखा है कि इसमें एक निवृत्ति या ढिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'व, घ' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अवस्था में 'सोघ,' 'रोघ' और 'नधी' हो गए थे। साहित्यिक प्राकृतों में शौरसेनी तथा मागधी में क, ख, त, थ की जगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्राप्त ग, घ (या ह) ट, ध के प्रयोगों का वैयाकरणों द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक-स्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Inter vocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अवस्था का चोकर है। इसी तरह के और भी समता सूचक और परवर्ता विकास-व्यञ्जक आँकड़ों के आधार पर मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवर्ता रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जाई गई और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत के अति न्यून प्रभाव में उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसंग में डा० चाटुर्ज्या ने हिन्दुस्थानी को दक्षिण ले जाने और 'दकिनी' बनाने की घटनाका मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में पूरव के कुछ हिस्सों में प्रचलित मागधी को छोड़कर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरव में भी इसका प्रभाव कम न था। खारवेल के हाथी गुफा के लेखों तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वानों ने स्वीकार किया है। संस्कृत वैयाकरणों में कुछेक ने महाराष्ट्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी का परवर्ता रूप या महाराष्ट्री प्राकृत बहुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती है। इसमें गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत संस्कृत न जाननेवाले लोगों विशेषतः स्त्रीगर्ग और असंस्कृत परिवारों की बोलचाल की भाषा थी। इसमें प्रायः गद्य लिखा जाता था।^२ जब कि इसी का परवर्ता रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyrics) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीता की भाषा थी जैसा की १५वीं शती के बाद ब्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।^३ प्राकृतों में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्चिमव्ययुगीन भारतीय आर्य भाषा सिद्ध हुई। वैसे देखा जाय तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की वहन एवं विगतकाल की प्रतिस्पर्धिनी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।^४

1 It is rather hasty to assume that Marathi is the final descendant of the Maharastrī prakrit

Comparative Grammar of Modern Aryan Languages 1872 p 34

२. डा० हरिवल्लभ भाषारणी-वाक्यापार पृ० १२०-१२४, विभिन्न प्राकृतों के सम्बन्धों के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत व्याकरणकारों'

3 Like Brajbhasa in Northern India from the 15 th century downwards, Maharastrī became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period

Origin and development of Bengali Language p 86

४ डा० सुनीलकुमार चाटुर्ज्या, आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १७७

विकारिणी है।^१ मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर में स्वर मध्यम अघोष व्यञ्जनों का सघोष रूप दिखाई पड़ता है, कालान्तर में सघोष ध्वनियाँ उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद में उच्चारण की कठिनाई के कारण ये लुप्त हो गईं। विद्वानों की धारणा है कि शुक ७ सुअ, शोक ७ सोअ, नदी ७ नई की विकसित स्थिति में एक अन्तर्गतता अवस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक' के सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अवस्थाएँ भी रही होंगी। चाटुर्ज्या ने लिखा है कि इसमें एक निवृत्ति या ढिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'व, ध' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अवस्था में 'सोघ,' 'रोघ' और 'नर्घ' हो गए थे। साहित्यिक प्राकृत में शौरसेनी तथा मागधी में क, ख, त, थ की जगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्राप्त ग, घ (या ह) ट, ध के प्रयोगों का वैयाकरणों द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक-स्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Inter vocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अवस्था का चोकर है। इसी तरह के और भी समता सूचक और परवता विकास-व्यञ्जक आँकड़ों के आधार पर मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवता रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जाई गई और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत के अति न्यून प्रभाव में उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसंग में डा० चाटुर्ज्या ने हिन्दुस्थानी को दक्षिण ले जाने और 'दकिनी' बनाने की ध्वनाका मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में पूरव के कुछ हिस्सों में प्रचलित मागधी को छोड़कर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरव में भी इसका प्रभाव कम न था। सारवेल के हाथी गुफा के लेखों तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वानों ने स्वीकार किया है। संस्कृत वैयाकरणों में कुछेक ने महाराष्ट्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी का परवर्ती रूप या महाराष्ट्री प्राकृत बहुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती है। इसमें गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत संस्कृत न जाननेवाले लोगों विशेषतः स्त्रीवर्ग और अस्तस्कृत परिवारों की बोलचाल की भाषा थी। इसमें प्रायः गद्य लिखा जाता था।^२ जब कि इमी का परवर्ती रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyrics) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीता की भाषा थी जैसा की १५वीं शती के बाद व्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।^३ प्राकृतों में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्चिमव्ययुगीन भारतीय आर्य भाषा सिद्ध हुई। वैसे देखा जाय तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की वहन एवं विगतकाल की प्रतिस्पर्धिनी व्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।^४

1 It is rather hasty to assume that Marathi is the final descendant of the Maharastrī prakrit

Comparative Grammar of Modern Aryan Languages 1872 p 34

२. डा० हरिवल्लभ भायार्णा-वाग्व्यापार पृ० १२०-१२४, विभिन्न प्राकृतों के सम्बन्धों के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत व्याकरणकारों'

3 Like Brajbhasa in Northern India from the 15th century downwards, Maharastrī became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period

Origin and development of Bengali Language p 86

४ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १७७

§ ३०. शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी भाषिक विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारों ने महाराष्ट्री के विवेचन के बाद केवल उन्हीं बातों का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो महाराष्ट्री से भिन्न पड़ती थीं। इस प्रकार ये विशेषतायें शौरसेनी के मूल स्वरूप की नहीं, बल्कि साहित्यिक प्राकृत से उसकी असमानताओं की ओर सकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रों में शौरसेनी की विशेषतायें बताई हैं।^१

(क) संस्कृत शब्दों के त का द में तथा थ का घ में परिवर्तन (सूत्र २६०-२६२-२७३-२७६) ।

(ख) य का य्य में परिवर्तन, आर्यपुत्र > अय्यपुत्र ।

(ग) भू घातु के रूपों में भ की सुरक्षा (२६६-२६६) भोदि, भवति, भुवदि आदि ।

(घ) व्यञ्जनान्तस्वरो के कुछ विचित्र कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया < कंचुकिन्, सुइया < सुखिन्, राय < राजन्, विययज्मं < विजयवर्मन् ।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण, उडुअ प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पडिय, पडिदूण, (√ पठ्) कडुअ < √ कृ और गडुअ < √ गम् ।

(च) भविष्यत्काल में 'स्ति' विभक्ति, हि, स्त, या इ नहीं (२७५)

(छ) दाणि, ता यूवेव, ण, हीमाण हे, ह, जे, अम्महे, ही ही आदि क्रिया विशेषणों का प्रयोग (२७७-८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम इस भाषा के रूप की कल्पना नहीं कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा पहले कहा गया, इसीलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ अपवादिक प्रयोगों पर आधारित हैं। मूल शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर छुदा जा सकता है। हेमचन्द्र ने संस्कृत नाटककारों की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये विशेषतायें निर्धारित कीं। आजकल की तरह उस समय बोलियों के अध्ययन की न सुविधा थी और न तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण ही संभव था। इसलिये प्राकृत के इन अपवाद-नियमों को मूल विशेषतायें समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक शौरसेनी की यत्न-तन्त्र प्राप्त रचनाओं की भाषा पर संस्कृत का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईसवी सन् की छठवीं शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा विकास के तीसरे स्तर में अपभ्रंशों का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास के उपर्युक्त विवरण में भारत की अनार्य जातियों की भाषा के तत्वों का विवेचन नहीं किया गया है। भारत में विभिन्न भाषाओं की मिश्रण प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है। साहित्य में हम भाषाओं के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अव्यन्त कृत्रिम हैं। समाज में भाषाओं का विकास इतने सीधे ढंग से नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में कितना तत्व अनार्य भाषाओं का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रंशों के विकास में भी अनार्य

§ ३०. शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी भाषिक विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारों ने महाराष्ट्री के विवेचन के बाद केवल उन्हीं बातों का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो महाराष्ट्री से भिन्न पड़ती थीं। इस प्रकार ये विशिष्टतायें शौरसेनी के मूल स्वरूप की नहीं, बल्कि साहित्यिक प्राकृत से उसकी असमानताओं की ओर संकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रों में शौरसेनी की विशिष्टतायें बताई हैं।^१

(क) संस्कृत शब्दों के त का द में तथा थ का घ में परिवर्तन (सूत्र २६०-२६२-२७३-२७६) ।

(ख) य का य्य में परिवर्तन, आर्यपुत्र > अय्यपुत्र ।

(ग) भू घातु के रूपों में भ की सुरक्षा (२६६-२६६) भोदि, भवति, भुवदि आदि ।

(घ) व्यञ्जनान्तस्वरो के कुछ विचित्र कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया < कंचुकिन्, सुहिया < सुरिवन्, राय < राजन, वियययम्मं < विजयवर्मन् ।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण, उडुअ प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पडिय, पडिदूण, (√ पठ्) कडुअ < √ कृ और गडुअ < √ गम् ।

(च) भविष्यत्काल में 'सि' विभक्ति, दि, स्स, या इ नहीं (२७५)

(छ) दाणि, ता यूयेव, ण, हीमाण हे, इ, जे, अम्महे, ही ही आदि क्रिया विशेषणों का प्रयोग (२७७-२८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम उस भाषा के रूप की कल्पना नहीं कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा पहले कहा गया, इसीलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ आपवादिक प्रयोगों पर आधारित हैं। मूल शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर छुदा जा सकता है। हेमचन्द्र ने संस्कृत नाटककारों की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये विशेषतायें निर्धारित कीं। आजकल की तरह उस समय बोलियों के अध्ययन की न सुविधा थी और न तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण ही संभव था। इसलिये प्राकृत के इन अपवाद-नियमों को मूल विशेषतायें समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक शौरसेनी की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओं की भाषा पर संस्कृत का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईसवी सन् की छठवीं शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा विकास के तीसरे स्तर में अपभ्रंशों का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास के उपर्युक्त विवरण में भारत की अनार्य जातियों की भाषा के तत्वों का विवेचन नहीं किया गया है। भारत में विभिन्न भाषाओं की मिश्रण प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है। साहित्य में हम भाषाओं के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अव्यन्त कृत्रिम हैं। समाज में भाषाओं का विकास इतने सीधे ढंग से नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में कितना तत्व अनार्य भाषाओं का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रंशों के विकास में भी अनार्य

लगा । सामान्य वर्तमान के करउ, करहु, करहि, करह, करइ, करह आदि रूपों से करौ, करै, आदि ब्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे । लोट् (आशार्थक) में अ, इ, उ कारान्त रूप होते थे—करि, कर, करु आदि । ब्रज में करौ, करहु आदि 'करु' से बने रूप हैं । भविष्यत् में अपभ्रंश में स-और ह-दोनों प्रकार के रूप चलते थे किंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में-ह-प्रकार की अधिकता थी करिहइ, करिहउ आदि । ब्रज में करिहै, करिहौ, हैहै आदि रूप चलते हैं । विधिलिङ्ग के रूपों में इज्ज प्रत्यय लगता है । करिजह > करीजे (ब्रज) भूतकाल के रूप कृदन्तज थे, किय, भणिय, हुअ, गय आदि । उकार बहुला भाषा में ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे । ब्रज में कियौ, गयौ, मयौ आदि इसके रूपान्तर हैं । संयुक्त क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी, यह अपभ्रंश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था । रडन्तउ जाइ, भग्गा एन्तु, भज्जिउ जन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते हैं । ब्रज के 'चलत भयौ, आवतो भयो, आनि परयो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ । पूर्वकालिक क्रियाओं में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एष्णिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही । ब्रज में यही प्रचलित हुआ । प्रेरणार्थक 'अव' प्रत्यय वोल्लावइ, पणयइ में दिखाई पड़ता है, यही ब्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है ।

७. अपभ्रंश ने देशज शब्दों और धातुओं के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति प्रदान की । इन देसी प्रयोगों के कारण अपभ्रंश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गई जो प्राकृत में विलुप्त नहीं थी । इसी देसी प्रयोग ने इस भाषा को नव्य भाषाओं की ओर उन्मुख किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा के विकास के पीछे सैकड़ों वर्षों तक की परम्परा छिपी है । इस परम्परा के विकास में आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड और न जाने कितने प्रकार के प्रभाव घुले मिले हैं । आर्य भाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने में जितने सोपान पार करने पड़े हैं, जितने मोड़ लेने पड़े हैं, उन सबकी कुछ न कुछ विशेषता है, इन सबका सतुलित और आवश्यक दाय ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्त्व इस भाषा के ढाँचे में प्रतिष्ठापित हुए । १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्मभूमि में ब्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके शिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्वों का ओज और बल ।

लगा । सामान्य वर्तमान के करउ, करहु, करहि, करह, करइ, करह आदि रूपों से करौ, करै, आदि ब्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे । लोट् (आशार्थक) में अ, इ, उ कारान्त रूप होते थे—करि, कर, करु आदि । ब्रज में करौ, करहु आदि 'करु' से बने रूप हैं । भविष्यत् में अपभ्रंश में स-और ह-दोनों प्रकार के रूप चलते थे किंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में ह-प्रकार की अधिकता थी करिहइ, करिहउ आदि । ब्रज में करिहै, करिहौ, हैहै आदि रूप चलते हैं । विधिलिंग के रूपों में इज्ज प्रत्यय लगता है । करिजह > करीजे (ब्रज) भूतकाल के रूप कृदन्तज थे, किय, भणिय, हुअ, गय आदि । उकार बहुला भाषा में ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे । ब्रज में कियौ, गयौ, भयौ आदि इसके रूपान्तर हैं । संयुक्त क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी, यह अपभ्रंश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था । रडन्तउ जाइ, भग्ना एन्तु, भज्जिउ जन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते हैं । ब्रज के 'चलत भयौ, आवतो भयो, आनि परयो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ । पूर्वकालिक क्रियाओं में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एप्पिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही । ब्रज में यही प्रचलित हुआ । प्रेरणार्थक 'अव' प्रत्यय बोल्लवइ, पणवइ में दिखाई पड़ता है, यही ब्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है ।

७. अपभ्रंश ने देशज शब्दों और धातुओं के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति प्रदान की । इन देशी प्रयोगों के कारण अपभ्रंश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गई जो प्राकृत में विलुप्त नहीं थी । इसी देशी प्रयोग ने इस भाषा को नव्य भाषाओं की ओर उन्मुख किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा के विकास के पीछे सैकड़ों वर्षों तक की परम्परा छिपी है । इस परम्परा के विकास में आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड और न जाने कितने प्रकार के प्रभाव घुले मिले हैं । आर्य भाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने में जितने सोपान पार करने पड़े हैं, जितने मोड़ लेने पड़े हैं, उन सबकी कुछ न कुछ विशेषता है, इन सबका संतुलित और आवश्यक दाय ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्त्व इस भाषा के ढाँचे में प्रतिष्ठापित हुए । १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्मभूमि में ब्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके शिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्वों का ओज और बल ।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप में व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्य देशी थीं।

§ ३६ इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५ वीं शती का उत्तरार्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष में कोई ठोस आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर के साथ शुरू होती थी। प्रथीराज रासो सन् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालों की सरया निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यत्र-तत्र फुटकल प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

§ ३७ नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदयमान भाषा के लिए भयकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव समालने में धरेलू बोली को भूल जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निजामुद्दीन के तबकात-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिजर के हिन्दू नरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उनपर सवारी करनेवाले तुर्कों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा में लिखे थे जिसे महमूद गजनवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानों को दिखाया। केम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूदकी प्रभावित किया था।^१ खुसरो ने मसऊद इब्न साद के हिन्दी दावान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था। जिसने ११२५-११३० ईस्वी के बीच शासन किया।^२ इन प्रमाणों में संकलित भाषा को डा० सुनीतेकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अपभ्रंश का अर्थ खींचना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलनेवाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रभावों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग ३ पृ० २

२. प्रो० हेमचन्द्रराय द धी ओरियन्टल कॉन्फरेंस का विवरण—मैसूर १९३५

‘भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ’

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप में व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्य देशी थीं।

§ ३६ इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५ वीं शती का उत्तरार्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष में कोई ठोस आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर के साथ शुरू होती थी। प्रथ्वीराज रासो सन् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालों की सरया निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यत्रतत्र कुत्कल प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

§ ३७ नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदोपमान भाषा के लिए भयंकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव समालने में धरेलू बोली को भूल जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निजामुद्दीन के तबकात-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिबर के हिन्दू नरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उनपर सवारी करनेवाले तुर्कों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा में लिखे थे जिसे महमूद गजनवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानों को दिखाया। केम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूदकी प्रभावित किया था।^१ खुसरो ने मसऊद इब्न साद के हिन्दी दावान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था। जिसने ११२५-११३० ईस्वी के बीच शासन किया।^२ इन प्रमाणों में संकलित भाषा को डा० सुनीलकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अपभ्रंश का अर्थ खोजना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलनेवाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रभावों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग २ पृ० २

२. प्रो० हेमचन्द्रराय ए वी ओरियन्टल कॉन्फरेंस का विवरण—मैसूर १९३५
'भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ'

तत्त्वों के अन्वेषण के लिए यही वाद की अपभ्रंश ही महत्वपूर्ण है। इस वाद की अपभ्रंश में भी सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण कृतियाँ वे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हों। अभाग्यवश इस तरह की और इस काल की कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से घल्ले मध्यदेश में हस्तलेखों की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनो, किन्तु मध्यदेश में क्या चला गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

§ ४०. संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का उल्लेख किया है रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अपभ्रंश का जैसा सुन्दर और विपद् विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग की सबसे बड़ी विशेषता नियमों के उदाहरण रूप में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकल्पन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य भूमिका और तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'सीला बीनने वालों की तरह वह (हेमचन्द्र) सीला बीनने वाला न था। हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक उपयोगी अंश को अपने ढाँचे में बदलकर ही वह संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो 'आगा' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ-साथ उसका भट्टि भी है।' हेम व्याकरण में संकलित अपभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१. हेमचन्द्र के इस अपभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेल्मीतोरी ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२६-४४६ सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी (संवत् ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्णित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्वजों सीमा १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।^१ तेल्मीतोरी ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेनी अपभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। संभवतः उन्होंने यह नाम जार्ज ग्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आगे डा० ग्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरणका अपभ्रंश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और ब्राह्मण वाले विभाजन को आधार मानकर ग्रियर्सन ने भारतीय नव भाषाओं को जो समूहीकरण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि

तत्त्वों के अन्वेषण के लिए यही बाद की अपभ्रंश ही महत्वपूर्ण है। इस बाद की अपभ्रंश में भी सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण कृतियाँ वे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हों। अभाग्यवश इस तरह की और इस काल को कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से ध्वस्त मध्यदेश में हस्तलेखों की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किन्तु मध्यदेश में क्या जिला गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

§ ४०. संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का उल्लेख किया है रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अपभ्रंश का जैसा सुन्दर और विपद् विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं हाता। हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग की समस्त बड़ी विशेषता नियमों के उदाहरण रूप में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकलन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य मर्मज्ञता और तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'सीला बीनने वालों की तरह वह (हेमचन्द्र) सीला बीनने वाला न था। हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक उपयोगी अंश को अपने दवर में बदलकर ही वह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो 'आगा' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ-साथ उसका भट्टि भी है।' हेम व्याकरण में संकलित अपभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१. हेमचन्द्र के इस अपभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेस्मीतोरी ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२६-४४६ सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी (संवत् ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्गित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्वतों सीमा १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।' तेस्मीतोरी ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेन अपभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। संभवतः उन्होंने यह नाम जार्ज ग्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आगे डा० ग्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरणका अपभ्रंश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और बाचड वाले विभाजन को आधार मानकर ग्रियर्सन ने भारतीय नव भाषाओं को जो समूहीकरण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनके तर्क इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रशों के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती वडाभरण में 'अपभ्रशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जरा' की जो हुकार सुनाई पड़ती है, वह किसी न किसी हेतु से ही, इसमें किसी शका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रश में बहुत सी बातें प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषतायें व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'एले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रश ने तेनी प्रान्तीय लाक्षणिकताये गौर्जर अपभ्रश कहेवा माँ मने बाध जणातो न थी। ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'पैलाय' (विखराव के अर्थ में शायर) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रश' कहना चाहिए। यह आभीर अपभ्रश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरणा' का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रश का शौरसेनी कहने वालों पर राय प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छ्वा' आ० हेमचन्द्र ना अपभ्रश मा जोई छे। डा० नाकोवी, पीशल, सर प्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चाटुज्या, डा० गुणे वगैरे विद्वानों पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रश ने शौरसेनी अपभ्रश कहेवा लच्छाय छे। इसने बाद हेमचन्द्र की बताई शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टताओं का प्रभाव अपभ्रश में न देखकर शास्त्री जी इसको शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

§ ४३ मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दाप से पीडित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पड़ता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रंग गाढ़ा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्व रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड़ सकती है। पहले की रचनायें चाहे गुजरात में लिखी हों चाहे अगाल में यदि उनमें शौरसेनी की प्राधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भर्तृहरि वाहुवतिरास' (स० १२४१) को गौर्जर अपभ्रश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का धार प्रभाव दिखाई पड़ता है।

§ ४४ अपभ्रश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रश साहित्य को जा लोग शौरसेनी या उसपर आधारित परिनिष्ठित अपभ्रश का बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वा' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति संबंधी छोटे माटे मैदों को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इसने सिवा हेमचन्द्र की अपभ्रश की और भी बहुत सी बातें परमात्म प्रकाश में नहीं पाई जाती।^१ सोमप्रभ के

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनके तर्क इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रशों के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती कटाभरण में 'अपभ्रशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जरा' की जो हुकार सुनाई पड़ती है, वह किसी न किसी हेतु से ही, इसमें किसी शका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रश में बहुत सी बातें प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषतायें व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'एन्ले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रश ने तेनी प्रान्तीय लक्ष्णिकताये गौर्जर अपभ्रश कहेवा माँ मने बाध जणातो न थी। ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'फैलाव' (खिलाव के अर्थ में शायद) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रश' कहना चाहिए। यह आभीर अपभ्रश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरण' का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रश का शौरसेनी कहने वालों पर राय प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छ्वा' आ० हेमचन्द्र ना अपभ्रश मा जोई छे। डा० बाकोबी, पीशल, सर प्रियर्सन, डा० सुनीति कुमार चाटुज्या, डा० गुणे वगैरे निद्वानों पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रश ने शौरसेनी अपभ्रश कहेवा ललचाय छे। इससे बाद हेमचन्द्र की बताई शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टताओं का प्रभाव अपभ्रश में न देखकर शास्त्री जी इसकी शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

§ ४३ मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दाप से पीड़ित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पड़ता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रंग गाढ़ा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्व रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड़ सकती है। पहले की रचनायें चाहे गुजरात में लिखी हों चाहे अगाल में यदि उनमें शौरसेनी की प्राधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर बाहुवलिरास' (स० १२४१) को गौर्जर अपभ्रश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का धार प्रभाव दिखाई पड़ता है।

§ ४४ अपभ्रश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रश साहित्य को जा लोग शौरसेनी या उसपर आधारित परिनिष्ठित अपभ्रश का बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वा' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति सबधी छूटे माटे मैदों को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इससे सिवा हेमचन्द्र की अपभ्रश की और भी बहुत सी बातें परमात्म प्रकाश में नहीं पाई जाती।^१ सोमप्रभ के

शौरसेनी प्राकृत) अभ्यन्तर व्यजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी ।^१ इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की कड़ी हेमचन्द्र के 'प्राकृत' में दिखाई पड़ती है । अतः अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर भी हेमचन्द्र को अपभ्रंश शौरसेनी ही साबित होती है ।

§ ४६. इस प्रसंग में गुजरात और मध्यदेश की सांस्कृतिक एकता तथा संपर्कता पर भी विचार होना चाहिए । केवल हेमचन्द्र के अपभ्रंश को शौरसेनी समझने के लिए ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नहीं बल्कि व्रजभाषा के परवर्ती विकास में सहायक और भी बहुत सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थान सम्बन्धी विवाद हो सकता है । इस प्रकार की सामग्री के सरक्षण और सृजन का श्रेय निःसंकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इन समता और एकता-सूचक सामग्री के मूल में स्थित सांस्कृतिक सम्पर्कों का सर्वेक्षण भी हमारा कर्तव्य हो जाता है । जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा था । इतना ही नहीं इस समता के पीछे ग्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी दूँये थे जिनके आधार पर उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा ।^२ डा० धीरेन्द्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है ।'^३ इन वक्तव्यों में प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्तमान प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए । सुदूर अतीत में मध्यदेश के लोगों के अपने निवास-स्थान छोड़कर गुजरात में जाकर बसने का सचेत मिलता है । महाभारत में कृष्ण के यादव कुल के साथ मथुरा छोड़कर द्वापवती (वर्तमान द्वांरिका) बस जाने का उल्लेख हुआ है ।^४ महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईसवी सन् के आरम्भ का तो कहा ही जा सकता है । ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरों और गुर्जरो के पैलाव को भी निकटता-सूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है । वस्तुतः आभीरों का दल उत्तर पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश में आबाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरव की ओर बिखरने लगा । गुजरात में आभीरों का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरों ने ही स्थापित किया । अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों से बहुत निकट था, संभवतः ये अनार्य जाति के लोग थे जो संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिए इन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया । शासन पर अधिकार करने के बाद इनके द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई । आभीरों के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात् शकों ने उत्तर-भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किया था । ये बाद में हिन्दू हो गए थे । महाप्रतापी शकों का शासन भारत के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित था और इतिहासकारों का मत है कि ये दो तीन शाखाओं में विभक्त

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० १७७

२. आनन्द साहनी इन्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स, § १२

३. व्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४ पृ० ३

४. मथुरा संपरित्यज्य गता द्वापवतीपुरीम् (महाभारत २। १३। ५६)

शौरसेनी प्राकृत) अभ्यन्तर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी ।^१ इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की कड़ी हेमचन्द्र के 'प्राकृत' में दिखाई पड़ती है । अतः अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर भी हेमचन्द्र को अपभ्रंश शौरसेनी ही साबित होती है ।

§ ४६. इस प्रसंग में गुजरात और मध्यदेश की सांस्कृतिक एकता तथा संपर्कता पर भी विचार होना चाहिए । केवल हेमचन्द्र के अपभ्रंश को शौरसेनी समझने के लिए ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नहीं बल्कि व्रजभाषा के परवर्ती विकास में सहायक और भी बहुत सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थान सम्बन्धी विवाद हो सकता है । इस प्रकार की सामग्री के सरक्षण और लुप्तता का श्रेय निःसंकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इन समता और एकता-सूचक सामग्री के मूल में स्थित सांस्कृतिक सम्पर्कों का सर्वेक्षण भी हमारा कर्तव्य हो जाता है । जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा था । इतना ही नहीं इस समता के पीछे ग्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी दूढ़े थे जिनके आधार पर उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा ।^२ डा० धीरेन्द्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है ।'^३ इन वक्तव्यों में प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्तमान प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए । सुदूर अतीत में मध्यदेश के लोगों के अपने निवास-स्थान छोड़कर गुजरात में जाकर बसने का सचेत मिलता है । महाभारत में कृष्ण के यादव कुल के साथ मथुरा छोड़कर द्वापवती (वर्तमान द्वारिका) बस जाने का उल्लेख हुआ है ।^४ महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईस्वी सन् के आरम्भ का तो कहा ही जा सकता है । ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरों और गुर्जरों के पैलाव को भी निकटता-सूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है । वस्तुतः आभीरों का दल उत्तर पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश में आबाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरव की ओर बिखरने लगा । गुजरात में आभीरों का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरों ने ही स्थापित किया । अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों से बहुत निकट था, संभवतः ये अनार्य जाति के लोग थे जो संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिए इन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया । शासन पर अधिकार करने के बाद इनके द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई । आभीरों के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात् शकों ने उत्तर-भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किया था । ये बाद में हिन्दू हो गए थे । महाप्रतापी शकों का शासन भारत के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित था और इतिहासकारों का मत है कि ये दो तीन शाखाओं में विभक्त

१. आरतोय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० १७७

२. आनन्द साहू इन्डो आर्यन वर्तान्यूल्स, § १२

३. व्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४ पृ० ३

४. मथुरा संपरित्यज्य गता द्वापवतीपुरीम् (महाभारत २। १३। ५६)

ढढतर हो गया । इसी कारण गुजरात की प्रारम्भिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है । ब्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा । वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा । श्री विट्ठल नाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया । भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियों की भाषा पर न केवल ब्रज का प्रभाव है बल्कि उन्होंने ने तो ब्रजभाषा के कुछ फुटकल पद्य भी लिखे ।^१

§ ४८. हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा को हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं । हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं । ये रचनाएँ कहाँ कहाँ से ली गईं इसका पूरा पता नहीं चलता । हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहे कहा से संकलित किये गए, इनके मूल स्रोत क्या है, आदि प्रश्न उठते हैं । अब तक इन दोहों में से सभी का उद्गम-स्रोत ज्ञात नहीं हो सका है । इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में संकलित मिलते हैं । कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजंधरी कथाएँ संकलित की गई हैं । कुमारपाल प्रतिबोध^२ की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्धे' अर्थात् सम्यत् १२४१ के आषाढ़ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलवाड़े में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं । हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सन्देशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

जउ पवसन्ते सहु न गय न सुभ विओएँ तस्सु
लज्जिजउ सदेसइ दितेहि सुहय स जणस्स
[हेम० व्या० पा० ४१६]

जसु पवसंत ण पवसिया सुभए विओइ ण जासु
लज्जिजउ संदेसइउ दिन्ता पहिअ पियासु
[सं० १।० ७२]

सदेस रासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परवर्ती प्रतीत होता है, यही नहीं किंचित् परिवर्तनों को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था । संभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी संभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं १३वीं शती के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

१. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १

२. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित

दृढतर हो गया। इसी कारण गुजरात की प्रारम्भिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा। बल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा। श्री विट्ठल नाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियों की भाषा पर न केवल ब्रज का प्रभाव है बल्कि उन्होंने ने तो ब्रजभाषा के कुछ शुद्धकल पद्य भी लिखे।^१

§ ४८. हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा की हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं। ये रचनाएँ कहाँ कहाँ से ली गईं इसका पूरा पता नहीं चलता। हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहे कहाँ से संकलित किये गए, इनके मूल स्रोत क्या है, आदि प्रश्न उठते हैं। अब तक इन दोहों में से सभी का उद्गम-स्रोत ज्ञात नहीं हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में संकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजंधरी कथाएँ संकलित की गई हैं। कुमारपाल प्रतिबोध^२ की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्धे' अर्थात् सम्वत् १२४१ के आषाढ़ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलवाड़े में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सन्देशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

जउ पवसन्ते सहु न गय न सुअ विओएँ तस्तु
लज्जिजउ सदेसडा दितेहि सुहय स जणस्त
[हेम० व्या० दा१।४१६]

जसु पवसंत ण पवसिया सुअए बिओइ ण जासु
लज्जिजउ संदेसइउ दिन्ती पहिअ पियासु
[सं० १।० ७२]

सदेस रासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परवर्ती प्रतीत होता है, यही नहीं किंचित् परिवर्तनों को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। संभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी संभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं १३वीं शती के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

१. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १

२. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित

की गायार्यें उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होंगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गवाये, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में परक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेम-गाथा को भाषा-बद्ध किया होगा, ये दोहे नि सन्देह उस भाववेगाकुल काव्य-सृजन के अवशिष्ट अंश हैं जो मुजराज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वतः फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्धचिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण में संकलित किये गए—इन्हीं दोहों में से एक भाषा प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से ही संकलित किये गए। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सगा।

मुज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जीते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुज की रचना कहते हैं, यह भी असंभव नहीं है।^१ मुज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि^२ और पुरातन प्रबन्ध-संग्रह^३ के मुजराज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में मृणालवती को तैलय की भगिनी 'काराया तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

वेसा छडि बडाइतो जे दासिहि रचन्ति
ते नर मुज नरिद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्धक्य चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

मुंज भणइ मुणालवह केसां काइ जुयन्ति
लहउ साउ पयोहरह वधण भणीय रभन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध संग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृंगारिक और इन सबसे ऊपर मस्त और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है :

लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरधीवीरवेशमनि ।
गते मुजे यश पुजे निरालम्बा सरस्वती ॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५०. मुज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिंधुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आस पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विजयमालिका की तरह निजधरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी प्रशंसा

१. गुलेरी जी का 'राजा मुज हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी पृ० ४२-४४

२. दोनों पुस्तकें सिधी जैन ग्रन्थमाला में मुनिजिनविजय द्वारा प्रकाशित

३. पुरातन प्रबन्धसंग्रह पृ० १४

की गायार्यें उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होंगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गवाये, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में परक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेम-गाथा को भाषा-वद्ध किया होगा, ये दोहे नि सन्देह उस भाववेगाकुल काव्य-सृजन के अवशिष्ट अंश हैं जो मुजराज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वतः फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्धचिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण में संकलित किये गए—इन्हीं दोहों में से एक भाषा प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से ही संकलित किये गए। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सका।

मुज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जीते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुज की रचना कहते हैं, यह भी असंभव नहीं है।^१ मुज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि^२ और पुरातन प्रबन्ध-संग्रह^३ के मुजराज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में मृणालवती को तैलज की भगिनी 'काराया तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

वेसा छडि बडाइतो जे दासिहि रचन्ति
ते नर मुज नरिद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्धक्य चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

मुज भणइ मुणालवइ केसां काइ चुयन्ति
लद्धउ साउ पयोहरह वधण भणीय रहन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध संग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृंगारिक और इन सभी के ऊपर मस्त और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है :

लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरधीवीरवेशमनि ।
गते मुजे यश पुजे निरालम्बा सरस्वती ॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५०. मुज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिंधुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आस पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विक्रमादित्य की तरह निजधरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी प्रशंसा

१. गुलेरी जी का 'राजा मुज हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी पृ० ४२-४४
२. दोनों पुस्तकें सिधी जैन ग्रन्थमाला में मुनिजिनविजय द्वारा प्रकाशित
३. पुरातन प्रबन्धसंग्रह पृ० १४

तरह होता था (ब्रजभाषा § ८८) । अपभ्रश में प्राकृत परम्परा से स्वरों की विवृति की सुरक्षा हुई है, किन्तु ब्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ', हो जाता है । यह प्रवृत्ति कुछ अशों में हेम व्याकरण के प्राकृताश में भी दिखाई पड़ती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनाश में । 'ए' (८। १। १६६ < अयि) आओ (आयो = ब्रज ८। २६८ < आगत) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती । फिर भी लाण (४। ४४८ < लउण < लवण) तथा सोएवा (८। ४। ४३८ सउ < स्वय) तो (४। ३७६ < तउ < तत) । आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वर विवृति को हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हीं को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिकूलता । चौदह (८। १। १७१ < चतुर्दश) चौदसी (८। १। १७१ < चतुर्दशी) चाव्वारो (८। १। १७७ < चतुर्वार) यही चतुर्दश शब्द मुज के दाहे में 'चउदहसर' दिखाई पड़ता है । जो भी हो अपभ्रश की यह यह अइ अउ वाली प्रवृत्ति ही व्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पड़ती है ।

§ ५३ व्यजन की दृष्टि से ब्रजभाषा में लुठित सधोष 'ल्ह' सधाप अनुनासिक न्ह, न्ह आदि ध्वनियाँ मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं । इनका भी आरम्भ अपभ्रश के इन दोहों में दिखाई पड़ता है । उण्हउ (४। ३४२ < उण्ण) तुम्हेहि (४। ३७१ < *तुप्पे) अम्हेहि (४। ३७१ < *अप्पे) ण्हाणु (४। ३६६ < स्नान = न्दानो, ब्रज) । उल्हवड (४। ४१६ < उल्हसति) इसी तरह मेल्हइ < मेल्हइ (४। ४३०) का परवर्तों विकास हो सकता है 'ल्ह' का उच्चारण संभवतः मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिए उल्हस उल्हास, आदि परिवर्तन अपश्यभावी हो गए । मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुलनीय । (वर्णरत्नाकर § २२) ।

§ ५४ ब्रजभाषा में व्यजन द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यजन और परवर्तों स्वर का दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है । उदाहरण के लिए ब्रज में जूठो (जुट्ट < *जुठ या उच्छिष्ट) ठाकुर (< ठक्कुर अप०) डाढो (डड्ढा अप० < दग्ध) तीखो (तिक्खेइ अप० < तीक्ष्ण) आदि शब्दों में यह क्षतिपूर्क सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । अपभ्रश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्तों अपभ्रश में ज्यादा हुआ ।

ऊसासैंहि (४। ४३१ < उच्छवासे), ओहइह (४। ४१६ < अं उं < अपभ्रश्यते) दूसासणु (४। ३६१ < दुरपासणु < दुशासन) नीसरहि (४। ४३८ < निस्सरहि < नि सरति) नीसासु (४। ४३० < निस्सास < नि श्वास) सीह (४। ४१८ < सिंह) तासु (४। ३५८ < तत्स < तस्य) जासु (< जस्त < यत्य) कासु (किस्त < कस्य) । जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरम्भिक ब्रजभाषा में दिखाई पड़ता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्पूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते । प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (८। २। २२ < उत्सव), ऊससिरो (२। १४५ < उच्छवसनशील) ऊसारियो (२। २१ < उत्सारित) कासिवा (१। ४३ < कश्यप) दूहिया (१। १३ < दुखित) ।

तरह होता था (ब्रजभाषा § ८८) । अपभ्रंश में प्राकृत परम्परा से स्वरों की विवृति की सुरक्षा हुई है, किन्तु ब्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ', हो जाता है । यह प्रवृत्ति कुछ अंशों में हेम व्याकरण के प्राकृतश में भी दिखाई पड़ती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनांश में । 'ए' (दा १। १६६ < अयि) आओ (आयो = ब्रज दा २६८ < आगत) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती । फिर भी लण (४। ४४८ < लउण < लवण) तथा सोएवा (दा ४। ४३८ सउ < स्वय) तो (४। ३७६ < तउ < तत) । आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वर विवृति को हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हीं को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिकूलता । चौदह (दा १। १७१ < चतुर्दश) चौदसी (दा १। १७१ < चतुर्दशी) चाव्वारो (दा १। १७७ < चतुर्वार) यही चतुर्दश शब्द मुज के दाहे में 'चउदहसर' दिखाई पड़ता है । जो भी हो अपभ्रंश की यह यह अइ अउ वाली प्रवृत्ति ही ध्रन में ऐ और औ के रूप में दिखाई पड़ती है ।

§ ५३ व्यजन की दृष्टि से ब्रजभाषा में छुटित संधोष 'ल्ह' संधोष अनुनासिक म्ह, न्ह आदि ध्वनियाँ मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं । इनका भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों में दिखाई पड़ता है । उण्डउ (४। ३४२ < उण्ण) तुम्हेहि (४। ३७१ < *तुम्हे) अम्हेहि (४। ३७१ < *अम्हे) ण्हाणु (४। ३६६ < स्नान = न्दानो, ब्रज) । उल्हवड (४। ४१६ < उल्हसति) इसी तरह मेल्लह (४। ४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है 'ल्ह' का उच्चारण संभवतः मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिए उल्हास उल्हास, आदि परिवर्तन अपश्यमावी हो गए । मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुलनीय । (वर्णरत्नाकर § २२) ।

§ ५४ ब्रजभाषा में व्यजन द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यजन और परवर्ती स्वर का दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है । उदाहरण के लिए ब्रज में जूठो (जूट < *जुठ या उच्छिष्ट) ठाकुर (< ठक्कुर अप०) डाढो (डड्ढा अप० < दग्ध) तीखो (तिक्खेइ अप० < तीक्ष्ण) आदि शब्दों में यह क्षतिपूर्क सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । अपभ्रंश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रंश में ज्यादा हुआ ।

ऊसासैंहि (४। ४३१ < उच्छवासे), ओहह (४। ४१६ < अं उं < अपभ्रश्यते) दूसासणु (४। ३६१ < दुस्पासणु < दुशासन) नीसरहि (४। ४३८ < निस्सरहि < नि सरति) नीसासु (४। ४३० < निस्सास < नि श्पास) सीह (४। ४१८ < सिंह) तासु (४। ३५८ < तत्स < तस्य) जामु (< जस्त < यस्त) कामु (किस्त < कस्त) । जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रंश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरम्भिक ब्रजभाषा में दिखाई पड़ता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्पूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते । प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (दा २। २२ < उत्सव), ऊससिरो (२। १४५ < उच्छवसनशील) ऊसारियो (२। २१ < उत्सारित) कासिवा (१। ४३ < कश्यप) दूहिया (१। १३ < दु खित) ।

अध्ययन काफी महत्वपूर्ण और परवर्ती भाषा विकास की कतिपय उलभी हुई गुणियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्वपूर्ण विभक्ति 'हि' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनों कारकों में होता था।

(क) अगहि अगण मिलिउ (४। ३३२)करण

(ख) अद्धा बलया महिहि गउ (४। ४२२)अधिकरण

(ग) नवि उज्जाण यणैहि (४। ४२२)अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हि' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण अधिकरण में बल्कि कर्म और सम्प्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण वहाँ खड़ी बोली में प्राचीन विभक्तियों के अश्लिष्ट चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म-सम्प्रदान में 'को' 'के लिए' आदि के साथ 'हि' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हि' के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

(क) राषेहि सखी बतावत री (सूर० ३५५८)—कर्म

(ख) सूर हमहि पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म

(ग) राज दीन्हो उग्रसेनहि (सूर० ३४८५)—कर्म सम्प्रदान

(घ) ले मधुपुरिहि सिधारे (सूर० ३५६४)—अधिकरण

(ङ) घरथो गिरिवर बाम कर जिहि (सूर० ३०२७)—करण

न केवल ब्रजभाषा में ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है, साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट में तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डा० चाटुर्ज्या के शब्दों में काम चलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते हैं, इन अपभ्रंश ढोहा की भाषा में भी इस के प्रयोग में दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गए हैं। चतुथा और द्वितीया में इसने प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुथा-अर्थ में 'हि' का प्रयोग किया है।

तुहुं पुणु अन्नहि रेसि ४। ४२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हि' विभक्ति द्वारा चतुथा का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

§ ६१. हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी में 'अन्नहि' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१—पदों की सख्या, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर प्रथम संस्करण २००७ वि० के आधार पर दी गई है।

अध्ययन काफी महत्वपूर्ण और परवर्ती भाषा विकास की कतिपय उलभी हुई गुणधियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्वपूर्ण विभक्ति 'हि' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनों कारकों में होता था।

(क) अगहि अगण मिलिउ (४। ३३२)करण

(ख) अद्धा बलया महिहि गउ (४। ४२२)अधिकरण

(ग) नवि उज्जाण वणैहि (४। ४२२)अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हि' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण अधिकरण में बल्कि कर्म और सम्प्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण जहाँ खड़ी बोली में प्राचीन विभक्तियों के अवशिष्ट चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म-सम्प्रदान में 'कौ' 'के लिए' आदि के साथ 'हि' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हि' के कुछ उदाहरण उपरिष्ठित किये जाते हैं।

(क) रावेहि सखी बलावत री (सूर० ३५५८)—कर्म

(ख) सूर हमहि पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म

(ग) राज दोन्हो उग्रसेनहि (सूर० ३४८५)—कर्म सम्प्रदान

(घ) ले मधुपुरिहि मिधारे (सूर० ३५६४)—अधिकरण

(ङ) घरयो गिरिवर घाम कर जिहि (सूर० ३०२७)—करण

न केवल ब्रजभाषा में ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है, साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवर्ता अपभ्रंश या अवहट्ट में तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डा० चाटुर्ज्या के शब्दों में काम चलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते हैं, इन अपभ्रंश ढोहा की भाषा में भी इस के प्रयोग में दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गए हैं। चतुथा और द्वितीया में इसके प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुथा-अर्थ में 'हि' का प्रयोग किया है।

तुहु पुणु अन्नहि रेसि ४। ४२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्गों के भी 'हि' विभक्ति द्वारा चतुथा का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

६६१. हेम व्याकरण के अपभ्रंश ढोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी में 'अन्नहि' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१—पदों की सख्या, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर प्रथम संस्करण २००७ वि० के आधार पर दी गई है।

इसी का परवर्ती विकास 'में' के रूप में भी दिखाई पड़ता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उपरि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरी उपरि तृण घरेइ ४।३३४

इस उपरि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

१—मदन ललित बदन उपर वारि डारे (सूर० ८२३)

२—पुनि जहाज पै आवै (सूर० १६८)

३—आपुनि पौढ अघर सेज्या पर (सूर० १२७३)

सम्प्रदान के परसर्ग 'कहि' का 'कहै', 'कौं' आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तैं या त्यों के रूप में दिखाई पड़ता है। हेम व्याकरण में ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

१—तेहि तणेण (४। ४२५) करण

२—अह मग्गा अम्हह तणा (४। ३७६) सम्बन्ध

३—बहुतणहो तणेण (४। ४३७) सम्प्रदान

अपभ्रश में यह परसर्ग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध इन तीन कारकों में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ती विकास तणेण > तनैं, तैं के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में तैं और त्यों का प्रयोग होता है। ब्रज में इसका अपादान में भी प्रयोग होता है।

१—लच्छा गह तैं काटि कै (अपादान)

२—तुव सराप तैं मरिहैं (करण)

३—भीर के परै तैं घोर सबहिन तजी (करण)

तण का 'तन' प्रयोग ओर के अर्थ में भी चलता है। हम तन नहीं पेलत (२४८४) हमारी ओर नहीं देखते।

अपभ्रश के कारण का सहुँ परसर्ग बाद में सउँ > सौ के रूप में ब्रज में प्रयुक्त हुआ।

१—मह सहुँ नवि तिल तार (४। ३५६ हेम०)

२—जह पवसन्तैं सहुँ न गय (४। ३१६ हेम०)

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलतः सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तबतक प्रस्तुति नहीं हुआ था, बाद में इसने साथ सूचक से कर्तृत्व सूचक रूप ले लिया।

(१) कासौ कहै पुकारो (सूर ३६८७)

(२) हरि सौ मेरो मन अट्क्यो (सूर ३५८५)

(३) अब हरि कौने सौ रति बोरी (सूर ३३६१)

सर्वनाम—

§ ६३. हेम-व्याकरण-अपभ्रश के सर्वनामों में न केवल ऐसे रूप हैं जो ब्रजभाषा के सर्वनामों के निर्माण में सहायक हुए बल्कि कई ऐसे प्रयोग हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार के साधित सर्वनाम रूपों को जन्म दिया। ब्रजमें सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं बल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपों से बनते हैं। नीचे अपभ्रश और ब्रजभाषा में सर्वनामिक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउ और मइ के दो रूप हेम व्याकरण में प्राप्त होते हैं। हउ के १३ प्रयोग और मइ के १५

इसी का परवर्ती विकास 'में' के रूप में भी दिखाई पड़ता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उप्परि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरि उप्परि तृण घरेइ ४।३३४

इस उप्परि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

१—मदन ललित बदन उपर बारि ठारे (सुर० ८२३)

२—पुनि जहाज पै आवै (सुर० १६८)

३—आपुनि पौढ अधर सेज्या पर (सुर० १२७३)

सम्प्रदान के परसर्ग 'कहि' का 'कहै', 'कौं' आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तैं या त्यो के रूप में दिखाई पड़ता है। हेम व्याकरण में ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

१—तेहि तणेण (४। ४२५) करण

२—अह मग्गा अम्हह तणा (४। ३७६) सम्बन्ध

३—बहुतणहो तणेण (४। ४३७) सम्प्रदान

अपभ्रश में यह परसर्ग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध इन तीन कारकों में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ती विकास तणेण > तनें, तैं के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में तैं और त्यो का प्रयोग होता है। ब्रज में इसका अपादान में भी प्रयोग होता है।

१—लच्छा गृह तैं काटि कै (अपादान)

२—तुव सराप तैं मरिहैं (करण)

३—भीर के परै तैं घोर सबहिन तजी (करण)

तण का 'तन' प्रयोग और के अर्थ में भी चलता है। हम तन नहीं पेलत (२४८४) हमारी ओर नहीं देखते।

अपभ्रश के कारण का सहुँ परसर्ग बाद में सउँ > सौ के रूप में ब्रज में प्रयुक्त हुआ।

१—मह सहुँ नवि तिल तार (४। ३५६ हेम०)

२—जह पवसन्तैं सहुँ न गय (४। ३१६ हेम०)

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलतः सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तबतक प्रत्युत्पन्न नहीं हुआ था, बाद में इसने साथ सूचक से कर्तृत्व सूचक रूप ले लिया।

(१) कासों कहै पुकारी (सुर ३६८७)

(२) हरि चौ मेरो मन अट्क्यो (सुर ३५८५)

(३) अब हरि कौने सौ रति जोरी (सुर ३३६१)

सर्वनाम—

§ ६३. हेम-व्याकरण-अपभ्रश के सर्वनामों में न केवल ऐसे रूप हैं जो ब्रजभाषा के सर्वनामों के निर्माण में सहायक हुए बल्कि कई ऐसे प्रयोग हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार के साधित सर्वनाम रूपों को जन्म दिया। ब्रजमें सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं बल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपों से बनते हैं। नीचे अपभ्रश और ब्रजभाषा में सर्वनामिक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउ और मइ के दो रूप हेम व्याकरण में प्राप्त होते हैं। हउ के १३ प्रयोग और मइ के १५

- (३) घाड़ चक लै ताहि उबारयो (सूर)
- (४) अर्जुन गये गृह ताहि (सूर० सार०)
- (५) तासौ नेह लगायो (सूर)

वे,उन आदि रूपों के लिए भी हम अपभ्रंश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं—

- (१) तो बड़ा घर ओइ (४।३६४)
- (२) वे देखो आवत दोऊ नन (३६५४ सूर० सा०)
- (३) वह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामों की दृष्टि से ब्रजभाषा को सबसे बड़ी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसगों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है, ताकौ, वाकौ, जाकौ, ताने, वाने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पड़ता है।

जा वप्पों की मुइहड़ी (४।३६५)

इसी जा में को, सौं, तै आदि के प्रयोग से जाकौ, जातै, जासौ आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा संबन्धवाचक 'यद्' के अन्य भी रूप अपभ्रंश से ब्रज में आये। जिनमें जो (४।३३०) जेग (४।४१४) जास (४।३५२) जसु (४।३७०) जाह (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण हैं। इनके ब्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते हैं।

- (१) घर की नारि बहुत हित जासौ (सूर)
- (२) बासु नाम गुन गनत हृदय तैं (सूर)
- (३) जा दिन तैं गोपाल चले (४२६२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण (४।३५०) कवणु (४।३६५) कवणेण (४।३६७) क्रमशः कौन, कोनो और कवनें का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुये हैं।

- (१) कौन परी मेरे लालहि चानि (१८२६)
- (२) कौने बाघ्यो डोरी (सूर)
- (३) कहौ कौन पै कइत कनूकी (सूर)
- (४) किन नम बाघ्यो भोरी (सूर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६४. पुरुषवाचक और निब्रवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामोंको छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी बाद वाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण जाने माते हैं।

अइसो (४।००३ < ईदशः) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एवहु (४।४०८ < इयत्) तथा एत्तुलो (४।४०८ < इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एत्तुलो से एतौ, इती, इतनी, आदि।

- (१) एतौ हठि अब छांडि मानि री (सूर० ३२११)
- (२) तुम विनु एती को करै (ब्रज कवि)
- (३) ऊधौ इतनी कहियो जाइ (सूर० ४०५६)
- (४) ऐसो एक कोद को हेत (सूर० ४५३७)

- (३) धाइ चक लै ताहि उबारयो (सूर)
 (४) अर्जुन गये गृह ताहि (सूर० सार०)
 (५) तासौ नेह लगायो (सूर)

वे, उन आदि रूपों के लिए भी हम अपभ्रंश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं—

- (१) तो बड़ा घर ओइ (४।३६४)
 (२) वे देखो आवत दोऊ जन (३६५४ सूर० सा०)
 (३) वह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामों की दृष्टि से ब्रजभाषा की सबसे बड़ी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसगों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है, ठाकौ, वाकौ, जाकौ, ताने, वाने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पड़ता है।

जा वप्पी की मुइहडी (४।३६५)

इसी जा में को, सौं, तै आदि के प्रयोग से जाकौ, जातै, जासौ आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा संबन्धवाचक 'यद्' के अन्त्य भी रूप अपभ्रंश से ब्रज में आये। जिनमें ओ (४।३३०) जेग (४।४१४) जास (४।३५८) जतु (४।३७०) जाह (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण हैं। इनके ब्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते हैं।

- (१) घर की नारि बहुत हित जासौ (सूर)
 (२) जानु नाम गुन गनत हृदय तैं (सूर)
 (३) जा दिन तैं गोपाल चले (४२६२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण (४।३५०) कवणु (४।३६५) कवणै (४।३६७) क्रमशः कौन, कोनो और कवने का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुये हैं।

- (१) कौन परी मेरे ललहि वानि (१८२६)
 (२) कौने बाघ्यो डोरी (सूर)
 (३) कहौ कौन पै बड़त कनूकी (सूर)
 (४) किन नम बाघ्यो भोरी (सूर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६४. पुष्पवाचक और निबन्धवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामोंको छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी बाद वाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण जाने माते हैं।

अइसो (४।५०३ < ईदशः) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एवहु (४।४०८ < इयत्) तथा एतुलो (४।४०८ < इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एतुलो से एतौ, इतौ, इतनी, आदि।

- (१) एतौ हठि अब छांडि मानि री (सूर० ३२११)
 (२) तुम बिनु एतौ को करै (ब्रज कवि)
 (३) ऊधौ इतनी कहियो जाइ (सूर० ४०५६)
 (४) ऐसो एक कोद कौ हेत (सूर० ४५३७)

परम्परा की छोड़ दिया है। किन्तु ब्रज में वह पूर्णतः सुरक्षित है। केवल अन्तिम संप्रयुक्त शब्दों को संयुक्त करके अइ > ऐ या अउ > औ कर दिया जाता है।

(१) निच्छद रुसइ जामु (४।३५८)

निदिचै रुसै जामु

(२) तलि घल्लइ रयगाइं (४।३३४)

मातु पितु सकट घालै (सूर० ११३१)

(३) उच्छगि धरेइ (धरै) (४।३३६)

(४) जां गुण गोवइ अप्यणा

लाजनि अलियनि गोवै (सूर ६६५)

(५) इउ बलि किजउं (४।३३८)

(६) ही बलि जाउं (सूर० ७२३)

बहुवचन में प्रायः द्वि विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुम्भ समि राहु करहिं (४।३८२)

पूरी पक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में यही अहिं > अइं होकर ऐं हो जाता है जो चलें करें आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में ग-वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है किन्तु 'ह' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो प्यति > स्तइ > इइ > है के रूप में आए। अपभ्रंश में इइ वाले रूप प्राप्त होते हैं।

'निदप गमिही रत्तही' का ममिही गमिहै होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु अधिकारतः, जाइहै (गमिहै का रूपान्तर जाइहै) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक रूप दिये जाते हैं—हंदिइ (४।३३८ होइहै) हेमचन्द्र ने प्राकृतारा में स्पष्टतः भविष्य के लिए इदि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति डज्जिदिइ, डदिदिइ' (२।४।२४६)

इस डदिदिइ का रूप डदिहै ब्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उसी तरह पठिदिइ (अ० १७७ पदिहै)।

(घ) नन्य आर्य भाषाओं में सयुक्त क्रिया का अपना अलग दम का विकास हुआ है। भूत कृदन्त असामयिक क्रिया तथा क्रियार्थक क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपों की मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पदिम रडन्तउ जाइ (४।४४५)

कुछ कह्यो न जाइ (सूर)

तुम अलि कामों कहत बनाइ (सूर ३६१७)

भूतकालिक से—

मग्गा घर एन्तु (४।३५१)

नैना कह्यो न मानत (सूर)

बड़े बात माँगत उतराई (सूर)

परम्परा की छोड़ दिया है। किन्तु ब्रज में यह पूर्णतः सुरक्षित है। केवल अन्तिम संप्रयुक्त स्वरों को संयुक्त करके अइ > ऐ या अउ > औ कर दिया जाता है।

(१) निच्छद कूसइ जामु (४।३५८)

निदिचै रुमै जामु

(२) तलि घल्लइ खगाइं (४।३३४)

मातु वितु सकट घालै (सूर० ११३१)

(३) उच्छगि धरेइ (धरै) (४।३३६)

(४) जो गुण गोचइ अप्पणा

लाजनि अलियनि गोचै (सूर ६६५)

(५) इउ बलि किजउं (४।३३८)

(६) ही बलि जाउं (सूर० ७२३)

बहुवचन में प्रायः हि विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुम्ह समि राहु करहिं (४।३८२)

पूरी पक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में यही अहिं > अइं होकर ऐं हो जाता है जो चलें करें आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में ग-वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है किन्तु 'ह' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो प्यति > स्मइ > इइ > है के रूप में आए। अपभ्रंश में इइ वाले रूप प्राप्त होते हैं।

'निदृष्ट गमिही रत्तही' का ममिही गमिहै होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु अधिकारातः, जाइहै (गमिहै का रूपान्तर जाइहै) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक रूप दिये जाते हैं—होहिइ (४।३३८ होइहै) हेमचन्द्र ने प्राकृताद्य में स्पष्टतः भविष्य के लिए इहि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति डहिहिइ, डहिहिइ' (२।४।२४६)

इस डहिहिइ का रूप डहिहै ब्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उसी तरह पडिहिइ (अ० १७७ पडिहै)।

(घ) नव्य आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रिया का अपना अलग दग का विकास हुआ है। भूत कृदन्त असामयिका क्रिया तथा नियार्थक क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपों की मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पदिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)

कुछ कही न जाइ (सूर)

तुम अलि काशं कहत बनाइ (सूर ३६१७)

भूतकालिक से—

भगवा घर एन्तु (४।३५१)

नैना कह्यो न मानत (सूर)

बढ़े बात माँगन उतराई (सूर)

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोही में प्रयुक्त इन शब्दों की सख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्व को स्वीकार करके अलग देशीनाममाला^१ में इनका संकलन किया।

§ ६८. नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण तद्भव और देशज के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की संस्कृत व्युत्पत्ति भी हुई जा सकती है।

ओक्खल	१।१७७	ओखरी	(सूर० को० ^२ १७६)
कुम्पल	१।२६	कोपल और कोप	(सूर० को० ६५)
खाइ	४।४२४	खाई	चहुदिस खाई गहिर गभीर (प्र० चरित)
खोडि	४।४१६	खोरि, खुटि	मेरे नयननि ही सब खोरि (सूर)
गड्डो	२।३५	गड्डा	गड्डा, गड्ड (सूर० को० ३६८)
घुग्घिउ	४।४२३	घुडकी	घुघुआना (सूर० को० ४५६)
			दियौ तुरत नौवा कों घुरकी (१०।१८०)
चूडल्लउ	४।३६५	चूडी	(सूर० को० ५२३)
छइल्ल	४।४१२	छैला	छैलनि को सग यो फिरै (सूर १।४४)
छुच्छ	२।२०४	छुछा	छुछी छाडि मद्रकिया दधि की (१०।२६०)
			प्रश्न तुम्हारे छुछे
भुम्पडा	४।४१६	भोपडा	(सूर० को० ६८)
डाल	४।४४५	डाल, डार	एक डार के से तारे (३०५६) नवरग दूल्हा
			रास रच्यो (कुंभनदास ३८)
तिरिच्छी	४।४१४	तिरछी	तिरछै है जु अरै (सूर)
थू	२।२००	कुत्ताया निपातः	थूथू
थूणा	१।१२२	थूनी	बहु प्रयुक्त
नवल्ली	२।१६५	नवेली	नवेली मुनु नवल पिय नव निकुज है री
			(३०७१)
नवली	४।४२०	नोखी	कैसी बुद्धि रची है नोखी (सूर २।१६०)
पराई	४।३५०	परकीया	नारि पराई देखिकै (सूर० सा० २।१६५)
वण्णुडा	४।३८०	वापुरो	बहा वापुरो वचन कदली (कुंभन १६८)
लट्ठी	१।२४०	लाठी	लालों कबहु न छाडिये (गिरधरदास)
लोहडी	४।४२३	लुगरी	बहु प्रयुक्त लुगरी
विहाण	४।३३०	विहान	विहान, सवेरा
सलोणी	४।४२०	सलोनी	कहाँ तै आई परम सलोनी नारी
			(सूर० सा० २।१५६)

१. देशी नाममाला, द्वितीय संस्करण, स० श्री परवस्तु वैद्य रासानुजस्वामी, पूना, १९३८

२. वज्रभाषा सूर कोश, स० प्रेमनारायण देवदत्त, लखनऊ, २००७ सम्वत्

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोहों में प्रयुक्त इन शब्दों की संख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्व को स्वीकार करके अलग देशीनाममाला^१ में इनका संकलन किया।

§ ६८. नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण तद्धव और देशज के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की संस्कृत व्युत्पत्ति भी हुई जा सकती है।

ओखल	१।१७७	ओखरी	(सूर० को० ^३ १७६)
कुम्पल	१।२६	कोपल और कोय	(सूर० को० ६५)
खाइ	४।४२४	खाई	चहुदिस खाई गहिर गभीर (प्र० चरित)
खोडि	४।४१६	खोरि, खुटि	मेरे नयननि हो सन खोरि (सूर)
गड्डो	२।३५	गड्डा	गडहा, गड्ड (सूर० को० ३६८)
घुग्घिउ	४।४२३	घुडकी	घुघुआना (सूर० को० ४५६)
			दियौ तुरत नौवा कौ घुरकी (१०।१८०)
चूडल्लउ	४।३६५	चूडी	(सूर० को० ५२३)
छइल्ल	४।४१२	छैला	छैलनि को संग यो फिरै (सूर १।४४)
छुंछु	२।२०४	छुंछा	छुंछी छाडि मटकिया दधि की (१०।२६०)
			प्रश्न तुम्हारे छुंछे
भुम्पडा	४।४१६	भोपडा	(सूर० को० ६८)
डाल	४।४४५	डाल, डार	एक डार के से तारे (३०५६) नवरंग दूल्हा
			रास रच्यो (कुंभनदास ३८)
तिरिच्छी	४।४१४	तिरछी	तिरछै है जु अरै (सूर)
थू	२।२००	कुत्साया निपातः	थूथू
थूणा	१।१२२	थूनी	बहु प्रयुक्त
नवल्ली	२।१६५	नवेली	नवेली मुनु नवल पिय नव निकुंज है री
			(३०७१)
नवखी	४।४२०	नोखी	कैसो बुद्धि रची है नोखी (सूर २।१६०)
पराई	४।३५०	परकीया	नारि पराई देखिकै (सूर० सा० २।१६५)
वप्पुडा	४।३८०	वापुरो	कहा वापुरो वंचन कदली (कुंभन १६८)
लट्ठी	१।२४०	लाठी	लाठी कबहु न छाडिये (गिरधरदास)
लोहडी	४।४२३	लुगरी	बहु प्रयुक्त लुगरी
विहाण	४।३३०	विहान	विहान, सवेरा
सलोणी	४।४२०	सलोनी	कहाँ तै आई परम सलोनी नारी
			(सूर० सा० २।१५६)

१. देशी नाममाला, द्वितीय संस्करण, सं० श्री परवस्तु वैकट रामानुजस्वामी, पूना, १९३८

२. व्रजभाषा सूर कोश, सं० प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ, २००७ सम्बत्

गुत्ती	२।११०	शिरोबन्धनम् । पाटाम्बर गाती सब दिये (सूर)
गोच्छा	२।६५	गुच्छा (सूर० को० ४००)
गोहरं	२।६६	गोहरा (सूर० को० ४३४)
घग्घरं	२।१०७	जवनस्थ वल्लभेदः घघरा मोहन मुसुकि गद्दी दौरत में छूटी तनी छुद रहित घाघरी (२६३६)
घट्टो	२।१११	नदीतीर्थम् । घाट खर्यों तुम यदै जानि के (सूर)
घम्मोह	२।१०६	गुण्डुत्सहृणम् (सूर० कोश ४४६)
चग	३।१	चगा, ठीक, । रही रीझ वह नारि चगी (सूर)
चाउला	३।८	चावल, ब्रज० चाउर (सूर० कोश० ४६६)
चोटी	३।१	चोटी, मैया कब बढिदै मेरी चोटी (सूर)
छइल्लो	३।२४	छैला, छैलनि के संग या फिरै जैसे तनु संग छाई (सूर० १।४४)
छलियो	३।२४	छलिया, जिन चलनि छलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छांछ, भये छाछ के दानी (३३०२)
छिण्णाली	३।२६	छिनाल, जारः । चोरी रही छिनारौ अब भयो (सूर, ७७३)
भखो	३।५३	भंख, भखत यशोदा जननी तीर (१०।१६१)
भडी	३।५३	निरन्तरवृष्टिः, (सूर० को० ६४८) ब्रजपर गई नेक न भारि (६७३)
भाड	३।५७	लतागहनम् (सूर को० ६५१)
भिल्लिरिआ	३।६२	भिल्ली (सूर को० ६६१)
भोलिआ	३।५६	भोली, बटुआ भोरी दोऊ अधारा (३२८४)
ढल्लो	४।५	निर्धनः, बेकार, ऐसी को ढाली वैसी है तों सौ मूड चयवै (३२८७)
डोरा	४।११	शिविका, (सूर को० ७२४)
दोरो	३।५८	खनम्, डोरा । तोरि लयौ बटिहू को डोरो (सूर २।३०)
पप्पीओ	६।१३	बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे (सूर)
पग्गु	६।८२	पाग, हरि सग खेलन पागु चली (सूर० २१८३)
बप्पो	६।८८	बाप, बाबा । बाबा मों कौ दुहुन सिखायो (सूर १२८५)
वाउल्लो	७।५६	वावरी, वावरी वावरे नैन, वावरी बहों धो अब बाँसुरी सौ तू लरै (सूर १६०८)

§ ७०. इस प्रसंग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए । अपभ्रंश में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण देशी क्रियाओं का इस्तेमाल हुआ है, जो

गुत्ती	२।११०	शिरोबन्धनम् । पाटाम्बर गाती तत्र दिये (सूर)
गोन्छा	२।६५	गुन्छा (सूर० को० ४००)
गोहरं	२।६६	गोहरा (सूर० को० ४३४)
घग्घरं	२।१०७	जवनस्थ वस्त्रभेद : घघरा मोहन मुसुकि गही दौरत में छूटी तनी छुद रहित घाघरी (२६३६)
घट्टो	२।१११	नदीतीर्गम् । घाट एर्यों तुम यदै जानि के (सूर)
घम्मोह	२।१०६	गुण्डुत्सहतृणम् (सूर० कोश ४४६)
चग	३।१	चगा, ठीक, । रही रीझ वह नारि चगी (सूर)
चाउला	३।८	चावल, ब्रज० चाउर (सूर० कोश० ४६६)
चोटी	३।१	चोटी, मैया कब बढिहै मेरी चोटी (सूर)
छइल्लो	३।२४	छैला, छैलनि के संग या फिरै जैसे तनु संग छारै (सूर० १।४४)
छलियो	३।२४	छलिया, जिन चपनि छलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छाँछ, भये छाँछ के दानी (३३०२)
छिण्णालो	३।२६	छिनाल, जारः । चोरी रही छिनारौ अब मयो (सूर, ७७३)
भल्लो	३।५३	भंल, भल्लत यशोदा जननी तीर (१०।१६१)
भडो	३।५३	निरन्तरवृष्टिः, (सूर० को० ६४८) ब्रजपर गई नेक न भारि (६७३)
भड	३।५७	भ्रातागहनम् (सूर को० ६५१)
भिल्लिरिआ	३।६२	भिल्ली (सूर को० ६६१)
भोलिआ	३।५६	भोली, बटुआ भोरी दोऊ अधारा (३२८४)
ढल्लो	४।५	निर्धनः, बेकार, ऐमी को ढाली वैसी है तौं सौ मूड चगवै (३२८७)
डोला	४।११	शिविका, (सूर को० ७२४)
ढोरो	३।५८	सूत्रम्, डोरा । तोरि लयौ कटिहू को डोरी (सूर २।३०)
पपीओ	६।१३	बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे (सूर)
पागु	६।८२	पाग, हरि सग खेलन पागु चली (सूर० २१८३)
बप्पो	६।८८	बाप, बाबा । बाबा मों को दुहुन सिलायो (सूर १२८५)
वाउल्लो	७।५६	वावरी, वावरी वावरे नैन, वावरी कहीं धो अब बाँमुरी सौ तू लरै (सूर १६०८)

§ ७०. इस प्रसंग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए । अपभ्रंश में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देशी क्रियाओं का हस्तेमाल हुआ है, जो

इस पंक्ति में मेह और बड़वानल दोनों का प्रयोग में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ सतुलनात्मक प्रयोग उपस्थित किये जाते हैं—

प्रथमा—

- (१) कायर एम्ब भणन्ति (४।३७७)
- (२) घण मेल्लह नोमासु (४।४३०)
- (३) मोहन जा दिन वनहि न जात (सूर० ३२०२)
- (४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुमन० २१८)

द्वितीया—

- (१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८६)
- (२) नइ पुच्छइ घर नड्डाइ (४।३६४)
- (३) पल लिहिआ भुजन्ति (४।३३५)
- (४) निरखि कोमल चारु मूरति (सूर० ३०३६)
- (५) काहे बाधति नादिन छूटे केस (कुमन ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में अधिकरण में इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे तालि, यडि, घरि आदि ये रूप उच्चारण सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गए या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पड़ते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, द्वारै, आदि रूपान्तर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। पट्टी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारका का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्या स्थाने पट्टी मयति। मुणिस्स, मुणीम देइ, नमो देवस्स।^१ यही नहीं द्वितीया के लिए भी पट्टी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।^२ प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रंश में

१ चतुर्थ्या पट्टी हेमव्याकरण ८।३।१३१

२. पट्टी कचिद् द्वितीयादे १३।१३४ द्वितीयातृतीयायो सप्तमी ३।१३५

पञ्चम्यास्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

इस पंक्ति में मेह और बडवानल दोनों का प्रथमा में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ सन्तुलनात्मक प्रयोग उपस्थापित किये जाते हैं—

प्रथमा—

- (१) कायर एम्ब भणन्ति (४।३७७)
- (२) धरु मैलह नोसासु (४।४३०)
- (३) मोहन जा दिन बनहि न जात (सूर० ३२०२)
- (४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुमन० २१८)

द्वितीया—

- (१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८६)
- (२) बइ पुच्छइ घर नड्डाइ (४।३६४)
- (३) फल लिहिआ भुजन्ति (४।३३५)
- (४) निरलि कोमल चारु मूरति (सूर० ३०३६)
- (५) काहे बाधति नादिन छूटे नेस (कुमन ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में अधिकरण में इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे तालि, यडि, घरि आदि ये रूप उच्चारण सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गए या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पड़ते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, द्वारै, आदि रूपान्तर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। पष्ठी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारका का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्या स्थाने पष्ठी भवति। मुणिस्स, मुणीम देइ, नमो देवस्म।^१ यही नहीं द्वितीया के लिए भी पष्ठी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।^२ प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रंश में

१ चतुर्थ्या पष्ठी हेमव्याकरण ८।३।१३१

२ पष्ठी कचिद् द्वितीयादे १३।१३४ द्वितीयातृतीयायो सप्तमी ३।१३५

पञ्चम्यास्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

दोहों, जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पड़ती है।¹

- (१) पर भुजगहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
- (२) त अक्खणह न जाइ (४।३५० हेम०)
- (३) न धरणउ जाइ (स० रा० ७१ क)
- (४) कहणु न जाइ (स० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

- (१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
- (२) कह्यु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
- (३) सोभा वरनि न जाइ (कुभन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी नजदीक मान्य होती है। मार्दव, सत्तेप, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश	ब्रज
(१) अगहि अग न मिलिउ ४।३३२	(१) अगहि अग न मिल्यो
(२) हउ किन जुत्यउ दुहु दिसिहि ४।३४०	(२) ही किन जुत्यो दुहुँ दिसहिं
(३) वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ स्वहि हयास ४।३८२	(३) पपीहा पिउ पिउ भनि कित्ती रुवै हतास
(४) जइ ससणेही तो मुखइ जइ जीवइ विन्नेह ४।३६७	(४) जो ससनेही तो मुखै जो जीवै विनु नेह
(५) वप्पीहा कहै बोलिऐण निग्धिण वारइ वार साथरि भरिया निमल जल लहर न एकइ धार ४।३८२	(५) पपीहा कै बोलिऐ निर्घृण वारहि वार सागर भरियो विमल जल लहै न एकौ धार
(६) साय सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गण्डि ४।४२०	(६) साय सलोनी गोरी नोखी बिसकै गाठि

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पत्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

1 The use of the infinitive with *ण* (or and interrogative particle) and *जाइ* to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa. We find this construction in Hemchandra's illustrative stanzas and in the Parmatma Prakasa of Joidu. The idiom is current in Modern Languages.

दोहों, जोरन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति पर्यन्त भाषा में भी दिखाई पड़ती है।^१

- (१) पर भुजगहि न जाइ (४।४४१ हेम०)
- (२) त अक्खणह न जाइ (४।३५० हेम०)
- (३) न धरणउ जाइ (स० रा० ७१ क)
- (४) कहणु न जाइ (स० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

- (१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
- (२) कह्यु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
- (३) सोभा वरनि न जाइ (कुभन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी नजदीक मान्य होती है। मार्दव, सत्त्व, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश

ब्रज

- | | |
|---|---|
| (१) अगहि अग न मिलिउ ४।३३२ | (१) अगहि अग न मिल्यो |
| (२) हउ किन जुत्यउ दुहु दिसिहि ४।३४० | (२) हौ किन जुत्यो दुहुँ दिसहिँ |
| (३) वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ
स्वहि दयास ४।३८२ | (३) पपीहा पिउ पिउ भनि किन्ती रुवै
हतास |
| (४) जइ ससणेही तो मुवइ जइ जीवइ
विजेइ ४।३६७ | (४) जो ससनेही तो मुवै जो जीवै
विनु नेइ |
| (५) वप्पीहा कइ वोल्हिएण निम्घिण
बारइ बार
सायरि भरिया विमल जल लहर न
एकइ घार ४।३८२ | (५) पपीहा कै वोल्हिए निर्घण बारहि बार
सागर मरियो विमल जल लहै न एकौ धार |
| (६) साय सलोणी गोरडी नवखी कवि
विस गहिठ ४।४२० | (६) साय सलोनी गोरी नोखी बिसकै गाठि |

इस प्रकार की अनेक श्रद्धालियाँ, पत्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

1 The use of the infinitive with *ण* (or and interrogative particle) and *जाइ* to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa. We find this construction in Hemachandra's illustrative *stanzas* and in the *Parmatma Prakasa* of Jondru. The idiom is current in Modern Languages.

संक्रान्तिकालीन व्रजभाषा

(विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक)

§ ७२. आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था । प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि आचार्य अब भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनाये करते थे । रचनाओं का यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक चलता रहा । हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ थोड़े से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है । प्राकृत पिंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डा० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है : हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी ईस्वी (स० ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं ।^१ डा० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता । हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखने वाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता ठीक नहीं समझते । डा० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अवश्य ही विचारणीय है । वे आगे लिखते हैं—“जिस भाषा में पिंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था को केवल एक, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्धृत कर सकता

१. तेसीतोरी; पुरानी राजस्थानी, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५६ ई०,

संक्रान्तिकालीन व्रजभाषा

(विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक)

§ ७२. आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था । प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि आचार्य अप भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनाये करते थे । रचनाओं का यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक चलता रहा । हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ थोड़े से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है । प्राकृत पैंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डा० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है : हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी ईस्वी (स० ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं ।^१ डा० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता । हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखने वाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता ठीक नहीं समझते । डा० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अवश्य ही विचारणीय है । वे आगे लिखते हैं—“जिस भाषा में पैंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था को केवल एक, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्धृत कर सकता

१. तेसीतोरी; पुरानी राजस्थानी, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५६ ई०,

पूर्व-कवि प्रयोग, प्रतीति वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग निःसंदेह प्राकृत भाषाओं के विवरण में आया है अतः इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करते हुए श्री दिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्राकृत मानी जाती है इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ अपभ्रंश के लिए मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में वहीं भी अपभ्रंश को भाषा नहीं कहा है और न तो उसे वे लोक भाषा ही कहते हैं। अतः 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तया.' आदि का अर्थ दूसरा ही है यह तत्कालीन अपभ्रंशोत्तर देशभाषाओं की ओर संकेत है।

३—तीसरे प्रमाण के लिये श्री दिवेतिया ने प्राकृत या द्रघाश्रयकाव्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर संकेत मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि प्राकृतों के समय में भी लोक-भाषाओं की एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतों के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओं के सुलभभाव के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश को प्राकृतों के साथ एकत्र करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नहीं मान्य होता क्योंकि प्राकृतों के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे संभवतः अपभ्रंश ही थी। दिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जोरदार मान्य होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके हैं। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे सस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की सगति को पदों या वाक्य खण्डों में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणों को न समझने तो सस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नये उदाहरण हूँद लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम या समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी सस्कृत और प्राकृत आकर ग्रन्था तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक-भा चढ़ाते थे उनके नियमों को न समझने'। गुलेरी जी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष संभवतः अपने समय में उपलब्ध अपभ्रंश की सामग्री को देखते हुए निकाला था, अपभ्रंश के भी पचीसों आकर ग्रन्थ श्वेताम्बर जैन साधुओं की अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरी जी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती रुढ अपभ्रंश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश को तो वे अपभ्रंश नहीं पुरानी हिन्दी मानते हैं। वे स्पष्टतया कहते हैं : 'विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई'। इस प्रकार गुलेरी जी के मत से भी अपभ्रंश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० २००५, पृ० २६-३०

२. वही, पृ० ८।

पूर्व-कवि प्रयोग, प्रतीति वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग निःसंदेह प्राकृत भाषाओं के विवरण में आया है अतः इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करने हुए भी दिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्राकृत मानी जाती है इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ अपभ्रंश के लिए मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में वहीं भी अपभ्रंश को भाषा नहीं कहा है और न तो उसे वे लोक भाषा ही कहते हैं। अतः 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तया.' आदि का अर्थ दूसरा ही है यह तत्कालीन अपभ्रंशोत्तर देशभाषाओं की ओर संकेत है।

३—तीसरे प्रमाण के लिये भी दिवेतिया ने प्राकृत या द्रव्याश्रयकाव्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि भर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर संकेत मिलता है, यह भी सात होता है कि प्राकृतों के समय में भी लोक-भाषाओं की एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतों के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओं के सुलभत्व के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश को प्राकृतों के साथ एकत्र करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नहीं मान्य होता क्योंकि प्राकृतों के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे संभवतः अपभ्रंश ही थी। दिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जोरदार मान्य होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके हैं। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे सस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की सगति को पदों या वाक्य खण्डों में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणों को न समझने तो सस्कृत और किताबी प्राकृत का बाङ्गमय उनके सामने था, नये उदाहरण ढूँढ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम या समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी सस्कृत और प्राकृत आकर ग्रन्थ तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक-भा चढ़ाते थे उनके नियमों को न समझने'। गुलेरी जी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष संभवतः अपने समय में उपलब्ध अपभ्रंश की सामग्रियों को देखने हुए निकाला था, अपभ्रंश के भी पचीसों आकर ग्रन्थ श्वेताम्बर जैन साधुओं की अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरी जी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती रुढ़ अपभ्रंश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश को तो वे अपभ्रंश नहीं पुरानी हिन्दी मानते हैं। वे स्पष्टतया कहते हैं : 'विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई'। इस प्रकार गुलेरी जी के मत से भी अपभ्रंश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० २००५, पृ० २६-२७

२. वही, पृ० ८।

राजस्थानी चरणों की पिंगल कृतियों आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु श्रौतिक ग्रंथों, उत्ति-यत्ति, बालावबोध, उत्तिरलाकर और अन्य स्रोतों से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रुढ़ होकर १७वीं तक एकदम समाप्त हो गई जब कि दूसरी शैली १४वीं शताब्दी से आरम्भ होकर ब्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित ब्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। आगे इन दोनों शैलियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७६ शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ट शब्द में स्वयं कोई ऐसा सकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाच्य में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर' (१३२५ ईस्वी) विद्यापति की 'कीर्तिलता' (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती के अद्दहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषात्रयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

अवहट्टय सकय पाइयमि पेसायमि भासाए
लखण छन्दाहरेण सुकइत भूसिय जेहि
ताण उणु कईण अम्हारिसाण सुइसइसत्थ रहियाण
लखछन्द पमुक्क कुकवित को प ससेइ ।

(स० रा० ६-४७)

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ट का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत अलंकारियों ने एकाधिक बार किया है। पट्टभाषा प्रसंग में संस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मल्ल कवि के श्रोकठ चरित की टीका से पता चलता है कि छ भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश) मागधी, पेशाची की गणना होती थी।

संस्कृत प्राकृत चैव शूरसेनी तदुद्भवा ।
ततोऽपि मागधा प्राग्वत् पेशाची देशजापि च ॥

१. पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ट पेशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा
क तत्त्वज्ञ, शकारो, आभिरो, चाडाली, सावली, दाविली, ओतकली विनातिया
सातहु उपभाषाक कुशलह । वर्णरत्नाकर ५५ ख

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और चतुभा मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०

२ सकय बाणी बुहजन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बभता सबजन मिट्ठा, त तैसन जम्पओ अवहट्टा

(कीर्तिलता १।१६-२२)

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०

राजस्थानी चरणों की पिंगल कृतियों आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु श्रौतिक ग्रंथों, उत्ति-यत्ति, चालावबोध, उत्तिरत्ताकर और अन्य स्रोतों से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रुढ़ होकर १७वीं तक एकदम समाप्त हो गई जब कि दूसरी शैली १४वीं शताब्दी से आरम्भ होकर व्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित व्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। आगे इन दोनों शैलियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७६ शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ट शब्द में स्वयं कोई ऐसा सकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाच्य में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर' (१३२५ ईस्वी) विद्यापति की 'कीर्तिलता' (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती के अद्दहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषातयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

अवहट्टय सकय पाइयमि पेसायमि भासाए
लखण छन्दाहरेण सुकइत भूसिय जेहि
ताण उणु कईण अम्हारिसाण सुइसइसथ रहियाण
लखछन्द पमुक्क कुकवित को प ससेइ।

(स० रा० ६-४७),

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ट का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत अलंकारियों ने एकाधिक बार किया है। पट्भाषा प्रसंग में संस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मूल कवि के श्रोक्ठ चरित की टीका से पता चलता है कि छ भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश) मागधी, पेशाची की गणना होती थी।

संस्कृत प्राकृत चैव शूरसेनी तदुद्भवा ।
ततोऽपि मागधा प्राग्वत् पेशाची देशजापि च ॥

१. पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ट पेशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा
क तत्त्वज्ञ, शकारी, आभिरी, चाडाली, सावली, दाविली, ओतकली विनातिया
सातहु उपभाषाक कुशलह । वर्णरत्नाकर ५५ ख

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्पा और चतुभा मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०

२ सकय बाणी बुहजन भावइ, पाठअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वचना सबजन मिट्ठा, त तैसन जम्पओ अवहट्टा

(कीर्तिलता १११६-१२)

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०

वशीधरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अभ्रश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नये आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रचल दिखाई पड़ती है, सत्कृत, प्राकृत और अभ्रश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्यगठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वशीधर के सन्नेत से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वशीधर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अभ्रश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैसा कि अभ्रश शब्द का विकसित रूप है, क्यों १० शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अभ्रश कहते थे। अभ्रश में निहित 'च्युति' को सन्देह करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयम्भू,^१ पुष्पदन्त,^२ जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देशी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अभ्रश नाम का कम से कम प्रयोग किया। सत्कृत आलंकारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अभ्रश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अभ्रश अवहट्ट हो गया, प्रयोग में आते आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अभ्रश विकसित होकर राष्ट्रभाषी हुई और उत्तका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ट कहा जाने लगा। परवर्ती अभ्रश प्राकृत प्रमाण से सिद्धित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियों अदहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रगट्ट से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अभ्रश नहीं अवहट्ट यानि एक सौंदी और बाद की भाषा कहा।^३

§ ७७. शौरसेनी अभ्रश का अप्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में गिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही गिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक सन्नेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अभ्रश (अवहट्ट) और गिंगल के भाषा तत्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही गिंगल है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्जी ने लिखा है कि 'शौरसेनी अभ्रश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अभ्रश १००० ईस्वी और व्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

१. दीह समास पवाहा वक्रिय, सकय पायय पुलिगा लक्रिय

देसी भाषा उभय तहुजल कविदुष्टर घग सह सिलायल (पउमचरिड)

२. वायरणु देसि सदथ गाड (पासगाहचरिड)

ण विगयामि देसी (महापुराण)

३. अवहट्ट सबंधी विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य - लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, माहित्य भवन, प्रयाग, १९५५ ई०

वशीधरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता देखाकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अभ्रश यहाँ तक कि हेमचन्द्र ने दोहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नय आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है, सत्सुत, प्राकृत और अभ्रश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसगों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्यगठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वशीधर के सन्नेत से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वशीधर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अभ्रश के बाद की स्थिति का सन्नेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैसा कि अभ्रश शब्द का विकसित रूप है, क्यों १० शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अभ्रश कहते थे। अभ्रश ने निहित 'च्युति' को सञ्चय करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयम्भू, पुष्पदन्त, जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देशी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अभ्रश नाम का कम से कम प्रयोग किया। सत्सुत आलंकारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अभ्रश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अभ्रश अवहट्ट हो गया, प्रयोग में आते आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अभ्रश विकसित होकर राष्ट्रभाषी हुई और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ट कहा जाने लगा। परवर्ती अभ्रश प्राकृत प्रभाव से मिश्रित एक रुढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियों अदहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देविसुवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाद से अभिपिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अभ्रश नहीं अवहट्ट यानि एक सौदी और बाद की भाषा कहा।³

§ ७७. शौरसेनी अभ्रश का अप्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में गिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही गिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक सन्नेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अभ्रश (अवहट्ट) और गिंगल के भाषा तत्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही गिंगल है। डा० सुनीतिङ्गुमार चाटुर्जी ने लिखा है कि 'शौरसेनी अभ्रश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अभ्रश १००० ईस्वी और ब्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

१. दीह समास पवाहा वक्रिय, सकय पायय पुलिगा लक्रिय

देशी भाषा उभय तहुजल कविदुकर घण सह सिलायल (पञ्चमचरित)

२. बायरणु देसि सदय गाड (पासगाहचरित)

ण विगयामि देशी (महापुराण)

३. अवहट्ट सबंधी विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य - लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, माहित्य भवन, प्रयाग, १९५५ ई०

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही हैं अतएव पिंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।^१ ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को ब्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।^२ श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्री जी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्री जी ने अल्लू जी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।^३ किन्तु शास्त्री जी ने भी भाषा की बात नहीं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डगल कही जाती रही होगी, बादमें पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्री जी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतोरि ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अद्भुत शब्द रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल।^४ ढोला मारू रा दूहा के सम्पादक गण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं : डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब ब्रजभाषा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वाच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार ब्रज या ब्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलाई। आगे चलकर उसके नाम साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।^५ इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुलनात्म्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववर्तता बताया गया है।

§ ७९. डा० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों की परस्पर विरोधी विचार शृङ्खला में साम्य की कोई गुञ्जाइश नहीं मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रता-जन्य और प्रमाणहीन मान्य होना है। यदि डिंगल काव्य ब्रजभाषा से प्राचीन है और बाद में ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गई जिसके लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गई। 'ब्रजभाषा में काव्य रचना होने के

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संशोधित सं०, १९५४, पृ०

१३६-४०

२. पिलीमिनेरी रिपोर्ट आन द आपरेशन इन सर्व भाव मैनुस्क्रिप्ट्स आव बॉर्डिंग क्रोमकिलस, पेज १५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७

४. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी अव बेंगल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७६

५. ढोला मारू रा दूहा, काशी, संवत् १९९१, पृ० १६०

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही हैं अतएव पिंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।^१ ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को ब्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।^२ श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्री जी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्री जी ने अल्लू जी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।^३ किन्तु शास्त्री जी ने भी भाषा की बात नहीं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डगल कही जाती रही होगी, बादमें पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्री जी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतोरी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अद्भुत शब्द रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल।^४ ढोला मारू रा दूहा के सम्पादक गण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं : डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब ब्रजभाषा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वाच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार ब्रज या ब्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलाई। आगे चलकर उसके नाम साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।^५ इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववता बताया गया है।

६७९. डा० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों की परस्पर विरोधी विचारशृङ्खला में साम्य की कोई गुञ्जाइश नहीं मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रता-जन्य और प्रमाणहीन मान्य होता है। यदि डिंगल काव्य ब्रजभाषा से प्राचीन है और बाद में ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गई जिसके लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गई। 'ब्रजभाषा में काव्य रचना होने के

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संशोधित सं०, १९५४, पृ० १३६-४०

२. विलीमिनेरी रिपोर्ट आन द आपरेशन इन सर्व आब मैनुस्क्रिप्ट्स आब वॉर्डिक क्रोनिकलस, पेज १५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७

४. जर्नल आब दि एशियाटिक सोसाइटी अव बेंगल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७६

५. ढोला मारू रा दूहा, काशी, सन् १९६१, पृ० १६०

अपभ्रंश में भी । किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद सम्बन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया । केवल गाहा कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा । अपभ्रंश कालमें उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था । परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में काव्य-रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड़ गया । अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ ।

'दब्बसहायपयास' यानी 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' के कर्ता माहल्लधवल ने किमी शुभकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था—

दब्बसहायपयास दोहयवधेन भासिज दिहुं
त गाहाबन्धेन च रह्य माहल्लधवलेण ।
सुनियउ दोहरत्य सिग्ध हसिउण सुहकरो भणइ
एत्थ ण सोहइ अयो साहावधेण त भणइ ॥

प्राकृत को आर्य या धर्म वाली समझने वाले शुभकर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक भी चढ़ाना उचित ही था । भला कौन कट्टर धर्म प्रेमी बर्दास्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय । यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर सनेत स्पष्ट है । प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसङ्ग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपस में होड़ा होड़ी करते हैं जिसे लेखक ने 'दोहाविद्या स्पर्धमानो' कहा है । उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक सौरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है ।^१ परवर्ती काल में 'रेखता' छन्द में लिखी जाने वाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेखता' भाषा कहा गया । 'रेखते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेखता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है । इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं ।

ई ८२ व्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है । यह भगडा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खड़ा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो । जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में व्रज मिश्रित (पछाही) खड़ी हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खड़ी बोली में हो ही नहीं सकती थी, ऐसी मान्यता थी उस काल के लेखकों की । बहुत पहले मध्ययुग में भी व्रजभाषा के घर में यही भगडा हुआ था । उस समय व्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकांशतः) की भाषा थी जब कि उसी का किञ्चित् परवर्ती भजा हुआ रूप परवता शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी । शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस सन्ध पर हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके हैं । मध्यकाल के अंतिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छा गया था । बंगाल के सिद्धा के दाहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं । इस काल में यही भाषा छन्द

अपभ्रंश में भी। किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य सम्बन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाहा कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश कालमें उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में काव्य-रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड़ गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'दब्बसहायपयास' यानी 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' के कर्ता माहल्लधवल ने किमी शुभकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था—

दब्बसहायपयास दोहयवधेन आसिज दिहुं
त गाहाबन्धेन च रदय माहल्लधवलेण ।
सुणियड दोहरत्य सिग्ध हसिउण सुहकरो भणइ
एत्थ ण सोहइ अयो साहावधेण त भणइ ॥

प्राकृत को आर्य या धर्म वाणी समझने वाले शुभङ्कर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक भी चढ़ाना उचित ही था। मला कौन कट्टर धर्म प्रेमी बर्दास्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर सनेत स्पष्ट है। प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसङ्ग में दो माया-अपभ्रंश कवि आपस में होड़ा होड़ी करते हैं जिसे लेखक ने 'दोहाविद्या स्पर्धमानो' कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक सोरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है। परवर्ती काल में 'रेखता' छन्द में लिखी जाने वाली आरम्भिक हिन्दो को 'रेखता' भाषा कहा गया। 'रेखते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेखता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

§ ८२ व्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह भगडा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खड़ा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में व्रज मिश्रित (पछाही) खड़ी हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खड़ी बोली में हो ही नहीं सकती थी, ऐसी मान्यता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी व्रजभाषा के घर में यही भगडा हुआ था। उस समय व्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकांशतः) की भाषा थी जब कि उसी का किञ्चित् परवर्ती मजा हुआ रूप परवता शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस सन्ध पर हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके हैं। मध्यकाल के अंतिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छा गया था। बगाल के सिद्धा के दाहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इस काल में यही भाषा छन्द

नागवानी क्या थी, विंगनचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शास्त्र का क्या प्रणयन किया ? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तर हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता । नाग लोग पाताल के रहने वाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया । मध्यकाल के कथाख्यानों में नाग जाति के पुरुषों और विशेषकर नाग-कन्याओं के साथ अस्तरय निज-घरी कथाएँ लिखी हुई हैं । नाग-जाति के मूल स्थान के बारे में काफी विवाद है । पाताल सम्भवतः कश्मीर के पाददेश का नाम था ।^१ वेदां में इस जाति का नाम नहीं आता । मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर आने वाला कई जानिया में एक नाग भाषा थी । महाभारत के निमाण तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था । जातक कथाओं में भी नाग जाति के सम्पर्क भरे पड़े हैं । गौतम बुद्ध के बधि सम्प्राप्ति के समय उत्थित ज्ञान में नागराज मुचिन्दि ने उनकी रक्षा की । पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुत-से छूटे-छूटे राजे अपने को नागों का वंशज बताने हैं ।^२ इस प्रकार लगता है कि नागों की एक अर्थ कथाना जीवन बिताने वाली घूमन्तु जाति थी, आभार, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्व है । ब्रजभाषा में मिश्रित होने वाले अन्य भाषिक तत्वों की खोज करने हुए भिवादीदास काव्य निर्णय में नाग भाषा का भी उल्लेख करते हैं—

ब्रजभाषा भाषा रचिर कहै सुमति सब कोइ
मिलै सस्कृत पारसिहु पै अति प्रगट जु होइ
ब्रज भागधी मिलै अमर नाग जवन भाखानि
सहज फारसी हू मिलै ए विधि कहत बखानि ।

काव्यनिर्णय ११३५

जवन भाषाओं के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आई हुई जाति की भाषा का संकेत किया है । पर यह नाग भाषा क्या थी, इसका आगे कोई पता नहीं चखता । मिर्जा खाँ ने ईस्वी सन् १६७६ में ब्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा । यह ग्रन्थ ग्रन्थ नहीं है बल्कि उनके मशहूर, तुल्यतुल्य हिन्दी का एक भाग है । इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से ब्रजभाषा व्याकरण, छन्द, काव्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, संगीत, कामशास्त्र, सांख्यिक तथा फारसी-ब्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं । प्राकृत को मिर्जा खाँ ने पाताल या नाग वानी कहा है । यह प्राकृत क्या है ? प्राकृत का यही अर्थ वही नहीं है ना

1. Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasyapa born to people of Patala or Kashmir valley

Standard Dictionary of Folklore Mythology and Legends New York 1950 pp 730

2. Ibid pp 580

३. यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है । इसका सबसे पहला परिचय सर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'आन दी म्यूजिकल मोड्स ऑफ़ द हिन्दू' में १७८४ में उपस्थित किया । बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण नाग शान्तिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने १८३५ ईस्वी में 'ए ग्रामर ऑफ़ द ब्रज' के नाम से प्रकाशित कराया ।

नागवानी क्या थी, विंगन्यचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शाल का कब प्रणयन किया ? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तर हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता । नाग लोग पाताल के रहने वाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया । मध्यकाल के कथाख्यानों में नाग जाति के पुराणों और विशेषकर नाग-कन्दाओं के साथ अर्सरय निज-धरी कथाएँ लिखी हुई हैं । नाग-जाति के मूल स्थान के बारे में काफी विवाद है । पाताल सम्भवतः कश्मीर के पाददेश का नाम था ।^१ वेदां में इस जाति का नाम नहीं आता । मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर आने वाला कई जातियाँ में एक नाग भी थे । महाभारत के निमाण तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था । जातक कथाओं में भी नाग जाति के संदर्भ भरे पड़े हैं । गौतम बुद्ध के बधि सम्प्राप्ति के समय उत्पन्न त्तान में नागराज मुचिन्दि ने उनकी रक्षा की । पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुत-से छूटे-छूटे राजे अपने को नागों का वंशज बताने हैं ।^२ इस प्रकार लगता है कि नागों की एक अर्ध-कथानु जावन विज्ञाने वाली धूमन्तु जाति थी, आभार, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्व है । व्रजभाषा में मिश्रित होने वाले अन्य भाषिक तत्वों की चर्चा करते हुए मिश्रीदास काव्य निर्णय में नाग भाषा का भी उल्लेख करते हैं—

व्रजभाषा भाषा रचिर कहै सुमति सब कोइ
मिलै सस्कृत पारसिहु पै अति प्रगट जु होइ
व्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाखानि
सहज फारसी हू मिलै एप् विवि कहत बखानि ।

काव्यनिर्णय १११५

जवन भाषाओं के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आई हुई जाति की भाषा का संकेत किया है । पर यह नाग भाषा क्या थी, इसका आगे कोई पता नहीं चल्ता । मिर्जा खाँ ने ईस्वी सन् १६७६ में व्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा । यह ग्रन्थ ग्रन्थ नहीं है बल्कि उनके मशहूर, तुल्य उल हिन्द का एक भाग है । इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से व्रजभाषा व्याकरण, छन्द, काव्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, संगीत, कामशास्त्र, सांयुक्तिक तथा फारसी-व्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं । प्राकृत को मिर्जा खाँ ने पाताल या नाग वानी कहा है । यह प्राकृत क्या है ? प्राकृत का यहाँ अर्थ वही नहीं है ना

1. Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kashyapa born to people Patala or Kashmir valley

Standard Dictionary of Folklore Mythology and Legends New York 1950 pp 739

2. Ibid pp 780

३. यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है । इसका सबसे पहला परिचय सर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'मान दी म्यूजिकल मोड्स ऑफ़ द हिन्दू' में १७८४ में उपस्थित किया । बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण नाग शान्तिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने १८३५ ईस्वी में 'ए ग्रामर ऑफ़ दी व्रज' के नाम से प्रकाशित कराया ।

§ ८५. न० ३ : यानी अदहड्ड भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है । सन्देशरासक सभवतः सबसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ । कवि अदहमाण रचित इस महत्वपूर्ण काव्यग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १६४५ में सिंधी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डा० हरिवल्लभ भायाणी के सम्पादकत्व में हुआ । सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और हिमार (पंजाब) में लिखी गई थीं । तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे । इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में संस्कृत छाया या अवचूरिका भी सलग्न है । किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयममुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज काम चलाने कही जा सकती हैं । पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नहीं मानता और इसका सारा ध्येय किसी गाढ़ड छानिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था । इन दो प्रतियों के अलावा बीकानेर से भी एक खडित प्रति प्राप्त हुई है । जयपुर के आमेर भांडार में भी अदहमाण के सन्देशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो सभवतः उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती । क्योंकि केवल पंजाब की प्रति को छोड़कर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ सवत् में लिखी । संस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी स्पष्ट है । दिगम्बर जैन मंदिर (तेरह पथियों का) जयपुर के शास्त्रमांडार में उत्त प्रति (वे० न० १८२८) संरक्षित है । इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया ।

अदहमाण को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अब्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकालसे प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे ।

पच्चाणसि पड्डओ पुड्व पसिद्धो य मिच्छदेशोत्थि

तह विसणु सम्भूओ आरहो मीरसेणस्स ॥३॥

तह तणओ कुलकमलो पाइय कज्जेसु गीयवित्तयेसु

अदहमाण पसिद्धो सनेह रासय रइयं ॥४॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अदहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, सन्देशरासक की रचना की ।

ऊपर की गाथाओं से अदहमाण का अर्थ अब्दल रहमान और मिच्छदेश का म्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि संस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है । आरह का अर्थ जुलाहा दिया है जिसका सन्धान अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा । इस अदहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है । ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अदहमाण को सुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है । महमूद के आक्रमण के बाद सुल्तान एक दम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गई थी । सन्देशरासक में सुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अतः यह आक्रमण के पहले के सुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनि जी के मत से अदहमाण सुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है । स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है । सन्देश-वाहक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सन्देश लिए है जिसका पति घनलोभ से खम्भात

§ ८५. न० ३ : यानी अवहट्ठ भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। सन्देशरासक सभवतः सबसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ। कवि अद्दहमाण रचित इस महत्वपूर्ण काव्यग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १९४५ में सिंधी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डा० हरिवल्लभ भायाणी के सम्पादकत्व में हुआ। सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और हिमार (पंजाब) में लिखी गई थीं। तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में संस्कृत छाया या अवचूरिका भी संलग्न है। किन्तु पूना प्रति के चार्तिककार नयसमुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज काम चलाऊ कही जा सकती हैं। पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नहीं मानता और इसका सारा श्रेय किसी गाहड़ क्षत्रिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था। इन दो प्रतियों के अलावा बीकानेर से भी एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है। जयपुर के आमेर भांडार में भी अद्दहमाण के सन्देशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो समग्रतः उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। क्योंकि केवल पंजाब की प्रति को छोड़कर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ सवत् में लिखी। संस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी स्पष्ट है। दिगम्बर जैन मंदिर (तेरह पथियों का) जयपुर के शास्त्रभांडार में उत्त प्रति (वे० न० १८२८) संरक्षित है। इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया।

अद्दहमाण को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अब्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकालसे प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे।

पञ्चाणसि पट्टभो पुण्ड्र पसिद्धो य मित्छदेशोत्थि

तह विसणु सम्भूभो आरहो मीरसेणस्त ॥३॥

तह तणभो कुलकमलो पाइय कण्वेसु गीयविसयेसु

अद्दहमाण पसिद्धो सनेह रासय रङ्ग ॥४॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अद्दहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, सन्देशरासक की रचना की।

ऊपर की गाथाओं से अद्दहमाण का अर्थ अब्दल रहमान और मित्छदेश का म्लेच्छदेश केवल इसलिए सम्भव है कि संस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है। आरह का अर्थ जुलाहा दिया है जिसका सम्बन्ध अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा। इस अद्दहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अद्दहमाण को सुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है। महमूद के आक्रमण के बाद सुल्तान एक दम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गई थी। सन्देशरासक में सुल्तान (मूल्त्यान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अतः यह आक्रमण के पहले के सुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनि जी के मत से अद्दहमाण सुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है। स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है। सन्देश-वाहक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सन्देश लिए है जिसका पति घनलोभ से खम्भात

संक्रान्तिकालीन व्रजभाषा

कर्तव्य मानने थे । सन्देशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति सलक्षित होती है ।

सन्देशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पाण्डित्यपूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत प्रभावामय और रूढ़ है । हायकि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न तो बहुत परिष्ठित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनों के लिए वाच्य करता हूँ ।

णहु रहइ बुझा कुकवित्त रैसि
भबुहत्तणि भबुहद णहु पवेसि
जिग मुख ण पडिय मज्जयार
तिह पुरउ पठिव्वउ सव्यवार
(स० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृति भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रधान हो गया है । हाँ एक बात अवश्य बहुत महत्व की है । वह है प्राकृत के साथ ही साथ अप्रसारीभूत अपभ्रंश या अवदष्ट के दाहों का प्रयोग । वैसे तो लेखक को परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक भाषा के कुछ तत्व ग्रहीत हुए हैं किन्तु दोहों की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है । इस ग्रन्थ की भूमिका में डा० हरिवल्लभ मायाशी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे - जैसा स्मान-स्थान पर सूचित किया गया है सन्देशरासक के दोहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सा की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है । यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहा की भाषा अति निम्न और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज्यादा विकसित और बड़ी हुई मादूम होती है ।¹ दोहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अप्रसारीभूत क्यों है ?

§ ८७. प्रेम या विरह काव्या में लोक गीतों के प्रयोग की पद्धति भिन्नकुल नई नहीं है । लोकगीतों में प्रेम की एक सहज व्यञ्जना, स्मृतियों की अनलकृत विवृत्ति और वेदना की जिननी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नहीं हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओं में लिखे काव्यों में भी लोकगीतों के प्रयोग का कम से कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बौधने का प्रयत्न किया जाता है । विरहोर्वशीय में राधा की कातरता और विरह-पीडा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और वह दोहा अपभ्रंश का सबसे पुराना दोहा माना जाता है । सन्देशरासक में प्रायः लेखक दोहों का प्रयोग अत्यन्त तीव्र भावाकुल संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

1 As suggested at relevant places that the language of the dohas of S R differs in several points from that of the main portion of the text and it is closely allied to though more advanced than the language of the dohas of Hemcandra

कर्तव्य मानते थे। सन्देशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति सन्निहित होती है।

सन्देशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पाण्डित्यपूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत प्रभावामय और रूढ़ है। हाँकि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न तो बहुत परिचित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनों के लिए काव्य करता हूँ।

णहु रदइ बुहा कुकवित्त रेसि

अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि

जिग मुख ण पडिय मज्झवार

तिह पुरउ पठिब्वउ सम्भवार

(स० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृति भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रधान हो गया है। हाँ एक बात अवश्य बहुत महत्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ अप्रसरोभूत अपभ्रंश या अवहट्ट के दोहा का प्रयोग। वैसे तो लेखक की परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक भाषा के कुछ तत्व गृहीत हुए हैं किन्तु दोहा की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ की भूमिका में डा० हरिवल्लभ भाषाणी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे - जैसा स्थान-स्थान पर सूचित किया गया है सन्देशरासक के दोहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सा की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहा की भाषा अति निम्न और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज्यादा विकसित और बड़ी हुई मादूम होती है।¹ दोहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अप्रसरोभूत क्या है ?

§ ८७. प्रेम या विरह काव्या में लोक गीतों के प्रयोग की पद्धति बिल्कुल नई नहीं है। लोकगीतों में प्रेम की एक सहज व्यञ्जना, स्मृतियों की अनलकृत विवृत्ति और वेदना की जितनी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नहीं हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओं में लिखे काव्यों में भी लोकगीतों के प्रयोग का कम से कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। विरमोर्वशीय में राधा की कातरता और विरह-पीडा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और वह दोहा अपभ्रंश का सबसे पुराना दोहा माना जाता है। सन्देशरासक में प्रायः लेखक दोहों का प्रयोग अत्यन्त लीज भावाकुल सवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

1 As suggested at relevant places that the language of the dohas of S R differs in several points from that of the main portion of the text and it is closely allied to though more advanced than the language of the dohas of Hemcandra

चिरगाय (१८१ क < चिरगाय < चिरगत), समय (२०८ < समय), परवस (२१० ग < परवस < परवश) दलब्वहल (११ क < दलब्वहल) तम्माल (५६ ग < तमाल), तुस्सार (१८४ घ < तुस्सार < तुषार) आदि ।

§ ८६. स्वरसंकोचन (Vowel Contraction) आधुनिक भाषाओं में स्वर-संकोच का अत्यन्त मनोरञ्जक इतिहास है । संस्कृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें क्षयिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, स्वरों के बीच की विवृत्ति तो हटी ही, सधि प्रक्रिया से उन्हें सव्यन्तर बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दों का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नए चेहरे लेकर सामने आए ।

अँआँ > आँ = सुआर (१०८ क < *सुन्नआर < स्वर्णकार), साहार (१३४ घ < सहवार < सहकार), अधार (१३६ ग < अधआर < अवकार) ।

अँउँ > ओँ = तो (१८ घ < तउ < ततः) सामोर (४२ क < सम्प्रउर < शाम्बपुर) मोर (२१२ ख < मऊर < मयूर) आसोय (१७२ क < आसउय < अश्वयुज), इदोअ (१४३ घ > इन्दाओप < इन्द्रगोप) आदि ।

स्वर-संकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निष्ठा रूपों के चडिय > चढी १६१ घ तुडिय > तुढी १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं । अपभ्रंश में कृदन्तज विशेषणों में लिंग भेद का उतना विचार न था किन्तु ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग कर्ता के कृदन्तज भूत के नए रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चढी, दूढी आदि उसी अवस्था के संकेत हैं ।

§ ६०. म् > व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रोप अपभ्रंश की विशेषता कहा था । रासक में कहीं-कहीं यह व् भी लुप्त हो जाता है । मध्यम 'व' के लोप की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा की खास विशेषता है । चाटुर्व्या ने इसे ब्रज खड़ी बोली की विशेषता बताते हुए प्रारम्भिक मैथिली से इसको तुलना की है । (देखिए वर्णरत्नाकर § १८) सदेशरासक में मध्यम व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं । मंनावि (७४ अ < मंनावेवि) भाइयइ (५२ क < भावियइ < भावने) भाइण (६५ ग < भाविण < भावेग), सताउ (७६ ख < सताउ < सताप) जीउ (१५४ ग < जीउ < जीवः) ।

§ ६१. ल का महाप्राणीकरण । ल > ल्ह । ल्ह, ग्ह, आदि ध्वनियाँ ब्रज में बहुतायत से मिलती हैं । मिल्हउ (४६ ग < मेल्ल = छोड़ना) ।

§ ६२. द्वित्व या संयुक्त व्यञ्जनों में केवल एक व्यञ्जन को सुरक्षित रखने तथा इसकी वृत्ति पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई सदेशरासक की भाषा में आरम्भ हो गई थी ।

ऊसास (६७ क < उत्सास < उच्छ्वास) नीसरइ (५४ ग < निस्सरइ < निस्तरति) नीसास (८३ ग < निस्तास < निःश्वास) दीसरइ (६८ घ < दिस्सरइ < दृश्यते) ।

§ ९३. प्रातिपदिकों के निर्माण में सहायक प्रत्ययों में सदेशरासक का यर < कर प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यथा दीवयर २२ ख, सजीनयर २२ घ, उल्हावयर ६७ य । हेमचन्द्र में भी वंचयर (४।४।२) रूप इसी तरह का है । यह प्रत्यय अन्त्य स्वर के दीर्घ होने पर प्रायः

चिरगय (१८१ क < चिरगय < चिरगत), समय (२०८ < समय), परवस (२१० ग < परवस < परवश) दल्वहल (११ क < दल्वहल) तम्माल (५६ ग < तमाल), तुस्तार (१८४ घ < तुस्तार < तुषार) आदि ।

§ ८६. स्वरसंकोचन (Vowel Contraction) आधुनिक भाषाओं में स्वर-संकोच का अत्यन्त मनोरञ्जक इतिहास है । संस्कृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें क्षयिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, स्वरों के संकोच की विवृत्ति तो दूरी ही, सधि प्रक्रिया से उन्हें सघ्यक्षर बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दों का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नए चेहरे लेकर सामने आए ।

अँआँ > आँ = सुन्नार (१०८ क < *सुन्नआर < स्वर्णकार), साहार (१३४ घ < सहवार < सहकार), आधार (१३६ ग < अधआर < अवकार) ।

अँउँ > ओँ = तो (१८ घ < तउ < ततः) सामोर (४२ क < सम्मउर < शाम्भपुर) मोर (२१२ ख < मऊर < मयूर) आसोय (१७२ क < आसउय < अश्वयुज), इदोअ (१४३ घ > इन्दाओअ < इन्द्रगोअ) आदि ।

स्वर-संकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निष्ठा रूपों के चडिय > चटो १६१ घ तुडिय > तुटो १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं । अपभ्रंश में कृदन्तज विशेषणों में लिंग भेद का उतना विचार न था किन्तु ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग कर्तों के कृदन्तज भूत के नए रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चटो, टूटो आदि उसी अवस्था के संकेत हैं ।

§ ६०. म् > व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रोप्य अपभ्रंश की विशेषता कहा था । रासक में कहीं-कहीं यह व् भी लुप्त हो जाता है । मध्यम 'व' के लोप की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा की खास विशेषता है । चादुर्ज्या ने इसे ब्रज खड़ी बोली की विशेषता बताते हुए प्रारम्भिक मैथिली से इसकी तुलना की है । (देखिए वर्णरत्नाकर § १८) सदेशरासक में मध्यम व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं । मंनावि (७४ अ < मंनावेवि) भाइयइ (५२ क < भायिइ < भाव्यने) भाइण (६५ ग < भाविण < भावेण), सताउ (७६ ख < सताउ < सताय) जीउ (१५४ ग < जीउ < जीवः) ।

§ ६१. ल का महाप्राणीकरण । ल > ल्ह । ल्ह, ग्ह, आदि ध्वनियों ब्रज में बहुतायत से मिलती हैं । मिलइउ (४६ ग < मेल्ल = छोड़ना) ।

§ ६२. द्वित्व या संयुक्त व्यंजनों में केवल एक व्यंजन को सुरक्षित रखने तथा इसकी चर्ते पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रकृति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई सदेशरासक की भाषा में आरम्भ हो गई थी ।

ऊसास (६७ क < उस्तास < उच्छ्वास) नीसरइ (५४ ग < निस्सरइ < निस्सरति) नीसास (८३ ग < निस्तास < निश्वास) दीसहि (६८ घ < दिस्तइ < दृश्यते) ।

§ ९३. प्रातिपदिकों के निर्माण में सहायक प्रत्ययों में सदेशरासक का यर < कर प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यथा दौयर २२ ख, सजीनयर २२ घ, उल्हायय ६७ य । हेमचन्द्र में भी वंचयर (४।४१२) रूप इसी तरह का है । यह प्रत्यय अन्त्य स्वर के दीर्घ होने पर प्रायः

§ ९९. असमापिका क्रिया में इ प्रत्यय वाले रूपों का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास व्रजभाषा में भी हुआ। व्रज में 'इ' प्रत्यय वाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु व्रज में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग एक नई विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भई जुरि कै खरी' हसि के, लै कै आदि रूप में पूर्वकालिक के मूल रूपों जुरि, हसि या लई' के साथ कृ का असमापिका रूप भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सन्देशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुआसि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ (१०८ ख)

§ १००. भूतकाल के कृदन्तज प्रयोगों में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृवाच्य का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता है, जो व्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। कल्लोलिहि गजिउ १४२ ख, सिहिंडउ रडिउ १४४ ख, सालूरिहि रसिउ ११४ ग, कुसुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपों में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पड़ता है। हसिहि चडिउ में हंस द्वारा चढ़ा गया—अर्थ धीरे धीरे बदलने लगा। हंसि चडिउ से हंस चडिउ > हंस चड्यो।

§ १०१. संयुक्त-क्रिया का प्रयोग अवहट्ट की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगों ने नव्य आर्य भाषा की क्रियाओं को नया मोड़ दिया है। सन्देशरासक के कुछ उदाहरण देखिये—

- (१) को गिसुणे विणु रहइ (१८ ग) कौन सुने बिना रहता है
- (२) तक्खरु वक्खरु हरि गउ (६५ च) तश्कर ने सामान हर लिए
- (३) असेस तरुय पडि करिगय (१६२ घ) सभी पेड़ों के पत्ते गिर गए

इस प्रकार के हिन्दी और व्रजरूपों के लिए द्रष्टव्य (कैलाश हिन्दी ग्रामर § ४४२, ७५४)

§ १०२. क्रियार्थक संख्याओं के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक जाइ (गम्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

- (१) न घरणउ जाइ ७१ क, घरा नहीं जाता
- (२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता
- (२) किम सहण न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग प्रायः सन्देशरासक के दोहों में ही हुए हैं जो भाषा के विकास की परवर्ती अवस्था के सूचक हैं। इस तरह के बहुत से प्रयोग छिताईवार्ता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति देखी जा सकती है।

‘एक दिवस की कहन न जाइ (छिताई वार्ता १२७)

§ १०३. परसगों के प्रयोगों में भी अपभ्रंश से कुछ नवीनता दिखाई पड़ती है।

सउं (व्रज सौं) विरह सउं ७६ क, कदप्प सउं (६६ क)

गुरुविणु एण सउं (७४ ख)

सरिसु (व्रज, सरिसों, सरिसौ) दाय हेयइ सरिसु (१६१ घ)

मियणाहिण सरिसउ (१८७ घ)

§ ९९. असमापिका क्रिया में इ प्रत्यय वाले रूपों का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास व्रजभाषा में भी हुआ। व्रज में 'इ' प्रत्यय वाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु व्रज में पूर्वकालिक शुभ्र का प्रयोग एक नई विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भई जुनि कै खरी' हसि के, लै कै आदि रूप में पूर्वकालिक के मूल रूपों जुनि, हसि या लई के साथ कृ का असमापिका रूप भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सन्देशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुआसि दहेनि करि आसा जल सिचेइ (१०८ ख)

§ १०० भूतकाल के कृदन्तज प्रयोगों में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृवाच्य का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता है, जो व्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। कलालिहि गजिउ १४२ ख, तिहिइउ रडिउ १४४ ख, सालूरिहि रसिउ ११४ ग, कुमुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपों में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पड़ता है। हसिहि चडिउ में हस द्वारा चढ़ा गया—अर्थ धीरे धीरे बदलने लगा। हसि चडिउ से हस चडिउ > हस चड्यो।

§ १०१ संयुक्त क्रिया का प्रयोग अवहट्ट की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगों ने नव आर्य भाषा की क्रियाओं को नया मीड दिया है। सन्देशरासक के कुछ उदाहरण देखिये—

- (१) का गिसुणे विणु रहइ (१८ ग) कौन सुने बिना रहता है
- (२) तक्खरु वक्खरु हरि गउ (६५ च) तक्कर ने सामान हर लिए
- (३) असेस तरुय पडि करिगय (१६२ घ) सभी पेड़ों के पत्ते गिर गए

इस प्रकार के हिन्दी और व्रजरूपों के लिए ब्रह्मव्य (बैलाग हिन्दी ग्रामर § ४४२, ७५४)

§ १०२ क्रियार्थक सख्याओं के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक जाइ (गम्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

- (१) न घरणउ जाइ ७१ क, घरा नहीं जाता
- (२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता
- (२) किम सहण न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग प्रायः सन्देशरासक के दाहों में ही हुए हैं जो भाषा के विकास की परवर्ती अवस्था के सूचक हैं। इस तरह के बहुत से प्रयोग छित्ताईवाता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति देखी जा सकती है।

‘एक दिवस की कहन न जाइ (छित्ताई वार्ता १२७)

§ १०३ परस्मैगो के प्रयोगों में भी अपभ्रंश से कुछ नवीनता दिखाई पड़ती है।

सउ (व्रज सौं) विरह सउ ७६ क, कदप्प सउ (६६ क)

गुरुविणु एण सउ (७४ ख)

सरिसु (व्रज, सरिसों, सरिसौ) हाय हेयइ सरिसु (१६१ घ)

मियणाहिण सरिसउ (१८७ घ)

शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ में लिखा हुआ कोई और काव्य उपलब्ध नहीं होता। इस प्रदेश में लिखी गई अवहट्ठ रचनाओं की भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं में मुख्य क्षेत्र के बाहर लोग जब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ न कुछ प्रयोग, मुहावरे आदि तो सम्मिश्रित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नहीं होता। पूर्वी प्रयोगों को देखते हुए विद्यापति की कीर्तिलता को पुरानी मैथिली और चौदों की रचनाओं को पुरानी बगना कहना बहुत उचित नहीं है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण में सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी सकेतचिह्न कीर्तिलता में प्राप्त होते हैं, किन्तु कीर्तिलता की भाषा की मूल भूत आत्मा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियों से प्रभावित वर्ण विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के 'ल' क्रिया रूपों के आवरण के नीचे अवहट्ठ या पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कीर्तिलता का कवि जब जनता के मनो भावों को समझते हुए प्रेम-शृङ्गार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजस्तुति के प्रयाजन से काव्य लिखता है तब ब्रजभाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ठ रूप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि यह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नाचे कीर्तिलता का एक युद्ध प्रसंग देखिये, भाषा बिल्कुल प्राकृत पैगलम् के हम्मीर सक्वी पदों की तरह या रासो के युद्ध प्रसंगों की भाषा की तरह मालूम होती है।

हसि दाहिन हय्य समय्य भइ, रणरत्त पलटिय खग लइ
तह एव कहि एक पहार परे, जह खगहि खगहि धार धरे
हय लगिय चगिय धारुल्ला, तरवारि चमकइ विजु झला
हरि दोपरि दुटि सरार रहे, तनु शोगित धारहि धार बहे
तनु रग तुरग तरग बसे, तनु छड़इ लगइ रोस रसे
सव्वज जन पेखहि जु क कहा, महभावइ भजुन कछ जहा
न भाइव भाइव सत्तु करें, बाणासुर जुझइ बुत्त भरे
महराभन्हि मलिकें चणिलउ, असलान निजानहु पिह दिउ
त खणे पेरिखअ राय सो अरु सुरखेअ करेओ
जे करे मारिअ बप्प महु सो कर कवन हरेओ

(कीर्तिलता ४।२२६-४३)

इस भाषा में पूर्वी प्रयोगों का नामोनिशान तक नहीं मिलेगा। अन्तिम दोहों में तो करेओ > कर्यो, हरेओ > हरया के ब्रज रूप भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश के अ + ठ का ब्रज में सीधे ओ, होता है। बहुत से रूपों में 'या' जैसे क्यो, मरयो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ > औ, यौ के विकास की एक अवस्था एओ रही होगी जो कीर्तिलता में बहुत दिखाई पड़ती है।

ई १०६ सिवसिंह के सिंहासनारोहण के समय लिखे गए एक प्रशस्ति की भाषा द्रष्टव्य है। देवसिंह की मृत्यु के समय सिवसिंह ने यवनों से आक्रान्त राज्य का कैसे उद्धार किया और

शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ में लिखा हुआ कोई और काव्य उपलब्ध नहीं होता। इस प्रदेश में लिखी गई अवहट्ठ रचनाओं की भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं में मुख्य क्षेत्र के बाहर लोग जब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ न कुछ प्रयोग, मुहावरे आदि तो सम्मिश्रित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नहीं होता। पूर्वी प्रयोगों को देखते हुए विद्यापति की कीर्तिलता को पुरानी मैथिली और चौदों की रचनाओं को पुरानी बगल कहना बहुत उचित नहीं है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण में सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी सकेतचिह्न कीर्तिलता में प्राप्त होते हैं, किन्तु कीर्तिलता की भाषा की मूल भूत आत्मा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियों से प्रभावित वर्ण विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के 'ल' क्रिया रूपों के आवरण के नीचे अवहट्ठ या पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कीर्तिलता का कवि जब जनता के मनो भावों को समझते हुए प्रेम-शृङ्गार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजस्तुति के प्रयोजन से काव्य लिखता है तब ब्रजभाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ठ रूप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि यह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नीचे कीर्तिलता का एक सुद्ध प्रसंग देखिये, भाषा बिल्कुल प्राकृत पैगलम् के हमीर सक्की पदों की तरह या रासो के सुद्ध प्रसंगों की भाषा की तरह मालूम होती है।

हसि दाहिन हय्य समय्य भइ, रणरत्त पलटिय खग लइ
तह एक्कहि एक्क पहार परे, जह खगहि खगहि धार धरे
हय लगिय चगिय चारकला, तरवारि चमकइ विजु मला
हरि टोप्परि दुट्टि सरार रहे, तनु शोजित धारहि धार बहे
तनु रग तुरग तरग बसे, तनु छड़इ लगाइ रोस रसे
सक्कउ जन पेखहि जु क कहा, महभावइ धजुन कब जहा
न भाइव भाइव सत्तु करें, बाणासुर जुम्ह छुत भरे
महराअन्हि मलिकें चपिलउ, असलान निजानहु पिठ दिउ

त खणे पेरिखअ राय सो अरु सुरखेअ करेओ

जे करे मारिअ बप्प महु सो कर कवन हरेओ

(कीर्तिलता ४।२२६-४३)

इस भाषा में पूर्वी प्रयोगों का नामोनिशान तक नहीं मिलेगा। अन्तिम दोहों में तो करेओ > कर्यो, हरेओ > हरया के ब्रज रूप भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश के अ + उ का ब्रज में सीधे ओ, होता है। बहुत से रूपों में 'या' जैसे क्यो, मरयो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ > औ, यौ के विकास की एक अवस्था एओ रही होगी जो कीर्तिलता में बहुत दिखाई पड़ती है।

ई १०६ सिवसिंह के सिंहासनारोहण के समय लिखे गए एक प्रशस्ति की भाषा द्रष्टव्य है। देवसिंह की मृत्यु के समय सिवसिंह ने यवनों से आक्रान्त राज्य का कैसे उद्धार किया और

(ग) कइ > कै (व्रज, सम्बन्ध)

पूज आस असवार कइ उरिय सिरनवइ सन्ध कइ (२।२३४) जाकै घर
निमि बने कन्दाई (सूर)

(घ) को—

दान खग को मामन न जानइ २।३८ (पृष्ठी) व्रज में बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरि को

तं दिस केरी राय घर तरुणी (४। ८६)

आय छपेटे सुतहु नद केरे (सूर २५।६०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल व्रज और खड़ी बोली में ही होता है। १४ वीं १५ वीं की कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह संकेत आदि प्राप्त हों। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक जन रंजित (१।६३), जेन्ने गिय कुल उद्धरिअउं (१।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे व्रज जानै जिन्ने रूप बनता है। पूर्वी अपभ्रंश की शुद्ध रचनाओं में इस प्रकार 'ने' वाले रूपों का मिलना असम्भव है।

२—सर्वनामों के महत्वपूर्ण रूप—

मेरहु > मेरौ, व्रज

मेरहु जेह गरिह अछ (२। ४२)

मेरो मन अनन कहा रचुगवै (सूर)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनों का व्रज रूप मोरो मेरौ होता है। हों के हउं या हजो पूर्वरूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अवदह; सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओ' रूप अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ओ के साथ ओहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओहु का प्रयोग १४वीं शताब्दी के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओहु खास दरवार (कीर्ति) ओ परनेतर हर सिर सोहइ (कीर्ति०)

वह सुधि आयत तोहि सुदामा (सूर)

देखे तुम अस ओऊ (सूर)

सूर के 'ओऊ' का ओउरि > ओ भी अर्थ है। निकटवर्ती के एहु और 'एहां' रूप का भी महत्व है।

राय चरित रमालु एहु (कीर्ति०)

स्याम को यहै परेखो आवे (सूर)

विश्वकर्मा एहि कार्य छल (कीर्ति०)

एहि घर बनो क्रीडा गज मोचन (सूर)

निजजाचक अरभ्रश अयणउ कीर्तिलता में विविध रूपों में आता है।

अरने दोस समक (कीर्ति)

(ग) कइ > कै (व्रज, सम्बन्ध)

पूज आस असवार कइ उत्थि सिरनवइ सन्ध कइ (२।२३४) जाकै घर
निमि बसे कन्हाई (सूर)

(घ) को—

दान खग को मामन न जानइ २।३८ (पद्य) व्रज में बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरे को

तं दिस केरी राय घर तरुणी (४। ८६)

आय लपेटे सुतहु नद केरे (सूर २५।६०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल व्रज और खड़ी बोली में ही होता है। १४ वीं १५ वीं की कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह संज्ञेत आदि प्राप्त हो। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक अन रंजित (१।६३), जेन्ने णिय कुल उद्धरिअउं (१।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे व्रज जानै जिन्ने रूप बनता है। पूर्वी अपभ्रंश की शुद्ध रचनाओं में इस प्रकार 'ने' वाले रूपों का मिलना असम्भव है।

२—सर्वनामों के महत्वपूर्ण रूप—

मेरहु > मेरौ, व्रज

मेरहु जेह गरिह अछ (२। ४२)

मेरो मन अनन कहा रचुगवै (सूर)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनों का व्रज रूप मोरो मेरौ होता है। हों के हउं या हजो पूर्वरूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अचरह; सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओं' रूप अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ओ के साथ ओहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओहु का प्रयोग १४वीं शताब्दी के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओहु खास दरबार (कीर्ति) ओ परमेत्तर हर सिर सोहइ (कीर्ति०)

बह सुधि आयत तोहि सुशमा (सूर)

देखे तुम अस ओऊ (सूर)

सूर के 'ओऊ' का ओउरि > ओ भी अर्थ है। निकटवर्ती के एहु और 'एही' रूप का भी महत्व है।

राय चरित रमालु एहु (कीर्ति०)

स्वाम को यहै परेखो आवे (सूर)

विश्वकर्मा एहि कार्य छल (कीर्ति०)

एहि घर बनो ब्रीडा गज मोचन (सूर)

निजवाचक अपभ्रंश अयणउ कीर्तिलता में विविध रूपों में आता है।

अयने दोस समक (कीर्ति)

उदाहरण विभिन्न काल-की रचनाओं से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजेश्वर की कर्पूरमंजरी (६०० ई०) से भी लिये गये हैं। डा० चादुर्ज्या के मत से अधिकांश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ के हैं। २६४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४६०, ५१६ और ५४१ संख्यांक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते हैं।^१ इसी सिलसिले में उन्होंने बी० सी० मजूमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बंगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डा० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२ वीं शती से पीछे खोचने के पक्ष में नहीं हैं। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस समूह की कुछ रचनाएँ १४ वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं ठहरती, किन्तु यही सब पद्यों के बारे में नहीं कहा जा सकता और फिर पिंगल अपभ्रंश चौदहवीं शताब्दी की ब्रजित भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपैंगलम् हेमचन्द्र के दोहों और नव्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप के बीच की कड़ी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १० वीं से १२ वीं शती की भाषा का आदर्श मानी जा सकती है।^२ प्राकृतपैंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन ब्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से करीब ६ हम्मीर से सबद्ध है। पृ० १५७, १८०, २४६, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दों में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के संबंधी एक पद में 'जजल भणइ' यह वाक्यार्थ भी दिखाई पड़ता है :

हम्मीर कज्जु जजल भणइ कोहाणल मुह महं जलउ ।

सुरताण सौस करवाल दइ तेजिज कलेवर दिय चलउ ॥

श्री राहुल साकृत्यायन ने हम्मीर सम्बन्धी कविताओं को जजल-कृत बताया है,^३ हालाँकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिन कविताओं में जजल का नाम नहीं है, उनके बारे में संदेह है कि ये इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जजल-भणिता युक्त पदों को तो राहुल जी जजल की कृति मानते ही हैं। डा० हजारिप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'राहुल जी का मत प्राकृत-पैंगलम् में प्रकाशित टीकाओं के 'जजलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जजल की उक्ति है—पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जजल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध मात्र जजल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तृ-प्रोक्तोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जजल की नहीं किमी ओर कवि की होगी किन्तु यह कवि शार्ङ्गधर ही है इसका कोई सबूत नहीं।^४ मेरा ख्याल है कि यह काफी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शार्ङ्गधर का हम्मीर रासो प्राप्त नहीं होता, और प्राप्त

१. चादुर्ज्या, ओ० डे० व० ले० ६०

२. तेसीतोरी, इंडियन ऐंटिक्वैरी, १९१४, पृ० २२

३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२, पाद टिप्पणी

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० १५

५. प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृत पैंगलम् के इन पदों को शार्ङ्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।

उदाहरण विभिन्न काल-की रचनाओं से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजेश्वर की कर्पूरमंजरी (६०० ई०) से भी लिये गये हैं। डा० चादुर्ज्या के मत से अधिकांश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ के हैं। २६४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४६०, ५१६ और ५४१ संख्यांक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते हैं।^१ इसी सिद्धिसिले में उन्होंने श्री० सी० मजूमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बंगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डा० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२ वीं शती से पीछे खोजने के पक्ष में नहीं हैं। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस समूह की कुछ रचनाएँ १४ वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं ठहरती, किन्तु यही सब पद्यों के बारे में नहीं कहा जा सकता और फिर पिंगल अपभ्रंश चौदहवीं शताब्दी की बीवित भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपिंगलम् हेमचन्द्र के दोहों और नव्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप के बीच की कड़ी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १० वीं से १२ वीं शती की भाषा का आदर्श मानी जा सकती है।^२ प्राकृतपिंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन व्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से करीब ६ हम्मीर से सबद्ध है। पृ० १५७, १८०, २४६, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दों में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के संबंधी एक पद में 'जजल मणइ' यह वाक्यार्थ भी दिखाई पड़ता है :

हम्मीर कज्जु जजल मणइ कोहाणल सुह महं जलउ ।

सुरताण सोस करवाल दह तेजिज कलेवर दिय चलउ ॥

श्री राहुल साकृत्यायन ने हम्मीर संबंधी कविताओं को जज्जल-कृत बताया है,^३ हालाँकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिन कविताओं में जज्जल का नाम नहीं है, उनके बारे में सदेह है कि ये इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जज्जल-भणित युक्त पदों को तो राहुल जी जज्जल की कृति मानते ही हैं। डा० हजारिप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'राहुल जी का मत प्राकृत-पिंगलम् में प्रकाशित टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है— पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध मात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तु-प्रोदोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं किमी ओर कवि की होगी किन्तु यह कवि शार्ङ्गधर ही है इसका कोई सबूत नहीं।^४ मेरा ख्याल है कि यह काफी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शार्ङ्गधर का हम्मीर रासो प्राप्त नहीं होता, और प्राप्त

१. चादुर्ज्या, ओ० टे० व० ले० ६०

२. तेसीतोरी, इंडियन ऐंटिक्वेरी, १६१४, पृ० २२

३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२, पाद टिप्पणी

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० १५

५. प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृत पिंगलम् के इन पदों को शार्ङ्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।

में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

जिण वेअ धरिजे महियल लिजे पिठिहि दतहिं ठाउ धरा
रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, वधिय सत्तु सुरज हरा
कुल खत्तिय तापे, दहमुख कापे, कसअ केमि विणास करा
करुणा पअले मेळइ विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा

(पृ० ५७०।२७०)

गीत गोविन्द का श्लोक :

वेदानुद्धरते जगन्निग्रहते भूगोलमुद्विग्नते ।
दैन्यान्दारयते बलिं द्रलयते चित्र चय कुर्यते ॥
पौलस्त्य जयते हल कलयते कारुण्यमातन्वते ।
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुम्य नमः ॥

(अष्टपदी १. श्लोक १२. पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातें फिरही लोग अत्यंत कष्ट से मिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, मौरों की गुजार और कोकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

ज फुलक फल वण बहत लहु पवण
भमइ भमर कुल दिसि विदिसं
झकार पलइ वण रवइ कुहिल गण
विरहिय हिय हुअ दर विरसं
आणदिय जुअ भण उलसु उठिय मणु
सरस नलिणि किम सयणा
पलट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
कुमुम समय अवतरिय वणा

(पृ० ५८७।२१३)

गीत गोविन्द का श्लोक :

उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुपद्याधूतचूताङ्कुरः
श्रीदन्कोकिलकाकलीकहरवैरुर्गोर्णकर्णज्वराः ।
नोदन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानरुज-
प्राक्षप्राणसम समागमरसोत्थासैरमी वासराः ॥

(पृ० २६)

कृष्ण सत्रधी एक और पद्य प्राकृतपैंगलम् में संकलित है, वह सीधे जयदेव के गीत-गोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोकों का बहुत प्रभाव मालूम होता है, दो एक श्लोकों को साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े।

में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

जिण वेअ धरिजे महियल लिजे पिठिहि दतहि ठाउ धरा
रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, वधिय सत्तु सुरज हरा
कुल खत्तिय तापे, दहमुख कापे, कसअ केमि विणास करा
करुणा पअले मेळइ विअले सो देउ परायण तुम्ह वरा

(पृ० ५७०।२७०)

गीत गोविन्द का श्लोक :

वेदानुद्धरते जगन्निग्रहते भूगोलमुद्विग्नते ।
दैन्यान्दारयते वलिं द्रलयते चन्द्र क्षय कुर्यते ॥
पौलस्त्य जयते हल कलयते कारुण्यमातन्वते ।
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्य नमः ॥

(अष्टपदा १. श्लोक १२. पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातें पिरही लोग अत्यंत कष्ट से प्रिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, भौरों की गुजार और कौकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

ज फुलक फल वण बहत लहु पवण
भमइ भमर कुल दिसि विदिसं
झकार पलइ वण रवइ कुहिल गण
विरहिय हिय हुआ दर विरसं
आणदिय जुअ अण उलसु उडिय मणु
सरस नलिनि किम सयणा
पलट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
कुसुम समय अवतरिय वणा

(पृ० ५८७।२१३)

गीत गोविन्द का श्लोक :

उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुपव्याभूतचूताङ्कुरं
श्रीङ्कोकिलकाकलीकलरवैरुर्गर्णवर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानशृणु-
प्राप्तप्राणसम समागमरसोत्प्लासैरमो वासराः ॥

(पृ० २६)

कृष्ण सबधी एक और पद्य प्राकृतपैंगलम् में संकलित है, वह सीधे जयदेव के गीत-गोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोक का बहुत प्रभाव मालूम होता है, दो एक श्लोकों को साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े।

है। आछे (४६२।२ <अच्छइ <अक्षति*), करोजे (४०२।२ <करिजइ <क्रियने), कहीजे (४०२।२ <कहिजइ <कथ्यते) चउवीस (१५५।२ <चतुर्विंशति), चाम (४३६।२ <चर्म्म), जामु (१४३।१ <जस्स > यस्य) लीसंक (१२८।४ <निःशक), लीसास (४५३।२ <निःश्वास), तासु (३०।६ <तस्य), दीसइ (३१५।५ <दृश्यते) आदि। मध्यम व्यजन-द्वित्वों के सहजीकरण की इस प्रवृत्ति (Simplification of Interlocalic) के कारण इस भाषा में नई शक्ति और खानी दिखाई पड़ती है।

§ ११३. ब्रजभाषा की दूसरी विशेषता अनुस्वार के ह्रस्वीकरण की है। इस प्रवृत्ति में भी ध्वन्यात्मक विकास की उपर्युक्त परिस्थिति ही कारण मानी जा सकती है। किसी व्यजन के पहले आया हुआ पूर्ण अनुस्वार संकुचित होकर निकटस्थ स्वर का नास्तिक्य रह जाता है। ऐसी अवस्था में कभी तो क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं, कभी नहीं भी करते। ब्रजभाषा में वशो का बौसुरी, पंक्ति का पौंति, पण्डित का पौंडे, पंच का पाँच आदि रूप अक्सर मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस तरह के रूप दिखाई नहीं पड़ते किन्तु अनुनासिक के ह्रस्वीकरण के उदाहरण पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ किए बिना ही दिखाई पड़ते हैं। इस तरह के उदाहरण ब्रजभाषा में भी विरल नहीं हैं।

सँदेसनि <संदेश, गोविंद <गोविन्द, रँग <रंग, नँदनन्दन <नन्दनन्दन।

प्राकृतपैंगलम् में भी इस तरह के रूप मिलते हैं।

खँघया (१२६।४ <खंघक), सँजुते (१५७।४ <संयुक्त) चँडेसर (१८४।८ <चण्डेश्वर) पँचतालीस (२०२।४ <पचचत्वारिंशत्) इस प्रकार का ह्रस्वीकरण छन्दानुरोध के कारण और बलाघात के परिवर्तन के कारण उपस्थित होता है।

§ ११४. प्राकृतकाल में शब्दों के बीच से व्यंजनों का प्रायः लोप हो जाता था। मध्यम क ग च ज त द प य व आदि के लोप होने पर एक विवृत्ति (Hiatus) उत्पन्न हो जाती थी। इस विवृत्ति को नव्य भाषा काल में कई प्रकार से दूर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। या तो संधि नियमों के अनुसार वे सह-स्वर संयुक्त कर दिए जाते हैं, या उनमें य या व या ह भ्रुति का समावेश करते हैं। इस प्रकार चरति का चरइ या चलइ रूप, चले या चलै हो जाता है। कहउ का कहो, आयउ का आयो रूप इसी प्रकार विकास पाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः औ और ऐ दिखाई पड़ते हैं। कन्नौजी में औ के स्थान पर ओ और ऐ मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में विवृत्ति को सुरक्षित न रखने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी।

अ + इ = ओ आओ (५१६।४ <आअउ ५५२।४ <आगतः), उगो (३७०।४ उदितः) कहियो (२४।५ <कहिअउ १६८।४ <कथितः), चौदह (४०४।२ <चउदह <चतुर्दश), जणीओ (३४८।१ <जनितः), भौहा (४४३।३ <भ्रूवै)

अ + इ = ऐ, आछे (४६५।२ <अच्छइ), आवे (३५८।४ <आवइ <आयाति), कहीजे (४४२।२ <कहिजइ २४६।५ <कथ्यते), घरीजे (४१२।१ <घरिजइ <घ्रियते)।

§ ११५. विवृत्ति या हायटस को दूर करने के लिए अपभ्रंश-काल में य या व भ्रुति का विधान था। अपभ्रंश के वह मध्यग 'व' व्यंजन का कुछ शब्दों में लोप दिखाई पड़ता है। यह लोप मूलतः प्रयुक्त या भ्रुति जन्य दोनों प्रकार के व के प्रयोगों में दिखाई पड़ता है। वैसे

है। आछे (४६२।२ <अच्छइ <अक्षति*), करोजे (४०२।२ <करिजइ <क्रियते), कहीजे (४०२।२ <कहिजइ <कथ्यते) चउवीस (१५५।२ <चतुर्विंशति), चाम (४३६।२ <चम्म), जामु (१४३।१ <जस् > यस्य) एोसंक (१२८।४ <निःशक), णीसास (४५३।२ <निःश्वास), तासु (३०।६ <तस्य), दीसइ (३१५।५ <दृश्यते) आदि। मध्यम व्यजन-द्वित्वों के सहजीकरण की इस प्रवृत्ति (Simplification of Interlocals) के कारण इस भाषा में नई शक्ति और रचानी दिखाई पड़ती है।

§ ११३. व्रजभाषा की दूसरी विशेषता अनुस्वार के ह्रस्वीकरण की है। इस प्रवृत्ति में भी ध्वन्यात्मक विकास की उपर्युक्त परिस्थिति ही कारण मानी जा सकती है। किसी व्यजन के पहले आया हुआ पूर्ण अनुस्वार संकुचित होकर निकटस्थ स्वर का नासिक्य रह जाता है। ऐसी अवस्था में कभी तो क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं, कभी नहीं भी करते। व्रजभाषा में वशो का बाँसुरी, पंक्ति का पाँत, पण्डित का पाँडे, पंच का पाँच आदि रूप अक्सर मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस तरह के रूप दिखाई नहीं पड़ते किन्तु अनुनासिक के ह्रस्वीकरण के उदाहरण पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ किए बिना ही दिखाई पड़ते हैं। इस तरह के उदाहरण व्रजभाषा में भी विरल नहीं हैं।

सँदेसनि <संदेश, गोविंद < गोविन्द, रँग < रंग, नँदनन्दन < नन्दनन्दन।

प्राकृतपैंगलम् में भी इस तरह के रूप मिलते हैं।

खँधया (१२६।४ <खंधक), सँजुने (१५७।४ <संयुक्त) चँडेसर (१८४।८ <चण्डेश्वर) पँचतालीस (२०२।४ <पचचत्वारिंशत्) इस प्रकार का ह्रस्वीकरण छन्दानुरोध के कारण और बलाघात के परिवर्तन के कारण उपस्थित होता है।

§ ११४. प्राकृतकाल में शब्दों के बीच से व्यंजनों का प्रायः लोप हो जाता था। मध्यम क ग च ज त द प य व आदि के लोप होने पर एक विवृत्ति (Hiatus) उत्पन्न हो जाती थी। इस विवृत्ति को नव्य भाषा काल में कई प्रकार से दूर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। या तो संधि नियमों के अनुसार वे सह-स्वर संयुक्त कर दिए जाते हैं, या उनमें य या व या इ भ्रुति का समावेश करते हैं। इस प्रकार चरति का चरइ या चलइ रूप, चले या चलै हो जाता है। कहउ का कहो, आयउ का आयो रूप इसी प्रकार विकास पाते हैं। व्रजभाषा में प्रायः औ और ऐ दिखाई पड़ते हैं। कन्नौजी में औ के स्थान पर ओ और ऐ मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में विवृत्ति को मुरझित न रखने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी।

अ + इ = ओ आओ (५१६।४ <आभउ ५५२।४ <आगतः), उगो (३७०।४ उदितः) कहियो (२४।५ <कहिअउ १६८।४ <कथितः), चौदह (४०४।२ <चउदह <चतुर्दश), जगीओ (३४८।१ <जनितः), भौहा (४४३।३ <भ्रूवै)

अ + इ = ऐ, आछे (४६५।२ <अच्छइ), आवे (३५८।४ <आवइ <आयाति), कहीजे (४४२।२ <कहिजइ २४६।५ <कथ्यते), घरीजे (४१२।१ <घरिजइ <घ्रियते)।

§ ११५. विवृत्ति या हायटस को दूर करने के लिए अपभ्रंश-काल में य या व भ्रुति का विधान था। अपभ्रंश के वह मध्यग 'व' व्यंजन का कुछ शब्दों में लोप दिखाई पड़ता है। यह लोप मूलतः प्रयुक्त या भ्रुति अन्य दोनों प्रकार के व के प्रयोगों में दिखाई पड़ता है। वैसे

‘पुलिंग शब्दों में वे प्रायः अन्त में ‘ओ’ जोड़ते हैं जैसे कलूयो । किन्तु बोलचाल में ‘ओ’ के स्थान पर ‘आ’ का प्रयोग करते हैं जैसे कलूया । केलाग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था । ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के बारे में केलाग ने लिखा है—

‘ब्रजभाषा में पदान्त का ‘आ’ विशेषणों और क्रियाआ में प्रायः ‘ओ’ दिखाई पड़ता है किन्तु सज्ञा शब्दों में प्राकृत का ‘ओ’ आ ही रह जाता है ।’ जो हो ओकारान्त और आकारान्त दोनों तरह के प्रयोग ब्रज में चलते हैं ।

§ ११७. दूसरी विशेषता है ओकारान्त प्रयोग । प्राचीन ब्रज में अभी तक ओकारान्त पदों का विकास नहीं हुआ था । सूर और सूर के बाद की ब्रजभाषा में प्रायः ओकारान्त रूप मिलते हैं । मिर्जा खा ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिए हैं इस पर जियाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त का बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है ।^१

§ ११८ ब्रजभाषा के सर्वनामों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जो इसे अन्य भाषाओं से भिन्न करते हैं । खड़ी बोली के सर्वनामों के तिर्यक् रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते हैं जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि । किन्तु ब्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, जा का आदि साधित हैं अर्थात् ब्रजभाषा में ये रूप वानें, वाकों, जाको, ताका, आदि बनते हैं । इस प्रकार खड़ी बोली में जबकि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है ब्रज में ता, वा, या, जा का । प्राकृतपैंगलम् में इन रूपों के बीज त्रिन्दु दिखाई पड़ते हैं ।

- (१) कैसे जिविआ ताका पिअला (४०८।४)
- (२) ताक जणणि किण यकउ वभउ (४७०।४)
- (३) काहु णअर गेह मद्रणि (५२३।४)
- (४) जा अद्धगे पव्वई सीसे गगा जासु

इन सर्वनामा के अलावा जो, सो, तामु, जासु आदि ब्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपों के प्रयोग भरे पड़े हैं । नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं—

- (१) हम्मारी दुरिन्ता सहारो (३६१।४ प्रा० पै०)
- (२) हमारै हरि द्वारिल को लकरी (सूर)
- (३) गई भविती किल का हमारो (४३५।४ प्रा० पै०)
- (४) हमरी बात सुनो ब्रजराय (सूर)
- (५) उप्पाय हीणा हउँ एक नारी (४३५।२ प्रा० पै०)

मध्यमपुरुष के सर्वनामा के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पड़ते हैं ।

- (१) किति तुअ हरिवभ भण (१८४।८)
- (२) सोहर तोहर स्वट सहर (३५१।२)

१. कैलाग, ग्रामर आफ दी हिन्दी लैंग्वेज, पृ० १२८

२. ए ग्रामर आफ दा ब्रज भाषा, पृष्ठ ३७, फुट नोट

‘पुलिंग शब्दों में वे प्रायः अन्त में ‘ओ’ जोड़ते हैं जैसे कलूटो । किन्तु बोलचाल में ‘ओ’ के स्थान पर ‘आ’ का प्रयोग करते हैं जैसे कलूटा । केलग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था । ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के बारे में केलग ने लिखा है—

‘ब्रजभाषा में पदान्त का ‘आ’ विशेषणों और क्रियाओं में प्रायः ‘ओ’ दिखाई पड़ता है किन्तु सज्ञा शब्दों में प्राकृत का ‘ओ’ आ ही रह जाता है ।’ जो हो ओकारान्त और आकारान्त दोनों तरह के प्रयोग ब्रज में चलते हैं ।

§ ११७. दूसरी विशेषता है ओकारान्त प्रयोग । प्राचीन ब्रज में अभी तक ओकारान्त पदों का विकास नहीं हुआ था । सूर और सूर के बाद की ब्रजभाषा में प्रायः ओकारान्त रूप मिलते हैं । मिर्जा खा ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिए हैं इस पर जियाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त का बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है ।^१

§ ११८ ब्रजभाषा के सर्वनामों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जो इसे अन्य भाषाओं से भिन्न करते हैं । खड़ी बोली के सर्वनामों के तिर्यक रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते हैं जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि । किन्तु ब्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, ना का आदि साधित हैं अर्थात् ब्रजभाषा में ये रूप वानें, वाकों, जाको, ताका, आदि बनते हैं । इस प्रकार खड़ी बोली में जबकि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है ब्रज में ता, वा, ना, या, ना का । प्राकृतपैंगलम् में इन रूपों के बीज बिन्दु दिखाई पड़ते हैं ।

- (१) कैसे जिविआ ताका विअला (४०८।४)
- (२) ताक जणणि किण थकउ बभउ (४७०।४)
- (३) काहु णअर गेह मदणि (५२३।४)
- (४) जा अदगे पव्वई सीसे गगा जासु

इन सर्वनामा के अलावा जो, सो, तासु, जासु आदि ब्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपों के प्रयोग भरे पड़े हैं । नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं—

- (१) हममारो दुरिन्ता सहारो (३६१।४ प्रा० पै०)
- (२) हमारै हरि हारिल की लकरी (सूर)
- (३) गई भविती किल का हमारो (४३५।४ प्रा० पै०)
- (४) हमरो बात सुनो ब्रजराय (सूर)
- (५) उप्पाय हीणा हउँ एक नारी (४३५।२ प्रा० पै०)

मध्यमपुरुष के सर्वनामा के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पड़ते हैं ।

- (१) किति तुअ हरिवभ भण (१८४।८)
- (२) सोहर तोहर स्कट सहर (३५१।२)

१. कैलाश, ग्रामर आफ दी हिन्दी लैंग्वेज, पृ० १२८

२. ए ग्रामर आफ दा ब्रज भाषा, पृष्ठ ३७, फुट नोट

८—ब्रजभाषा की असमापिका क्रियायें अपना निजी महत्त्व रखती हैं। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है संयुक्त पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग। ब्रजभाषा में इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं। पूर्वकालिक क्रिया के साथ $\sqrt{\text{कृ}}$ का पूर्वकालिक रूप।

भईं जु रि कै खरी (सूर)

बहुक दिवस औरो ब्रज घसि कै (सूर)

खड़ी बोली हिन्दी में इसका थोड़ा भिन्न रूप पहनकर, लाकर आदि में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैगलम् के रूप इस प्रकार हैं।

जइ राय विपत्तिउ अणुमर खत्तिउ कट्टि कप चदि छन्द भणौ (३३०।३, ४) 'कट्टिकइ' काट कर का पूर्व रूप है। ब्रजभाषा में 'काटि कौ' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कए भी महत्त्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय अप पसरत धरा गुरु सज्जिकरा (३३०।६)

धरा के तुक पर अंतिम शब्द 'कर' का कए हो गया है। 'सज्जिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा सकता है, इसमें 'कर' खड़ी बोली में आज भी प्रचलित है। इसी तरह 'छक्कलु मुँह सँगावि कर' (२५६।४) में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सन्देशरासक में 'देहेवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

ब्रजभाषा में भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोगों ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य में थे और बाद में ये कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोइहि बाणीओ (५४७।३)

(२) फणिएँ भणीओ (३४८।१)

(३) पिगलें कहिओ (३२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप ब्रज में कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैगलम् में कर्मवाच्य रूपों के साथ साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पड़ते हैं।

(१) सिहर कंविओ (२६०।१)

(२) नञ्चण भविओ (२६०।२)

(३) सो सम्माणीओ (५०६।२)

(४) पकुलिअ बुद उगो सहि चद (३७०।४)

क्रिया रूपों में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्राकृत पैगलम् की भाषा में मिलते हैं, जिनका आगे चलकर ब्रजभाषा में विकास और रूपान्तर दिखाई पड़ता है, सामान्य वर्तमान के लिए वर्तमान कृदन्त के अन्त (शतृ प्रत्यायान्त) रूपों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। उदा हेरन्ता (५०७।४), मज्जे तिणि पलन्त (५६६।२) आदि। ऐसे रूप यसो, कबोर, चारण शैली के नरहरिभट्ट आदि की रचनाओं में बहुत मिलते हैं।

§ १२१. ब्रजभाषा के अव्यय के बहु प्रचलित धौ, लौ, आदि रूप प्राकृत पैगलम् में नहीं मिलते। किन्तु प्राकृत पैगलम् में 'जु' का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। 'जु' ब्रजभाषा में पादपूरक अव्यय है, जिसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है।

८—ब्रजभाषा की असमापिका क्रियाएँ अपना निजी महत्व रखती हैं। इनकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है संयुक्त पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग। ब्रजभाषा में इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं। पूर्वकालिक क्रिया के साथ $\sqrt{\text{कृ}}$ का पूर्वकालिक रूप।

भई जु रि कै खरी (सूर)

बहुक दिवस औरों ब्रज घसि कै (सूर)

खड़ी बोली हिन्दी में इसका थोड़ा भिन्न रूप पहनकर, लाकर आदि में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैगलम् के रूप इस प्रकार हैं।

जइ राय विपत्तिउ अणुमर खत्तिउ कट्टि कण वहि छन्द भणौ (३३०।३, ४) 'कट्टिकइ' काट कर का पूर्व रूप है। ब्रजभाषा में 'काटि कौ' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कण भी महत्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय अप पसरत धरा गुरु सज्जिकरा (३३०।६)

धरा के तुक पर अन्तिम शब्द 'कर' का करा हो गया है। 'सज्जिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा सकता है, इसमें 'कर' खड़ी बोली में आज भी प्रचलित है। इसी तरह 'छक्कलु मुँह सणावि कर' (२५६।४) में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सन्देशरासक में 'दहेवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

ब्रजभाषा में भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोका ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य में थे और बाद में ये कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोइहि नाणीओ (५४७।३)

(२) पणिएँ भणौओ (३४८।१)

(३) पिगलें कहिओ (३२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप ब्रज में कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैगलम् में कर्मवाच्य रूपों के साथ साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पड़ते हैं।

(१) सिहर कं पिओ (२६०।१)

(२) नश्रण भपिओ (२६०।२)

(३) सो सग्माणीओ (५०६।२)

(४) पकुल्लिअ कुद उगो सहि चद (३७०।४)

क्रिया रूपों में और भी बहुत से महत्वपूर्ण प्रयोग प्राकृत पैगलम् की भाषा में मिलते हैं, जिनका आगे चलकर ब्रजभाषा में विकास और रूपान्तर दिखाई पड़ता है, सामान्य वर्तमान के लिए वर्तमान कृदन्त के अन्त (शतृ प्रत्यायान्त) रूपों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। उदाहरण (५०७।४), मण्के तिणि पलन्त (५६६।२) आदि। ऐसे रूप रासो, कबोर, चारण शैली के नरहरिमट आदि की रचनाओं में बहुत मिलते हैं।

§ १२१. ब्रजभाषा के अन्ध्र के बहु प्रचलित धौ, लौ, आदि रूप प्राकृत पैगलम् में नहीं मिलते। किन्तु प्राकृत पैगलम् में 'लु' का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। 'लु' ब्रजभाषा में पादपूरक अन्ध्र है, जिसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है।

जिनपद्ममूरि नाम प्रसिद्ध किया।^१ इससे मान्य होता है कि श्री जिनपद्ममूरि १३८६ के आसपास विद्यमान थे, अतः थूलिमद् पागु का रचनाकाल इसी सवत् के आसपास मानना ज्यादा उचित होगा। थूलिमद् काव्य श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में संकलित है। परवता अपभ्रंश में लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रभाव अत्यधिक है, किन्तु सामान्यतः इसमें व्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। मुनि थूलिमद् पागुलिपुत्र में चतुर्मास व्यतीत करने के लिए रुकते हैं, वहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती है। लेखक ने वेश्या के साज शृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा में किया है।

काजलि अजिवि नयन जुय सिरि सभउ फाडेइ

वोरियाडिडि काचुलिय उर मडलि ताडेइ ॥१३॥

कन्नु जुयल जसु लइलहत किर मयण हिडोला
चञ्चल चपल तरग चग जसु नयण कचोला
सोहइ जसु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल मुकट जसु वाजइ सखतूरा ॥१४॥
लवणिम रसभरि कूवडीय जसु नाहिय रेहइ
मयगसाइ किर विनयसुखम जसु उरु सोहइ
जसु नत्र पल्लव कामदेव अकुस जिम राजइ
रिमकिम रिमकिम पाय कमलि घाघरिय मुद्राजइ ॥१५॥
नव जोवन विहसति देह नव नेह गहिह्ली
परिमल लहरिहि मदमयत रइ केलि पहिह्ली
अहर विन परवाल खण्ड वर चपा वनो
नयन सल्लगिय हाव भाव बहुगुण सम्पुर्ण ॥१६॥

इणि मिगगारि करेवि वर जय जाई मुणि पासि

जो एवा कडतिग मिलिय सुर किनर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत काजलि < कजल, काचुलिय < कञ्चुलिय, वाजइ < वजइ, घाघरिय < घग्घर (देशीनाम मान्य) आदि शब्द, निर्भिन्निक कारक प्रयोग, जस, जसु, जो आदि सर्वनाम जिम तिम त्रिया विशेषण, अति विरसित अपभ्रंश के तिङन्त रूप तथा लइलहत, विहसति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्तों के स्त्रीलिंगी सम्पुर्ण, वनो, गहिह्ली, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तत्सम शब्दों की अति बहुलता आदि विशेषताएँ इस भाषा को पूर्ववता अपभ्रंश से काफी दूर और व्रज के निकट पहुँचाती हैं।

हिडोला, कचोला, मसूरा, सखतूरा, आदि प्रयोगों को देखने से यद्यपि खड़ी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग व्रज में भी चन्ते हैं।

जिनपद्ममूरि नाम प्रसिद्ध किया।^१ इससे सादृश होता है कि श्री जिनपद्ममूरि १३८६ के आसपास विद्यमान थे, अतः थूलिमह कागु का रचनाकाल इसी सवत् के आस पास मानना ज्यादा उचित होगा। थूलिमह कागु श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य समग्र में संकलित है। परवता अपभ्रंश में लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रमाण अवश्यमासी है, किन्तु सामान्यतः इसमें व्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। मुनि हथूलिमह पाण्डिपुत्र में चतुर्मास व्यतीत करने के लिए रुकते हैं, वहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती है। लेखक ने वेश्या के साज शृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा में किया है।

कानलि अजिवि नयन जुय सिरि सभउ फाडेइ

वोरियाडिटि काचुलिय उर मडलि साडेइ ॥१३॥

कन्नु जुयल जसु लहलहत किर मयण हिडोला

चञ्चल कचल तरग चग जसु नयण कचोला

सोहइ जसु कपोल पालि जणु गालि मसूरा

कोमल विमल मुकट जसु वाजइ सखतूरा ॥१४॥

लवणिम रमभरि कूवडीय जसु नाहिय रेहइ

मयगराइ किर विनयस्यम जसु उरु सोहइ

जसु नत्र पल्लव कामदेव अकुस जिम राजइ

रिमफिम रिमफिम पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥१५॥

नव जोवन विहसति देह नव नैह गहिह्री

परिमल लहरिहि मदमयत रइ केलि पहिह्री

भहर विव परवाल खण्ड वर चपा वली

नयन सल्लणिय हात्र भाव बहुगुण सम्पुर्ण ॥१६॥

इणि मिणगारि करेवि वर जव आई मुणि पासि

जो ण्वा कडतिग मिलिय सुर किनर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत काजलि < कजल, काचुलिय < कञ्चुलिय, वाजइ < वजइ, घाघरिय < घग्घर (देशीनाम मान्य) आदि शब्द, निर्भिन्नक कारक प्रयोग, जस, जसु, जो आदि सर्वनाम जिम तिम त्रिया विशेषण, अति विकसित अपभ्रंश के तिङन्त रूप तथा लहलहत, विहसति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्तों के स्त्रीलिंगी सम्पुर्ण, वजो, गहिह्री, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तत्सम शब्दों की अति बहुलता आदि विशेषताएँ इस भाषा की पूर्ववर्ता अपभ्रंश से काफी दूर और व्रज के निकट पहुँचाती हैं।

हिडोला, कचोला, मसूरा, सखतूरा, आदि प्रयोगों को देखने से यद्यपि खड़ी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग व्रज में भी चन्ते हैं।

१. ऐतिहासिक जैन काव्य समग्र, अगरचन्द नाहटा और भवरलाल नाहटा, कलकत्ता

किन्तु चर्यांगीन की भाषा अन्तःप्रवृत्ति की दृष्टि से अवहट्ट या परवर्ती अरभ्रश से साम्य रखने हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रंगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विवरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित अवस्था में जैन भाडारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यन्त वैज्ञानिक परिचय डा० तेसीतोरी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४-१६ के बीच इण्डियन ऐंटिक्वैरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन ब्रजभाषा के कुछ समता-सूचक तत्त्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या ब्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४ पिंगल भाषा का किंचित् रूपादर्श प्राकृत पैंगम् के कुछकल पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जे० वूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने रासो एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहस की और खडनमडन की अजस्र धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलाजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड^१, डा० वूलर^२, डा० मारिसन^३, डा० ओम्स^४ तथा डा० दशरथ शर्मा^५ जैसे कुछ विद्याभ्यनर्ती व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसंगों की क्रमिक जांच भी होती रही। डा० वूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्यों कि वे सन् ९१३ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रशस्तियों में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषयनाओं को देखते

१. एनहम एंड एन्टिक्वीटीज़ ऑफ राजस्थान, १८२६

२. प्रोसिडिंग्स आफ जे० ए० एस० सी०, जनवरी, १८६३

३. सम एकाउण्ट्स आफ दी जेनिओलॉजीज़ इन, पृथ्वीराज विजय, वियना ओरियण्टल जर्नल, खंड सात, १८६३

४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन सं० भाग १, १९२० पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, कोपोन्सव स्मारक संग्रह, १९२८ ईस्वी

५. राजस्थान भारती भाग १ अंक २-३, मरुभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद बिनसाम की मुद्रा, जर्नल ऑफ ज्युमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया १९५४। दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

किन्तु चर्यांगीन की भाषा अन्तःप्रवृत्ति की दृष्टि से अवहट्ट या परवर्ती अरभ्रश से साम्य रखने हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रंगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विवरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का चित्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित ग्रन्थों में जैन भाडारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यन्त वैज्ञानिक परिचय डा० तेस्रोतरी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४-१६ के बीच इण्डियन ऐंथिकवैरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन व्रजभाषा के कुछ समता-सूचक तत्त्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या व्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४ पिंगल भाषा का किञ्चित् रूपादर्श प्राकृत पैंगम् के कुछकल पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जे० वूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने शयल एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहुत की और खडनमडन की अजस्र धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलाजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड^१, डा० वूलर^२, डा० मारिसन^३, डा० ओम्स^४ तथा डा० दशरथ शर्मा^५ जैसे कुछ विद्याभ्यनर्नी व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसंगों की क्रमिक जांच भी होती रही। डा० वूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्यों कि वे सन् ९१३ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रशान्तियों में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषयनों को देखते

१. पुनरुप पृष्ठ पुन्टिक्वोटीज़ आव राजस्थान, १८२६
२. प्रोसिडिंग्स आफ जे० ए० यस० सी०, जनवरी, १८६३
३. सम एकाउण्ट्स आफ दी जेनिओलाजीज़ इन, पृथ्वीराज विजय, वियना ओरियण्टल जर्नल, खंड सात, १८६३
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन सं० भाग १. १९२० पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, कोयोत्सव स्मारक संग्रह, १९२८ ईस्वी
५. राजस्थान भारती भाग १ अंक २-३, मरुभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद बिनसाम की युद्धा, जर्नल आव ज्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इण्डिया १९५४। दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

कि 'पृथ्वीराज रासो वि० स० १६०० के आसपास लिखा गया। वि० स० १५-१७ की प्रशस्ति में रासों की घटनाओं का उल्लेख नहीं है। रासों की सबसे पुरानी प्रति १६४२ की मिश्री है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रमी संवत् १७३८ की राजप्रशस्ति में रासों का स्पष्ट उल्लेख है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासों का मूल ग्रन्थ वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था क्योंकि आज से १८५ वर्ष पहले उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५,००० श्लोकों का होना लिखा है, पृथ्वीराज रासों को प्राचीन सिद्ध करने की जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे निराधार हैं।^१ ओम्भा जी का यह निष्कर्ष तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्णतः सगत और युक्तिपूर्ण था किन्तु ओम्भा निबन्ध संग्रह के सम्पादक डा० दशरथ शर्मा के मत से : कई तरह के तथ्यों का समुचित रूप से उल्लेख उस निबन्ध की विशेषता है, किन्तु जिस समय यह लेख प्रकाशित हुआ रासों का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर प्राप्त हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि रासों किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासों का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ अनर्थ करने के लिए केवल रासों सार ही प्राप्त था, उन्हीं कारणों से ओम्भा जी की सब उत्तियाँ अब सर्वमान्य न रही।^२

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के चार छप्पयों ने रासों की भाषा को परवर्ती या नई प्रमाणित करने वालों की अट्ठल बाजियाँ को निर्मूल तो सिद्ध कर ही दिया, साथ ही इस ग्रन्थ के किसी न किसी रूप में प्राचीनतर होने की स्थापना को भी बल दिया। संवत् १५२८ की प्रति के आधार पर मुनिजिनविजय द्वारा सम्पादित इस संग्रह के पृथ्वीराज प्रबन्ध में तीन ऐसे छन्द आते हैं जो विकृत अवस्था में रासों के तीन छन्दों से पूर्ण साम्य रखते हैं। इस साम्य को देखते हुए मुनिजिनविजय जी ने लिखा कि 'कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि वह ग्रन्थ समूचा ही बनापटी है और सत्रहवीं शदी के आसपास बना हुआ है। यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृत भाषा पद्य पृ० ८६, ८८-८९ पर उद्धृत किए हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासों में लगाया है। और इन चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित और राज कवि था। उसने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृतभाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासों के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस तरह अनुभवी परीक्षक परिश्रम करके, लाख भूठे मोतियों में से मुट्ठी भर सच्चे मोतियों को अलग छोट सकता है, उसी तरह भाषा शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् इन लाख बनापटी श्लोकों में से उन अल्पसंख्यक सच्चे पद्यों को भी अलग निकाल सकता है।^३

१. ओम्भा निबन्ध संग्रह, भाग १, उदयपुर, पृ० ११२

२. वही, प्रस्तावना, पृ० २

३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, १९३६, पृ० ८-१०

कि 'पृथ्वीराज रासो वि० स० १६०० के आसपास लिखा गया। वि० स० १५-१७ की प्रशस्ति में रासों की घटनाओं का उल्लेख नहीं है। रासों की सबसे पुरानी प्रति १६४२ की मिस्री है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रमी संवत् १७३८ की राजप्रशस्ति में रासों का स्पष्ट उल्लेख है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूल ग्रन्थ वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था क्योंकि आज से १८५ वर्ष पहले उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५,००० श्लोकों का होना लिखा है, पृथ्वीराज रासो को प्राचीन सिद्ध करने की जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे निराधार हैं।" ओझा जी का यह निष्कर्ष तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्णतः सगत और युक्तिपूर्ण था किन्तु ओझा निबन्ध संग्रह के सम्पादक डा० दशरथ शर्मा के मत से : कई तरह के तथ्यों का समुचित रूप से उल्लेख उस निबन्ध की विशेषता है, किन्तु जिस समय यह लेख प्रकाशित हुआ रासो का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर प्राप्त हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि रासो किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासो का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ अनर्थ करने के लिए केवल रासो सार ही प्राप्त था, उन्हीं कारणों से ओझा जी की सब उत्तियाँ अब सर्वमान्य न रही।^१

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के चार छाप्यों ने रासों की भाषा को परवर्ती या नई प्रमाणित करने वालों की अटकल शक्तियों को निर्मूल तो सिद्ध कर ही दिया, साथ ही इस ग्रन्थ के किसी न किसी रूप में प्राचीनतर होने की स्थापना को भी बल दिया। संवत् १५२८ की प्रति के आधार पर मुनिजिनविजय द्वारा सम्पादित इस संग्रह के पृथ्वीराज प्रबन्ध में तीन ऐसे छन्द आते हैं जो विकृत अवस्था में रासों के तीन छन्दों से पूर्ण साम्य रखते हैं। इस साम्य को देखते हुए मुनिजिनविजय जी ने लिखा कि 'कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि वह ग्रन्थ समूचा ही बनापटी है और सत्रहवीं शदी के आसपास बना हुआ है। यह मत सर्राहा सत्य नहीं है। इस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृत भाषा पद्य पृ० ८६, ८८-८९ पर उद्धृत किए हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासों में लगाया है। और इन चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और दिल्लीक्षर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित और राज कवि था। उसने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृतभाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस तरह अनुभवी परीक्षक परिश्रम करके, लाख भूँडे मोतियों में से मुट्ठी भर सच्चे मोतियों को अलग छोट सकता है, उसी तरह भाषा शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् इन लाख बनापटी श्लोकों में से उन अल्पसंख्यक सच्चे पद्यों को भी अलग निकाल सकता है।^३

१. ओझा निबन्ध संग्रह, भाग १, उदयपुर, पृ० ११२

२. वही, प्रस्तावना, पृ० २

३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, १९३६, पृ० ८-१०

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'तारीख पृथुराज वज्रवान पिंगल तसनीफ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है; पृथुराज का इतिहास पिंगल जवान में, रचयिता चन्द वरदाई।^१ गाँगा द तासी १२वीं से आजतक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को ब्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'ब्रजप्रदेश की खास बोली ब्रजभाषा उन आधुनिक बोलियाँ में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स ऑफ राजस्थान की सामग्री ली।^२ तासी जब ब्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब ब्रजप्रदेश की बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतोरी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिन्धिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पिंगलम् की) उस भाषा समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पिंगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।^३ जार्ज प्रियर्सन चन्द के रासो को ब्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सूरदास को ब्रज का दूसरा कवि।^४ यहाँ प्रियर्सन भी रासो की भाषा को ब्रजभाषा का प्रारम्भिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) का आरम्भिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ़ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।' डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया ब्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'^५

§ १२६. उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन ब्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवता वशभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से मिश्रती-जुलती कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपिंगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुलती भाषा १६५० सवत् के जान कवि के कयामठा रासा में है, नरहरिभट्ट के छप्पयो में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर चार्णोय, १९५३, पृ० ६६

२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम स० की पहली जिल्द की भूमिका १८३६ ई०

३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६, काशी, १९५६

४. लिग्निस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, खण्ड ६, भाग प्रथम पृ० ६६

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'तागीर पृथुराज वज्रवान पिंगल तसनीफ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है; पृथुराज का इतिहास पिंगल बवान में, रचयिता चन्द वरदाई।^१ गार्सो द तासी १२वीं से आज तक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को ब्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'ब्रजप्रदेश की खास बोली ब्रजभाषा उन आधुनिक बोधिया में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स ऑफ राजस्थान की सामग्री ली।^२ तासी जब ब्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब ब्रजप्रदेश की बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतोरी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिन्धिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पैंगलम् की) उस भाषा समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पैंगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।^३ जार्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को ब्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सूरदास को ब्रज का दूसरा कवि।^४ यहाँ ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को ब्रजभाषा का प्रारम्भिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) का आरम्भिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ़ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।' डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया ब्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली की सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृतभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'^२

§ १२६. उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन ब्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवता वशभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से भिन्नी-जुन्नी कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपैंगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुन्ती भाषा १६५० सत्रत् के जान कवि के कामगजा रासो में है, नरहरिभट्ट के छप्पयों में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर चार्ण्य, १९५३, पृ० ६६

२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम स० की पहली जिल्द की भूमिका १८३६ ई०

३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६, काशी, १९५६

४. लिम्बिस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, खण्ड ६, भाग प्रथम पृ० ६६

रासो का छप्पय—

अगह मगह दाहिमौ देव रिपराइ खयकरु
कूरमंत जिन करौ मिले जगूवै जगर
मो सह नामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै
अक्सै चंद बिरद बिमौ कोइ एहु न बुझै
प्रथिराज सुनवि सभरि धनी इह सभलि
कैमास वलिष्ट वसीठ बिन म्लेच्छ वध वधो मरित

(रासो पृ० २१८२ पद्य ४०६)

पुरातन प्रबन्ध का तीसरा छप्पय—

त्रिन्हि लख तुपार सबल पाखरी भइ जसु हय
चउदसय मयमत्त दति गजति महामय
वीस लख पायक सफर फारक धनुदर
हहसहू भरु बलु यान सक कुजाणइ ताई पर
छत्तीस लख नराहिवइ विहि विनडियो हो किम भयऊ
जह चंद न जाणउ जलहुकइ गयउ कि मूख कि धरि गयउ ॥

(पृ० ८८, पद्यांक २८७)

रासो का छप्पय—

असिय लख तोपार सजउ पखर सायइल
सहस हस्ति चौसट्टि गरुभ गजंत महामय
पच कोटि पाइक सुफर फारक धनुदर
जुध जुधान वर वीर तोर वंधन सदनभर
छत्तीस सहस रन नाइवौ विहि त्रिमान ऐसो कियौ
जे चन्द राइ कवि चन्द कह उदधि बुद्धि कै धर लियौ ॥

(रासो पृ० २५०२ पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की सख्या ही 'त्रिन्हि' यानी तीन लख से 'असी लख' नहीं हो गई बल्कि भाषा भी कम से कम सौ वर्ष का व्यन्धान मिटा कर नए रूप में सामने आई ।

§ १२८. प्राचीन छपदों की भाषा में सर्वत्र उद्धृत स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि नये छपदों में विवृति मिटाकर संयुक्त स्वर कर लिए गए हैं । यथा—

सडहडिंउं > व्यरहयौ (शब्दान्तर) चुक्यउ > चुक्यौ, कइवासह
> कैमास, जंरूपय (इ) > जंरूवै, बुज्झइ > बुज्झै, सुज्झइ > सुज्झै,
विभ (उ) > वियौ, चउदह > चौंसट्टि (शब्दान्तर) भयउ > भयौ

इस अवस्था को देखने से दो बातों का पता चलता है । प्राचीन छपदों की भाषा प्राकृत पैंगलम् की भाषा की तरह उद्धृत स्वरों को सुरक्षित रखती है जबकि नये छपदों की भाषा व्रजभाषा की तरह इन्हें सुरक्षित नहीं रखती । इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रभाव ।

रासो का छप्पय—

भगह मगह दादिमौ देव रिपराइ एयकरु
कूरमंत त्रिन करौ मिले जभूवै जगर
मो सह नामा सुनौ एह परमारय सुज्झै
भक्सै चंद विरह विमौ कोइ षहु न बुझै
प्रथिराज सुभवि समरि धनी इह सभलि
कैमास वलिष्ठ वसीठ त्रिन भ्लेच्छ वध वधो मरित

(रासो पृ० २१८२ पद्य ४०६)

पुरातन प्रबन्ध का तीसरा छप्पय—

त्रिन्हि लख तुषार सबल पाखरी भइ जसु हय
चउदसय मयमत्त दति गजति महामय
वीस लख पायक सफर फारक धनुदर
एहसह भरु बलु दान सक कुजाणइ ताई पर
छत्तीस लख नराहिवइ विहि त्रिनडियो हो किम भयऊ
जह चंद न जाणउ जहहुकइ गयउ कि मूभ कि धरि गयउ ॥

(पृ० ८८, पद्यांक २८७)

रासो का छप्पय—

असिय लख तोषार सजउ पखर सायइल
सहस हस्ति चौसट्टि गरुभ गजंत महामय
एच कोटि पाइक सुफर फारक धनुदर
जुध जुधान बर वीर तोर वंधन सदनभर

छत्तीस सहस रन नाइवौ विहि त्रिमान ऐसो कियौ
जे चन्द राइ कवि चन्द कह उदधि बुझि कै धर लियौ ॥

(रासो पृ० २५७२ पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की संख्या ही 'त्रिन्हि' यानी तीन लख से 'असी लख' नहीं हो गई बल्कि भाषा भी कम से कम सौ वर्ष का व्यन्धान मिटा कर नए रूप में सामने आई ।

§ १२८. प्राचीन छपदों की भाषा में सर्वत्र उद्धृत स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि नये छपदों में विवृति मिटाकर संयुक्त स्वर कर लिए गए हैं । यथा—

खडहडिंउं > व्यहर्यौं (शब्दान्तर) चुक्यउ > चुक्यौ, कइवासह
> कैमास, जंनूपय (इ) > जंनूवै, बुझइ > बुझै, सुझइ > सुझै,
विअ (उ) > वियौ, चउदह > चौंसट्टि (शब्दान्तर) भयउ > भयौ

इस अवस्था को देखने से दो बातों का पता चलता है । प्राचीन छपदों की भाषा प्राकृत पैंगलम् की भाषा की तरह उद्धृत स्वरों को सुरक्षित रखती है जबकि नये छपदों की भाषा व्रजभाषा की तरह इन्हें सुरक्षित नहीं रखती । इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रभाव ।

§ १३२. व > म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुत्रीस > पुहुमीस (पृथ्वीश)

कइवासह > कइमासह (कदम्बवास)

प्रियर्सन ने अलीगढ़ की, ब्रजभाषा में व > म परिवर्तन लक्ष्य किया था।

मनामन < मनावन (हिन्दी) वामन < वावन (हिन्दी) रोमति < रोवति ।^१ अपभ्रंश में ऐसे प्रतिरूप मिलने थे।

मन्मथ > वम्मह

प्राचीन छपदों में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छपदों में सर्वत्र 'न' कर दी गई है।
वाण > वान, नदण > नंदन, सद्भरिषणु > सभरिषन आदि। ब्रजभाषा में ण का न हो जाना है। वस्तुतः ब्रज में ण ध्वनि पूर्णतः लोप हो चुकी है (देखिये ब्रज भाषा § १०५)।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासों के पुराने पदों की भाषा १३ वीं १४ वीं की भाषा है। जो लोग इसे एकदम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्त्व की नवीन अप्रसरीनूत भाषा प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं देते जो परसर्ग, विभक्ति, त्रियारूपों और सर्वनामों की दृष्टि से काफी विकसित माझम होती है। दूसरी ओर रासों का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छपदों की भाषा का सीधा सम्बन्ध है। परवर्ती भाषा इसी का विकास है जो सूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३ वीं १४ वीं के भी बहुत से रूपों को सुरक्षित किये हुये हैं।

पृथ्वीराज रासों की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।^१

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का पुरातन प्रबन्ध के छपदों की भाषा के सिलसिले में उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३. रासों की भाषा में तत्सम-प्रयोगों के अलावा अन्य शब्दों में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में हाता है अमृत > अमिय, कृत > किय, हृदय > हिय, मृत्यु > मीचु, आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गई थी और बाद में ब्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती है।

१. लिग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड १, भाग १, पृ० ७१

२. रासों की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान बीम्स, स्टडीज इन ग्रामर आव चंदवरदाई, जे० ए० यस० बी०
खण्ड ४२, भाग १ पृ० १६५-१६१

(ख) हार्मले, गोडियन ग्रामर में यत्र-तत्र

(ग) नरोत्तमदास स्वामी, पृथ्वीराजरासों की भाषा, राजस्थान भारती भाग
१ अंक ४ पृ० १६४७

(घ) डॉ० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासों की भाषा, काशी, १९५६

(ङ) डा० विपिन विहारी त्रिवेदी-चन्दवरदाई और उनका काव्य, इलाहाबाद,
पृ० २८१-३६१

§ १३२ व > म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुवीस > पुहुमीस (पृथ्वीश)

कइवातइ > कइमातइ (कदम्बवास)

ध्रिर्सन ने अलीगढ़ की, व्रजभाषा में व > म परिवर्तन लक्ष्य किया था। मनामन < मनावन (हिन्दी) वामन < वावन (हिन्दी) रोमति < रोवति ।^१ अपभ्रंश में ऐसे प्रतिस्तर मिलने थे।

ममथ > वम्मह

प्राचीन छपदों में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छपदों में सर्वत्र 'न' कर दी गई है। वाण > वान, नदण > नंदन, सद्भरिषणु > सभरिषन आदि। व्रजभाषा में ण का न हो जाना है। वस्तुतः व्रज में ण ध्वनि पूर्णतः लोप हो चुकी है (देखिये व्रज भाषा § १०५)।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासों के पुराने पदों की भाषा १३ वीं १४ वीं की भाषा है। जो लोग इसे एकदम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्त्व की नवीन अप्रसूत भाषा प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं देते जो परसर्ग, विभक्ति, क्रियारूपों और सर्वनामों की दृष्टि से काफी विकसित माध्यम होती है। दूसरी ओर रासों का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छपदों की भाषा का सीधा सम्बन्ध है। परबर्ती भाषा इसी का विकास है जो घूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३ वीं १४ वीं के भी बहुत से रूपों को सुरक्षित किये हुये हैं।

पृथ्वीराज रासों की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।^१

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का पुरातन प्रबन्ध के छपदों की भाषा के सिलसिले में उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३. रासों की भाषा में तत्सम प्रयोगों के अलावा अन्य शब्दों में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में होता है अमृत > अमिय, कृत > किय, हृदय > हिय, मृत्यु > मीचु, आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गई थी और बाद में व्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती है।

१. लिङ्गिस्टिक सर्वे भाषा इंडिया, खण्ड ६, भाग १, पृ० ७१

२. रासों की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान बीम्स, स्टडीज इन ग्रामर भाषा चन्द्रवरदाई, जे० ए० यस० बी०

खण्ड ४२, भाग १ पृ० १६५-१६१

(ख) हार्नेले, गोडियन ग्रामर में यत्र-तत्र

(ग) नरोत्तमदास स्वामी, पृथ्वीराजरासों की भाषा, राजस्थान भारती भाग १ अंक ४ पृ० १६४७

(घ) डॉ० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासों की भाषा, काशी, १९५६

(ङ) डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी-चन्द्रवरदाई और उनके काव्य, इलाहाबाद, पृ० २८१-३६१

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नहीं मिलता । व्रज में 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है । वीम्स ने रासो का एक पद उद्धृत किया है जिसमें उन्हें ने ने का प्रयोग मिला था, बालप्पन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हें ने कर्ता करण की ओर नहीं बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देखा । इस प्रकार रासो की भाषा में ने का पूर्णतः अभाव है कीर्तिलता के दो चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोड़कर ने का प्रयोग १२ वीं १४ वीं के पिंगल अपभ्रंश साहित्य में कहीं नहीं मिलता । किन्तु रासो में अन्य कारकों में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है । करण में सू, सों यथा लफ्ख सों भिरे, राज सू कहइ । करण में ते का प्रयोग भी हुआ है । यह ते व्रज में तै' के रूप में दिखाई पड़ता है, पानि ते मेरु दिल्ले । सम्प्रदान में लागि या लगि तथा अपभ्रंश तणउ का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं (१) जीव लागि छुंडिय (२) गुनियन तन चाह्यो । व्रज में आरम्भिक रचनाओं में तन या तणा (आर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लागि का प्रयोग परवर्ती व्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक व्रज (१४००-१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है । सम्बन्ध के 'को' 'कउ' और के तीनों रूपों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं ।

१—कवि को मन स्तउ २—पृथीराज कउ ३—रोस कै दरिया आदि । अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मज्झ > माज्झ > माझ, मह माझारि आदि कई रूपों में मिलता है ।

§ १४३. सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा बहुत धनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पड़ते हैं ।

हैं, मै—तो हौ छुडों देहि, मैं सुन्या साहिविन अंष कोन

मो, मोहि—कह्यो मोहिनि वर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक

मेरे, मेरी—मेरे कहु राय न आवहु, मेरी अरदासि

हम, हमारी—हम मरन दिवस हैं मगलीक, आल्हा सुनो हमारी वानीय

इसी प्रकार तुम, तुम्ह, तुम्हइ, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं । व्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारका का निर्माण होता है । जाको देहन दोई, में जाको साधित रूप है । इसी तरह ता को, ता सौ, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं । सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा विल्कुल व्रज कही जा सकती है ।

§ १४४. वर्तमान में तिङन्त रूपों के अलावा जो अपभ्रंश से सीधे आये हैं और जिनका विकास व्रज में भी हुआ, अन्त वाले निष्ठा रूप भी प्रयुक्त हुए हैं, ठीक प्राकृत पैगलम् की तरह । भलकन्त कनक (कनक भलकता है) राइ अय्यत दान (राजा दान अर्पता है) यह पिंगल और प्राचीन व्रज की अपनी विशेषता है । भविष्य में—स—वाले रूपों के साथ ही—इ—प्रकार के रूप प्रयुक्त हुए हैं । भिदिहै, जानिहै, मानिहै आदि रूप व्रज के समान ही हैं । निष्ठा के भूत (कृदन्त) कालिक रूप स्त्रीलिंग कर्ता के अनुसार चली, उठी आदि बनते हैं । त्रियार्थक सज्ञा ण—प्रत्यय के योग से बनती है । व्रज की तरह ही, दिखण, चाहण, आदि जो उकारान्त होने से देखनो, चाहनो आदि व्रजरूप ले लेते हैं ।

§ १४५. भूत काल में इग से बने कुछ विलक्षण रूप मिलते हैं । भविष्यत् के गा वाले रूपों के विकास में इनका योग संभव है । वैसे ये गतः > ग बने प्रतीत होते हैं ।

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नहीं मिलता । ब्रज में 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है । वीम्स ने रासो का एक पद उद्धृत किया है जिसमें उन्हें ने ने का प्रयोग मिला था, वाल्पन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हें ने कर्ता करण की ओर नहीं बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देया । इस प्रकार रासो की भाषा में ने का पूर्णतः अभाव है कीर्तिलता के दो चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोड़कर ने का प्रयोग १२ वीं १४ वीं के पिंगल अपभ्रंश साहित्य में कहीं नहीं मिलता । किन्तु रासो में अन्य कारकों में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है । करण में तू, सो यथा लफ्ख सों भिरे, राज सूं कहइ । करख में ते का प्रयोग भी हुआ है । यह ते ब्रज में तै' के रूप में दिखाई पड़ता है, पानि ते मेरु दिल्ले । सम्प्रदान में लागि या लग्न तथा अपभ्रंश तणउ का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं (१) जीव लागि छुंडिय (२) गुनियन तन चाह्यो । ब्रज में आरम्भिक रचनाओं में तन या तणा (आर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लागि का प्रयोग परवर्ती ब्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक ब्रज (१४००-१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है । सम्बन्ध के 'को' 'कउ' और के तीनों रूपों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं ।

१—कवि को मन स्तउ २—पृथीराज कउ ३—रोस कै दरिया आदि । अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मज्जु > माज्जु > माऊ, मह माभारि आरि कई रूपों में मिलता है ।

§ १४३. सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा बहुत धनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पड़ते हैं ।

हौं, मै—तो हौं छुडो देहि, मै सुन्या साहिबिन अंघ कौन
मो, मोहि—कह्यो मोहिनि वर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक
मेरे, मेरी—मेरे कछु राय न आवहु, मेरी अरदासि

हम, हमारी—हम मरन दिवस हैं मगलीक, आल्हा सुनो हमारी वानीय

इसी प्रकार तुम, तुम्ह, तुम्हइ, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं । व्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारका का निर्माण होता है । जाको देहन होई, में जाको साधित रूप है । इसी तरह ता को, ता सौ, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं । सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा विल्कुल ब्रज कही जा सकती है ।

§ १४४. वर्तमान में विदन्त रूपों के अलावा जो अपभ्रंश से सीधे आये हैं और जिनका विकास ब्रज में भी हुआ, अन्त वाले निष्ठा रूप भी प्रयुक्त हुए हैं, ठीक प्राकृत पैगलम् की तरह । भलकन्त कनक (कनक भलकता है) राइ अप्पत दान (राजा दान अर्पता है) यह पिंगल और प्राचीन ब्रज की अपनी विशेषता है । भविष्य में—स—वाले रूपों के साथ ही—ह—प्रकार के रूप प्रयुक्त हुए हैं । भिदिहै, जानिहै, मानिहै आदि रूप ब्रज के समान ही हैं । निष्ठा के भूत (कृदन्त) कालिक रूप स्त्रीलिंग कर्ता के अनुसार चली, उठी आदि बनते हैं । त्रिपार्थक सज्ञा ण—प्रत्यय के योग से बनती है । ब्रज की तरह ही, दिखण, चाहण, आदि जो उकारान्त होने से देखनो, चाहनो आदि ब्रजरूप ले लेते हैं ।

§ १४५. भूत काल में इग से बने कुछ विलक्षण रूप मिलते हैं । भविष्यत् के गा वाले रूपों के विकास में इनका योग समभव है । वैसे ये गतः > ग बने प्रतीत होते हैं ।

शब्दों में भी परिवर्तन हुए हैं।^१ चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४२. पृथ्वीराज रासो के अगवा कई अन्य रासो काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गए। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रासो और नरपति नाल्ह का वाँसदेव रासो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रासो के ही एक अंश से यह सूचित होता है कि ये सिरोंहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ़ के यादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कवि के रूप में इन्हें राजा से एक नगर, सात सौ गाँव, हाथी, घोड़े और रत्न जड़ित कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

भये भट्ट प्रभु यज्ञ ते है सिरोंहिया धन ॥
 वृत्तेश्वर यदुवस के नल्ल पल्ल दल सल ॥
 वाँसा सो गजराज वाजि सोलह सो माते ।
 दिये सात सौ ग्राम सहर हिंदोन सुदाते ॥
 सुतर दिये द्वै सहस रकम गिलमे भरि अवर ।
 कञ्चन रत्न जडाव बहुत दाने जु भदम्बर ॥
 कुल पूजित राव सिरोंहिया यादव पति निज सम कियव ।
 नृप विजयपाल जू विजयगढ़ साह ये जू सम्मपियव ॥

ग्यारहवीं शताब्दी में करौली में विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अजमेर, भरतपुर, धौलपुर आदि राज्यों के कुछ भागों पर भी अधिकार कर लिया था।^२ प० मेंतीलाल मेनारिया ने इस ग्रंथ को १६०० का बताया है।^३ जबकि मिश्रब्रधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमानित करते हैं। इस ग्रन्थ को अत्यन्त परवर्ती माननेके कारणों का जिक्र करते हुए मेनारिया जी लिखते हैं कि 'गजनी ईरान, काबुल, दिल्ली, दूडाड आदि पर विजयपालका एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रंथ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरञ्जन है। दूसरे यह कि इस ग्रंथ पर पृथ्वीराज रासो (१२ वीं शताब्दी) और वशभास्कर (१२६७) दोनों का प्रभाव साफ झलकता है।^४ मेनारिया जी के दोनों तर्क बहुत प्रबल नहीं हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १४ वीं शताब्दी में ही हो चुका था जिसका निर्वाह वशभास्कर जैसे परवर्ती ग्रंथ में यानी १८ वीं शताब्दी के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातों के उल्लेख की तो ऊपर जितने इतिहास विरुद्ध घटना कहा गया है वह मात्र अतिरञ्जन और आश्रयदाता की प्रशस्ति में

१. अरबी फारसी शब्दों का एक विस्तृत सूची, मूल के साथ डा० विपिनविहारो त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्द्रवरदायाँ और उनका काव्य, पृ० ३१३-४६

२. द हलिंग मिसेज़ चाफ्स भार लोडिंग परसोनेनेज़ इन राजपूताना, छठों संस्करण, पृ० ११५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८३-८४

४. वही, पृ० ८३-८४

शब्दों में भी परिवर्तन हुए हैं।^१ चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४२. पृथ्वीराज रासो के अगवा कई अन्य रासो काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गए। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रासो और नरपति नाल्ह का वीरभद्रदेव रासो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रासो के ही एक अंश से यह सूचित होता है कि ये सिरोंहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ़ के यादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कवि के रूप में इन्हें राजा से एक नगर, सात सौ गाँव, दायी, घोड़े और रत्न जडित कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

भये भट्ट प्रथु यज्ञ ते है सिरोंहिया धन ।
 वृत्तेश्वर यदुवस के नल्ल पल्ल दल सल ॥
 वांसा सो गजराज वाजि सोलह सो माते ।
 दिये सात सौ ग्राम सहर हिंदोन सुदाते ॥
 सुतर दिये द्वै सहस रकम गिलमे भरि अवर ।
 कञ्चन रत्न जटाव बहुत दाने जु भट्टवर ॥
 कुल पूजित राव सिरोंहिया यादव पति निज सम कियव ।
 नृप विजयपाल जू विजयगढ़ साह ये जू सम्मपियव ॥

ग्यारहवीं शताब्दी में करौली में विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अन्वर, भरतपुर, धौलपुर आदि राज्यों के कुछ भागों पर भी अधिकार कर लिया था।^२ प० मेंतीलाल मेनारिया ने इस ग्रंथ को १६०० का बताया है।^३ जबकि मिश्रब्रधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमानित करते हैं। इस ग्रन्थ को अत्यन्त परवर्ती माननेके कारणों का जिक्र करते हुए मेनारिया जी लिखते हैं कि 'गजनी ईरान, काबुल, दिल्ली, दूराड आदि पर विजयपालका एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रंथ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरजन है। दूसरे यह कि इस ग्रंथ पर पृथ्वीराज रासो (१२ वीं शताब्दी) और बशभस्कर (१२६७) दोनों का प्रभाव साफ झलकता है।^४ मेनारिया जी के दोनों तर्क बहुत प्रबल नहीं हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १४ वीं शताब्दी में ही हो चुका था जिसका निर्वाह बशभस्कर जैने परवर्ती ग्रंथ में यानी १८ वीं शताब्दी के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातों के उल्लेख की तो ऊपर जितने इतिहास विरुद्ध घटना कहा गया है वह मात्र अतिरजन और आश्रयदाता की प्रशस्ति में

१. भरवी फारसा शब्दों का एक विस्तृत सूची, मूल के साथ डा० विपिनविहारो त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्द्रवरदायी और उनका काव्य, पृ० ३१३-४६

२. द रलिंग प्रिंसेज चांफ्स भार लोडिंग परसोनेनेज इन राजपूताना, चूर्ड सस्करण, पृ० ११५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८३-८४

४. वही, पृ० ८३-८४

पर किया था जिसमें लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है।^१ रणमल्ल छन्द का एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

जिम जिम लसकर लोह रसि लोड्ड सासन लक्कि
ईडरवड् चडसड् चडड् तिम तिम समर कडक्कि ॥४४॥

पच चामर

कडक्कि मूँछ मूँछ मूँछ मल्ल मोलि मुगारि
चमक्कि चलि रणमल्ल भल्ल फेरि संगारि
चमक्कि धार छोडि धान छण्डि धाडि धगडा
पडक्कि पाट पक्कडन्त मारि मारि मगडा ॥४५॥

चुपई

हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिउ, समुहरि भरि ईडरवड् भाइउ
खान खवास खेलि बल धायु, ईडर अडर दुग तल गाह्यु ॥४६॥
दम दम कार ददाम दमक्कइ, दमडम दमडम डोल दमक्कइ
तरवर तरवर वेस पहटइ, तर तर तुरक पडइ लरु दुटइ ॥४७॥

श्रीधर व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रगी हुई है। भाषा प्रायः पृथ्वीराज रासो की तरह ही है। कहीं कहीं तो भाषा विल्कुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके बारे में शुक्ल जी ने लिखा है “भाषा मनोहर है पर शब्दों की तडा तड, पडापड से जी ऊवने लगता है।” तुलसीदास ने भी वीर प्रसंगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५१ चारण शैली की ब्रजभाषा के इस विवेचन से हम ब्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते हैं। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दों के विचार भी स्वाभाविक नहीं है, प्रयासजन्य कर्ण-कटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयंकर विकृति दिखाई पड़ती है। इस काल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालांकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का महा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा ब्रज की ही है। भाषा के बाहरी ढाँचे के भीतर ब्रज भाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जाने वाली ब्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरबारों की साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और मान्य है।

औत्तिक ब्रजभाषा का अनुमानित रूप—

§ १५२. १२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच जब कि विंगल ब्रज दरबारों की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी, मध्यदेश या शूरसेन प्रदेश की अपनी जन बोली का भी विकास हो रहा था। विंगल भाषा की ऊपरी बनावट और शारीरिक गठन के भीतर यद्यपि इस

१. प्राचीन गुर्जर काव्य, प्रस्तावना, पृ० १-२

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६४-६५

पर किया था जिसमें लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है।^१ रणमल्ल छन्द का एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

जिम जिम लसकर लोह रसि लोड्ड सासन लक्कि
ईडरवड चडसड चडड तिम तिम समर कडक्कि ॥४४॥

पच चामर

कडक्कि मूँछ मूँछ मूँछ मल्ल मोलि मुगारि
चमक्कि चलि रणमल्ल भल्ल फेरि संगारि
चमक्कि धार छोडि धान छण्डि धाडि धागडा
पडक्कि पाट पक्कडन्त मारि मारि मगडा ॥४५॥

चुपई

हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिउ, समुहरि भरि ईडरवड आइउ
खान खवास खेलि बल धायु, ईडर अडर दुगग तल गाह्यु ॥४६॥
दम दम कार ददाम दमक्कइ, दमदम दमदम डोल दमक्कइ
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तर तर तुरक पडइ लरु दुट्टइ ॥४७॥

श्रीधर व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रंगी हुई है। भाषा प्रायः पृथ्वीराज रासो की तरह ही है। कहीं कहीं तो भाषा बिल्कुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके बारे में शुक्ल जी ने लिखा है “भाषा मनोहर है पर शब्दों की तडा तड, पडापड से जी ऊबने लगता है।”^२ तुलसीदास ने भी वीर प्रसंगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५१ चारण शैली की ब्रजभाषा के इस विवेचन से हम ब्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते हैं। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दों के विस्तार भी स्वाभाविक नहीं है, प्रयासजन्य कर्ण-कटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयंकर विकृति दिखाई पड़ती है। इस काल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालांकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का मद्दा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा ब्रज की ही है। भाषा के बाहरी ढाँचे के भीतर ब्रज भाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जाने वाली ब्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरबारों की साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और मान्य है।

औत्तिक ब्रजभाषा का अनुमानित रूप—

§ १५२. १२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच जब कि पिंगल ब्रज दरबारों की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी, मध्यदेश या शूरसेन प्रदेश की अपनी जन बोली का भी विकास हो रहा था। पिंगल भाषा की ऊपरी बनावट और शारीरिक गठन के भीतर यद्यपि इस

१. प्राचीन गुर्जर काव्य, प्रस्तावना, पृ० १-२

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६४-६५

लेखकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप हो है किन्तु जिस प्रकार से भ्रष्ट ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणी ही कह जाती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी। उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि जिनपिजय लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना केवल कौशली अर्थात् अवधी उपनाम पूवाया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय आर्यकुलीन भाषाओं के विकास क्रम के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति ग्रंथों की भाषा तो ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमोत्तर अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का विवरण ब्रजभाषा के अत्यंत निकट पड़ता है। औक्तिक ब्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो करीब करीब वैसा ही था जैसा प्राकृत पिंगलम् की विकसित भाषा का या पिंगल सन्धी अन्य रचनाओं की भाषा का, किन्तु यह भाषा पहली की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जिन तद्भव शब्दों को (व्यजन लोप के बाद) ठीक से उच्चारण नहीं कर सकती वे या तो सन्धि या संकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिए गए या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति ग्रंथों में इस प्रकार के हजारों शब्द या पद मिलते हैं जो नई भाषा के विकास की सूचना देते हैं। नीचे हम उक्ति व्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति ग्रंथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं। इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नई प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। कई महत्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषतायें भी लक्षित होती हैं।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण से :

§ १५४. १-दूजेण सउ (सौं) सब काहू नूट (नुट कलह कर्मणि) उक्ति
व्यक्ति ३७।६२

(२) हों करओं (मैं करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतुहि दुलाल (इ) तेम तेम (तिमि तिमि) दूजण
कर हिय साल (इ) उक्ति-शक्ति (३८।१७)

(४) चोर (चोरो) धन मूस (इ) मूसे ४७।५

(५) सुऔ (सुआ < शुक्र) माणुस जेउ (ज्यो) बाळ (र) ५०।२६

उक्ति व्यक्ति प्रकरण के अन्तिम पत्र झुटित हैं इसलिए भूतकाल के रूपों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कौशली है, परन्तु ब्रज के कई प्रभाव 'उ' कागन्त प्रातिपदिक (प्रथमामें^१) हउ सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसगों की दृष्टि से ब्रज के प्रयोग साथ ही 'हि' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चाणुर्व्यास प्राचीन ब्रज का प्रभाव बताते हैं।^२) स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उक्ति व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ

1 I am inclined to look upon—u—as a form taken from Western Apabhramsa later strengthened by the similar affix from old Braj

Ukti vyakti Prakarana, Study, pp 40

2 This he is a short of made of all work so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhramsa and form old Braj

Ukti vyakti Prakarana Study, pp 37

लेखकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप ही है किन्तु जिस प्रकार से भ्रष्ट ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणी ही कहलती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी। उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि जिनपिजय लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना केवल कौशली अर्थात् अवधी उपनाम भूवाया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय आर्यकुलीन भाषाओं के विकास क्रम के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति ग्रंथों की भाषा तो व्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का विवरण व्रजभाषा के अत्यंत निकट पड़ता है। औत्तिक व्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो करीब करीब वैसा ही था जैसा प्राकृत पैंगलम् की विकसित भाषा का या पैंगल सक्थी अन्य रचनाओं की भाषा का, किन्तु यह भाषा पहली की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जिन तद्भव शब्दों से (व्यजन लोप के बाद) टीक से उच्चारण नहीं कर सकती वे या तो सन्धि या सकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिए गए या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति ग्रंथों में इस प्रकार के हजारों शब्द या पद मिलते हैं जो नई भाषा के विकास की सूचना देते हैं। नीचे हम उक्ति व्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति ग्रंथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं। इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नई प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। कई महत्त्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषताएँ भी लक्षित होती हैं।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण से :

§ १५४. १-दूजेण सउ (सौं) सब काहू नूट (शुट कलह कर्मणि) उक्ति
व्यक्ति ३७।६२

(२) हों करओं (मैं करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतहि दुलाल (इ) तेम तेम (तिमि तिमि) दूजण
कर हिय साल (इ) उक्ति-शक्ति (३८।१७)

(४) चोर (चोरो) घन मूस (इ) मूसे ४७।५

(५) सुओ (सुआ < शुक्र) माणुस जेउ (ज्यो) बाल (२) ५०।२६

उक्ति व्यक्ति प्रकरण के अन्तिम पत्र शुद्धित हैं इसलिए भूतकाल के रूपों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कौशली है, परन्तु व्रज के कई प्रभाव 'उ' कारन्त प्रातिपदिक (प्रथमामे^१) दउ सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसगों की दृष्टि से व्रज के प्रयोग साथ ही 'हि' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चातुर्व्या प्राचीन व्रज का प्रभाव बताते हैं^२) स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उक्ति व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ

1 I am inclined to look upon—u—as a form taken from Western Apabhransa later strengthened by the similar affix from old Braj

Ukti vyakti Prakarana, Study, pp 40

2 This he is a short of made of all work so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhransa and form old Braj

Ukti vyakti Prakarana Study, pp 37

१—प्राचीन व्रज में संभवतः तीन लिंग होते थे । प्रियर्सन ने नपुंसक लिंग के प्रयोग सहित किये थे । उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक सज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलतः नपुंसक था । सोना का नपुंसक रूप उन्होंने 'सोनों' बताया । 'अपनों धन' में अपनों को भी उन्होंने नपुंसक ही माना ।^१ सग्रामसिंह बालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

लिंगु तीन । पुलिंगु स्त्री लिंगु, नपुंसक लिंगु । भल्ल पुलिंगु, भली स्त्रीलिंग । भल्ल नपुंसक लिंगु ।^२

यहाँ भी नपुंसक लिंग की सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपर्युक्त रूप सोनों या अपनों में । उक्ति व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते हैं । लगता है कि यह नियम बाद में अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड़ दिया गया ।

२—१४ वीं शती तक के किसी पिंगल या अपभ्रंश के ग्रंथ में निम्नलिखित क्रिया विशेषणों का पता नहीं चलता जो व्रजभाषा में पर्याप्त सख्या में प्राप्त होने हैं और जिनका संकेत औचित्य ग्रंथों में पहली बार मिलता है लृ > लौ :

उपरि लृ = ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

हेठि लृ = नीचे तक ,, ,, ,,

तउ > तौ : तौ तहि उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृदादि प्रत्ययों का सहित विवरण नीचे दिया जाता है ।

- (१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादौ कर्तरि वर्तमाने शक्नुडानशौ
- (२) कीजतउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादौ कर्मण्यानश्
- (३) करणहार, लेणहार देणहार इत्यादौ वर्तमाने वुण तृचौ
- (४) कीधउ, दीधउ, लीधउ इत्यादौ अतीति निष्ठा क्वमुक्तानौ च
- (५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादौ क्त्वा
- (६) करिवा, लेवा, देवा, इत्यादौ तुम्
- (७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादौ कर्मणि तत्तानीयौ
- (८) करणहार, लेणहार इत्यादौ भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्यया से बने रूप व्रजभाषा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं । करतौ, लेतौ आदि (कर्तरि वर्तमान के) कीजो, लीजो, दीजो (कर्मणि प्रयोग में) करणहार, देणहार, भूतनिष्ठा के रूप कीधो दीधो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, ले, दे, क्रियार्थक सज्ञा में करिवा, लेवा के स्थान पर करिवो, लेवो, देवो आदि तथा तत्त्वत् के करिवो, लेवो, देवो रूप व्रज में अत्यन्त प्रचलित हैं ।

१. लिग्विष्टिक सर्वे भाषा इडिया, खण्ड ३, भाग १, पृ० ७७

२. बालशिक्षा सज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य सदर्थ, पृ० २०५

१—प्राचीन व्रज में संभवतः तीन लिंग होते थे । ग्रियर्सन ने नपुसक लिंग के प्रयोग लक्षित किये थे । उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक सज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलतः नपुसक था । सोना का नपुसक रूप उन्होंने 'सोनों' बताया । 'अपनों धन' में अपनों को भी उन्होंने नपुसक ही माना ।^१ सग्रामसिंह बालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

लिंगु तीन । पुलिंगु स्त्री लिंगु, नपुंसक लिंगु । भलु पुलिंगु, भली स्त्रीलिंग । भलु नपुसक लिंगु ।^२

यहाँ भी नपुसक लिंग की सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपर्युक्त रूप सोनों या अपनों में । उक्ति व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते हैं । लगता है कि यह नियम बाद में अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड़ दिया गया ।

२—१४ वीं शती तक के किसी पिंगल या अपभ्रंश के ग्रंथ में निम्नलिखित क्रिया विशेषणों का पता नहीं च्यता जो व्रजभाषा में पर्याप्त संख्या में प्राप्त होते हैं और जिनका संकेत औक्तिक ग्रंथों में पहली बार मिलता है लृ > लौ :

उपरि लृ = ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

हेठि लृ = नीचे तक ,, ,, ,,

तउ > तौ : तौ तर्हि उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृदादि प्रत्ययों का संहित विवरण नीचे दिया जाता है ।

(१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादौ कर्तरि वर्तमाने शकृडानशौ

(२) कीजतउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादौ कर्मण्यानश्

(३) करणहार, लेणहार देणहार इत्यादौ वर्तमाने वुण तृचौ

(४) कीधउ, दीधउ, लीधउ इत्यादौ अतीते निष्ठा क्वसुकानौ च

(५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादौ क्त्वा

(६) करिवा, लेवा, देवा, इत्यादौ तुम्

(७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादौ कर्मणि तत्पानीयौ

(८) करणहार, लेणहार इत्यादौ भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्ययों से बने रूप व्रजभाषा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं । करतौ, लेतौ आदि (कर्तरि वर्तमान के) कीजो, लीजो, दीजो (कर्मणि प्रयोग में) करणहार, देणहार, भूतनिष्ठा के रूप कीधो दीधो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, ले, दे, क्रियार्थक सज्ञा में करिवा, लेवा के स्थान पर करियो, लेवो, देवो आदि तथा तत्पत् के करिवां, लेवो, देवो रूप व्रज में अत्यन्त प्रचलित हैं ।

१. लिग्विष्टिक सर्वे आफ इडिया, खण्ड ३, भाग १, पृ० ७७

२. बालशिक्षा सज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ, पृ० २०५

ब्रजभाषा का निर्माण

औत्तिक से परिनिष्ठित तक

[वि० सं० १४००-१६००]

§ १५७. अष्टछाप के कवियों की ब्रजभाषा के माधुर्य सौष्ठव और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा-साहित्य के विद्वानों ने प्रायः आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक मानने वाले विद्वानों के विचारों की ओर हम 'प्रास्तामिक' में ही संकेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनकी पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्व नहीं दिया जा सकता था, इसीलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही संतोष कर लिया गया क्योंकि अब्बल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की ब्रजभाषा-काव्य परंपरा अत्यंत विशृङ्खलित और भग्नप्राय थी, दूसरे १४०० से १६०० विक्रमी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसकी भाषा पर सुव्यवस्थित तरीके से विचार भी नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओं का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया, उतना ही भिन्न भिन्न धाराओं के कवियों द्वारा स्वीकृत भाषा का विश्लेषण भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अवकाश और स्थल न था, किन्तु १४०० से १६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्पष्टतः बहुत उत्साह नहीं था, वैसे ही उसकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नहीं दिखाया गया। सन्तों की भाषा को 'सधुक्कटी' नाम देकर शुक्ल जी आगे बढ़ गए। वहीं कुछ विस्तार

ब्रजभाषा का निर्माण

औक्ति क से परिनिष्ठित तक

[ख्रि० सं० १४००-१६००]

§ १५७. अष्टछाप के कवियों की ब्रजभाषा के माधुर्य सौष्ठव और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा-साहित्य के विद्वानों ने प्रायः आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक मानने वाले विद्वानों के विचारों की ओर हम 'प्रास्ताविक' में ही संकेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनकी पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्व नहीं दिया जा सकता था, इसीलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही संतोष कर लिया गया क्योंकि अबल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की ब्रजभाषा-काव्य परंपरा अत्यंत विष्टुह्वलित और भग्नप्राय थी, दूसरे १४०० से १६०० विक्रमी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसकी भाषा पर सुव्यवस्थित तरीके से विचार भी नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओं का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया, उतना ही भिन्न भिन्न धाराओं के कवियों द्वारा स्वीकृत भाषा का विश्लेषण भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अवकाश और स्थल न था, किन्तु १४०० से १६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्पष्टतः बहुत उत्साह नहीं था, वैसे ही उसकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नहीं दिखाया गया। सन्तों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम देकर शुक्ल जी आगे बढ़ गए। वहीं कुछ विस्तार

भारत में छा गयी थी, इसमें बहुत बड़ तक काव्य रचना होती रही। १२ वीं शती में भी 'वंश मास्कर' जैसे ग्रन्थ इसमें लिखे गए, किन्तु यह सर्वमान्य साहित्य-भाषा का स्थान खो चुकी थी। इस प्रकार विचारणीय केवल तीन भाषाएं बच जाती हैं, तपस्विनी लुक्कड़ी, पूरबी और ब्रज।

§ १५२. 'पूरबी' शब्द को लेकर कुछ विद्वानों ने बहुत सोच-तान की है। पूरबी का अर्थ मोजपुरी या या अवधी या कुछ और इस पर निर्णायक दृंग से विचार नहीं हो सका है। कुछ लोग 'पूरबी' का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'पूरबी' के बारे में लिखते हैं कि 'पूर्व दिशा द्वारा उस मौलिक स्थिति (!) को और सूचित किया गया है जिसमें ब्रजभाषा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार के अन्तर को अनुभूति नहीं रहती। अतएव कबीर साहब की ऊपर उद्धृत माली का अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ही लगाना समीचीन होगा।' कबीर के शब्द हैं—बोली हमारी पूर्व की। 'पूर्व की बोली' का आध्यात्मिक अर्थ संगत हो सकता है, क्योंकि पूर्व-पक्ष के लोगों ऋषिों या स्वयं परमात्मा की। टीकाकारों ने भी ऐसा अर्थ दिया है। हालांकि इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए भी चतुर्वेदी जी ने कबीर की भाषा में अवधी-बोली के सोच-बोच का प्रयत्न किया है। मुझे लगता है कि 'पूरबी' शब्द कबीर ने जान बूझ कर 'पड़ोसी' या 'परिचर्या' से अपनी भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया। 'पूरबी' शब्द 'परिचर्या' का सार्वजनिक है, जो इस बात की सूचना देता है कि हिन्दी प्रदेश में दोनों प्रकार की भाषाएँ प्रचलित थीं। पूरबी का अर्थ साधारणतः वही है जो पूर्वी हिन्दी का है। कबीरदास भाषा के सूदन में ही के प्रति अधिक सूचेत मले ही न रहे हो किन्तु तत्कालीन संतां द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा और खड़ी बोली से अपनी निजी बोली का मंद हो वे पहचानते ही रहे होंगे। सम्भवतः कबीर ने सर्व-मान्य भाषा यानी ब्रज में अपने पूरबी प्रयोगों का संश्लेषण करते हुए स्वीकार किया कि पूर्व का होने के कारण अपनी भाषा 'पूरबी' का कुछ प्रभाव भी आ गया है। वैसे कबीर के कई पद मोजपुरी या अवधी में भी लिखे पड़ते हैं। रमैनी की भाषा में अवधी का प्रभाव स्पष्ट है। वैसे चौगई में लिखी अवधी रचनाओं का कबीर के समय तक काफी प्रचार हो चुका था। 'नूरकचन्दा', 'हरिचरित्र' जैसे काव्य ग्रन्थ लिखे जा चुके थे और उनका काफी प्रचार था। पूरबी का अर्थ मोजपुरी ही है। जिन पदों में मोजपुरी-प्रयोग हैं वे कितने प्राचीन हैं, यह कहना कठिन ही है। बीजक में ही यह अधिक भिन्नता है। बीजक सत्रहवीं शताब्दी में घनीली (छपरा) नद से प्रथम प्रचलित हुआ। ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

§ १६०. तपस्विनी लुक्कड़ी और ब्रज पर इन साथ-साथ विचार करें तो ज्यादा समीचीन होगा। खड़ी बोली और ब्रज के उद्गम, विकास और पारस्परिक सम्बन्धों पर बहुत विवाद हुआ है। परिणामतः इनकी विभिन्नता को उचित से ज्यादा महत्व दिया गया और १९वीं शताब्दी के अन्त में इनके समर्थकों में काफी बड़ा विवाद भी हुआ। खड़ी बोली और ब्रज दोनों ही पड़ोसी बोलियाँ हैं इसलिए इनमें समझा जाता है, विभिन्नता कम। दोनों के उद्गम और विकास के व्यंत्तों का सही अभिज्ञान उपयुक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करता है।

स्थानगत सबंध नहीं मालूम हो पाया है लेकिन संभवतः इनका निर्माण राजस्थान और ब्रज के उत्तरी भाग में पञ्जाब के पास वाले प्रदेश में हुआ होगा। खड़ी बोली को आद्यतन्त्र प्रवृत्ति का मूल कारण पञ्जाबी प्रभाव ही है। इस अनुमान का कारण पञ्जाबी भाषा की आद्यतन्त्र प्रवृत्ति कही जा सकती है। डा० चादुर्गा ने लिखा है कि किसी कारणवश दिल्ली में विकसित नई भाषा (खड़ी बोली) पर पञ्जाबी वागुरु जनपद हिन्दुस्तानी का समिन्नि प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।^१ चादुर्गा ने खड़ी बोली में द्वित्व व्यञ्जन-सुरक्षा को भी पञ्जाबी प्रभाव ही माना है। यही नहीं खड़ी बोली के उच्चारण पर भी पञ्जाबी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा अपनी परंपरा को सुरक्षित रखकर स्वाभाविक ढंग से विकसित हुई, शौरसेनी अभ्रश की कई प्रवृत्तियों सामान्य वर्तमान के तिष्ठन्त रूप सविभक्तिक पद (खड़ी बोली में केवल परसर्ग युक्त होते हैं) यथा घरहिं, द्वारे, मधुपुरिहिं आदि, व्यञ्ज। द्वित्व की सरलता की अरु मुकाब, उच्चारन्त क्रिया और सहा तथा विशेषण रूप का ब्रजभाषा ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया। इसके विपरीत पञ्जाबी के प्रभाव के कारण खड़ी बोली में क्रिया रूपों, विभक्तियों तथा उच्चारण में कई तरह के नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए।

§ १६२ खड़ी बोली के इस प्रारम्भिक रूप को जिसमें अभ्रश के बीज बिन्दु भी वर्तमान थे और जो राजस्थानी और पञ्जाबी प्रभावों को भी सनेटे हुई थी, और दिल्ली के आस-पास की बोली होने के कारण जिसे मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रेरणाहन मिला, सतों ने अपनाया था ताकि वे इस बहु प्रचारित भाषा के माध्यम से अपने संदेशों को दूर तक पहुँचा सकें।

खड़ी बोली के इस आकस्मिक उदय की पृष्ठभूमि में भाषा का स्वाभाविक विकास तथा जनता के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की आकांक्षा नहीं थी। बल्कि इसके विकास के पीछे कई प्रकार के राजनैतिक और सामरिक कारण थे। खड़ी बोली हिन्दी १६ वीं शताब्दी तक गैंगारों की ही भाषा समझी जाती थी। खुसरों ने एक स्थान पर हिन्दी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी 'आशिक' नामक कृति में खुसरों ने लिखा है : यह मेरी गल्ती थी क्योंकि यदि इस पर ठीक तरीके से विचार किया जाये तो मालूम होगा कि हिन्दी फारसी से किसी प्रकार हीन नहीं है, वह भाषाओं की मलका अरबा से थोड़ी हीन लग सकती है पर राय और रूप में जो जवान चलती है वह हिन्दी से हीन है।^२ बाहिर है कि खुसरों की हिन्दी सधुक्कड़ी खड़ी बोली नहीं थी। उसका स्पष्ट मतलब ब्रजभाषा या अभ्रश से था क्योंकि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का विकास इसी भाषा में हो रहा था। खुसरों के इस कथन को दृष्टि में रखकर डा० सैयद महीउद्दीन कादरी ने लिखा कि "यह वह जमाना है जब कि हिन्दुस्तान के हर हिस्से में अजीमुद्दीन लासानी इन्किलाब हो रहे थे और नई जमाने आलम में बुजुर्ग में आ रही थीं। तुनाचे खुसरों ने भी इन तन्दोलियों की तरफ इशारा किया है और पञ्जाब में और देहली के अतराफ व अकनाफ जो बेलियों उस वक्त सुरख्त थीं उनके मुज्जलिफ नाम गिनाए हैं। इनकी जवान (खुसरों की) ब्रजभाषा से निज्ती बुज्ती है। यह यकीन के साथ

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १८५

२. The History of India as told by its own Historians by Henry Elliot Vol 3 P P ३३०

स्थानगत सबंध नहीं मालूम हो पाया है लेकिन समभवत इनका निर्माण राजस्थान और ब्रज के उत्तरी भाग में पंजाब के पास वाले प्रदेश में हुआ होगा। खड़ी बोली को आधुनिक प्रवृत्ति का मूल कारण पंजाबी प्रभाव ही है। इस अनुमान का कारण पंजाबी भाषा की आधुनिक प्रवृत्ति कड़ी जा सकती है। डा० चाटुर्जी ने लिखा है कि किसी कारणवश दिल्ली में विकसित हुई भाषा (खड़ी बोली) पर पंजाबी चागरू जनपद हिन्दुस्तानी का समिन्नि प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।^१ चाटुर्जी ने खड़ी बोली में द्वित्व व्यञ्जन-सुरक्षा को भी पंजाबी प्रभाव ही माना है। यही नहीं खड़ी बोली के उच्चारण पर भी पंजाबी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा अपनी परंपरा को सुरक्षित रखकर स्वाभाविक ढंग से विकसित हुई, शौरसेनी अवभ्रश की कई प्रवृत्तियों सामान्य वर्तमान के तिष्ठत रूप सविभक्तिक पद (खड़ी बोली में जेवर परसर्ग युक्त होते हैं) यथा घरहिं, द्वारे, मधुपुरिहिं आदि, व्यञ्ज। द्वित्व की सरलता की अरु मुकाव, उच्चारण क्रिया और सहा तथा विशेषण रूप का ब्रजभाषा ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया इसने विरहीत पंजाबी के प्रभाव के कारण खड़ी बोली में क्रिया रूपों, विभक्तियों तथा उच्चारण में कई तरह के नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए।

§ १६२ खड़ी बोली के इसी प्रारम्भिक रूप को जिसमें अवभ्रश के बीज बिन्दु भी वर्तमान थे और जो राजस्थानी और पंजाबी प्रभावों को भी समेटे हुए था, और दिल्ली के आस-पास की बोली होने के कारण जिसे मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रेरणाहन मिला, सत्तों ने अपनाया था ताकि वे इस बहु प्रचारित भाषा के माध्यम से अपने सदेशों को दूर तक पहुँचा सकें।

खड़ी बोली के इस आकस्मिक उदय की पृष्ठभूमि में भाषा का स्वाभाविक विकास तथा जनता के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की आकांक्षा नहीं थी। बल्कि इसके विकास के पीछे कई प्रकार के राजनैतिक और सामरिक कारण थे। खड़ी बोली हिन्दी १६ वीं शताब्दी तक गँवारों की ही भाषा समझी जाती थी। खुसरों ने एक स्थान पर हिन्दी भाषा को बड़ी प्रशंसा की है। अपनी 'आशिक' नामक कृति में खुसरों ने लिखा है : यह मेरी गन्ती थी क्योंकि यदि इस पर ठीक तरीके से विचार किया जाये तो मालूम होगा कि हिन्दी पारसी से किसी प्रकार हीन नहीं है, वह भाषाओं की मलका अरबा से थोड़ी हीन लग सकती है पर शाय और रूप में जो जवान चलती है वह हिन्दी से हीन है।^२ बाहिर है कि खुसरों की हिन्दी सधुक्कड़ी खड़ी बोली नहीं थी। उसका स्पष्ट मतलब ब्रजभाषा या अवभ्रश से था क्योंकि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का विकास इसी भाषा में हो रहा था। खुसरों के इस कथन को दृष्टि में रखकर डा० सैयद महीउद्दीन कादरी ने लिखा कि "यह वह जमाना है जब कि हिन्दुस्तान के हर हिस्से में अब्जीनुरशान लासानी इन्किलाब हो रहे थे और नई जवाने आल्म में बुजुद में आ रही थी। चुनावे खुसरों ने भी इन तन्दोलियों की तरफ इशारा किया है और पंजाब में और देहली के अतराफ व अकनाफ जो बोलियाँ उस वक्त मुरचब थी उनके मुख्तलिफ नाम गिनाए हैं। इनकी जवान (खुसरों की) ब्रजभाषा से निश्चयी बुझती है। यह यकीन के साथ

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १८५

२. The History of India as told by its own Historians by Henry Elliot Vol 3 P P ३३७

का तथा परवर्ती मीर को भी इसी रेखते का उत्ताद कहा है। रेखता का ही एक रूप दक्षिण में दक्षिणी हिन्दी के नाम से मशहूर हुआ। दक्षिणी का पुराना कवि ख्वाजा वन्दानबाज मैसूरराज मुहम्मद हुसैन हैं (१३१८-१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी गद्य-रचना 'मीराजुल अशरीन' बहुत महत्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनाएँ मिलती हैं जिनमें मुहम्मदुल्ली तुलुबशा, इन्ननिशाती, शेखसादी आदि काफ़ी प्रसिद्ध हैं।^१

§ १६३. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्ल जी के शब्दां में 'सधुक्कड़ी' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायें, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के विनाश के समय शैव हो गये थे।^२ गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया।^३ यदि धर्मदास को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परंपरा में मानते हुए राहुल सांकृत्यायन उनका काल पाल्पशीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०६-४६ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।^४ इस प्रकार गोरखनाथ को वे नवीं शती का मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं।^५ डा० ब्रह्मचाल ने गोरखनाथ का समय सन् १०५० माना है और डा० फर्गुस्नर उन्हें १२५७ सवत् का बताते हैं। वस्तुनः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि नवीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होती। इन्हें यदि १३वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनु-सन्धित्तु विद्यार्थी के लिए तो इनका और भी अधिक महत्त्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की धामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० ब्रह्मचाल ने गोरखवानी (जोगेश्वरी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अथवा किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे त्रिकर्ता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

१. देखिए—दक्षिणी हिन्दी का गद्य और पद्य, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद

२. इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३३४

३. इनसाइक्लोपीडिया विज्ञानिका, पृ० ३२४-३३०

४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६

५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६६

को तथा परवर्ती मीर को भी इसी रेखते का उस्ताद कहा है। रेखता का ही एक रूप दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के नाम से मशहूर हुआ। दक्खिनी का पुराना कवि ख्वाजा बन्दानबाज मैयूदराज मुहम्मद हुसेनी हैं (१३१८-१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी गद्य-रचना 'मीराजुल अशरीन' बहुत महत्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनाएँ मिलती हैं जिनमें मुहम्मदगुली मुतुवशा, इन्ननिशाती, शेखसादी आदि काफी प्रसिद्ध हैं।^१

§ १६२. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्ल जी के शब्दा में 'सधुककड़ी' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायें, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के विनाश के समय शैव हो गये थे।^२ गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनकटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया।^३ यदि धर्मदास को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परंपरा में मानते हुए राहुल सांकृत्यायन उनका काल पालवशीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०६-४६ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।^४ इस प्रकार गोरखनाथ को वे नवीं शती का मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं।^५ डा० बट्टयाल ने गोरखनाथ का समय सन् १०५० माना है और डा० फर्गुहर उन्हें १२५७ सन् का बताते हैं। वस्तुन' गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि नवीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होती। इन्हें यदि १३वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनु-सन्धित्तु विचारों के लिए तो इनका और भी अधिक महत्त्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की प्रामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० बट्टयाल ने गोरखवानी (जोगेश्वरी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अर्थात् किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे लिपिकर्ता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

१. देखिए—दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद्य, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद

२. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन एण्ड इथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३२४

३. इनसाइक्लोपीडिया मिथानिका, पृ० ३२४-३३०

४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६

५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० २६

नहीं था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का सकेत करते हैं कि पदों के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। सतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी ओजस्वी उपदेशों, रुढ़ि-सडन, पालट विरोध या उसी प्रकार के अन्य परपरा-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित खड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारों, रागात्मक उपदेशों तथा निजी अनुभूतियों की बात पद शैली को ब्रजभाषा में करते थे। रेखता या खड़ी बोली शैली में बाद में कुछ पद भी लिखे गए, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ जी का भी समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओं का भी कुछ पता नहीं चलता। तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सिद्धो की नामावली में गुरुओं के नाम दिए हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुईपा और मीननाथ भी कहा गया है। डा० कल्याणी मल्लिक इन तीनों नामों को एक व्यक्ति से संबद्ध बताती है।^१ मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है किन्तु उनकी प्राप्त रचनाओं की भाषा को १३ वीं १४ वीं के पहले की नहीं माना जा सकता। डा० वागची ने मत्स्येन्द्र के कौल ज्ञान निरञ्जन नामक ग्रन्थ का संपादन किया है जिसका रचनाकाल ११ वीं शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में डा० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होंने जोधपुर की किसी प्रति में प्राप्त किए थे। इन दो पदों में तो एक पूर्णतः ब्रजभाषा का ही है।

राग धनादरी

पखेरु ऊड़िसो आय लीयो वीसराम
ज्यो ज्यो नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ॥ टेक ॥
जल कू चाहे माछली घण कू चाहे मोर
सेवन चाहे राम कू ज्यों चितवत चन्द चकोर ॥ १ ॥
यो स्वारथ को सेवतो स्वारथ छोडि न जाय
जब गोविंद किरपा करी म्हारो मन वो समायो आय ॥ २ ॥
जोगी सोई जाणीये जग तैं रहे उदास ।
तत निरजण पाइय कहै मछुन्दर नाथ ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्परी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद भी दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पंचमेल यानी रेखता है। डा० मल्लिक ने इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के नाम से संबद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोरख उपनिषद् की प्रतिलिपि जोधपुर की ही किसी प्रति से की गई। जिस प्रति से यह अंश लिया गया है वह सवत् २००२ की है जिसे किसी श्री बालराम साधु ने तैयार की थी। मूल प्रति का कुछ पता नहीं चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी और

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पूना, १९५४, पृ० १५-१६

नहीं था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का संकेत करते हैं कि पदों के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। सतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी श्रोजस्वी उपदेशों, रुढ़ि-खंडन, पाखंड विरोध या उसी प्रकार के अन्य परंपरा-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित खड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारों, रागात्मक उपदेशों तथा निजी अनुभूतियों की बात पद शैली की ब्रजभाषा में करते थे। रेखता या खड़ी बोली शैली में बाद में कुछ पद भी लिखे गए, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ जी का भी समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओं का भी कुछ पता नहीं चलता। तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सिद्धों की नामावली में गुरुओं के नाम दिए हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुईपा और मीननाथ भी कहा गया है। डा० कल्याणी मल्लिक इन तीनों नामों को एक व्यक्ति से संबद्ध बताती हैं।^१ मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी के पूर्व हो माना जाता है किन्तु उनकी प्राप्त रचनाओं की भाषा को १३ वीं १४ वीं के पहले की नहीं माना जा सकता। डा० वागची ने मत्स्येन्द्र के कौल ज्ञान निरञ्जन नामक ग्रन्थ का संपादन किया है जिसका रचनाकाल ११ वीं शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में डा० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होंने जोधपुर की किसी प्रति में प्राप्त किए थे। इन दो पदों में तो एक पूर्णतः ब्रजभाषा का ही है।

राग धनादरी

पखेरू ऊडिसी आय लीयो वीसराम
ज्यो ज्यो नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ॥ टेक ॥
जल कू चाहे माछली घण कू चाहे मोर
सेवन चाहे राम कू ज्यों चितवत चन्द चकोर ॥ १ ॥
यो स्वारथ को सेवडो स्वारथ छोडि न जाय
जब गोविंद किरपा करी म्हारो मन वो समायो आय ॥ २ ॥
जोगी सोई जाणीये जग तैं रहे उदास ।
तत निरजण पाइय कहै मछुन्दर नाथ ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्परी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद भी दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पंचमेल यानी रेखता है। डा० मल्लिक ने इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के नाम से संबद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोरख उपनिषद् की प्रतिलिपि जोधपुर की ही किसी प्रति से की गई। जिस प्रति से यह अंश लिया गया है वह सवत् २००२ की है जिसे किसी श्री बालराम साधु ने तैयार की थी। मूल प्रति का कुछ पता नहीं चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी और

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पूना, १९५४, पृ० १५-१६

और भाषा के विषय में प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा ही सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता ।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बड़ा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य भाषा का ब्रजभाषा नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले के काव्य ग्रन्थों में किसी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज ।' 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे । यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खड़ी बोली और ब्रज के विकास पर ठीक ढंग से विचार होना चाहिए । ब्रजभाषा खड़ी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अटूट शृंखला में विकसित होती आ रही है । इस भाषा के बहुत से पद सन्तों की वाणियों के रूप में संकलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं । ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, वह शौरसेनी भाषाओं की परम्परा की उत्तराधिकारिणी और ११वीं शती से १८वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत तथा सांस्कृतिक विचारों का प्रबल माध्यम रही है ।

§ १६७. ब्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है । पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तों ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में तो यह प्रमुख काव्य प्रकार ही हो गया । वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु प्राकृतपैगम्बर की रचनाओं, १३ वीं शती के खुसरो, गोपाल नायक आदि सर्गीतज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह चारणा पुष्ट होती है । लोक भाषाओं में आरम्भिक साहित्य प्रायः लोग गीतों के ढंग का ही होता है । देशी भाषा के संगीत की चर्चा तो बृहद्देशी के लेखक ने ७ वीं शती में ही की थी ।

अबलाबालगोपालैः चितिपालैर्निजेन्द्रया
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशि रुच्यते

१२वीं शती में सामन्ती दरबारों में संगीत का बड़ा मान था और राजपूत राजाओं का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से संगीत के आनन्दोपभोग के लिए गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी । खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं होनी, वही हाल गोपाल नायक की रचनाओं का है किन्तु इनके छिटपुट जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रज भाषा में १३ वीं शताब्दी में पद लिखे जाते थे । नाथों की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं । गोरख वाणों में बहुत से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं राग-रागिनी सम्मिश्रित । नाथों के बाद सन्तों ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे । १४६२ विक्रमी में ग्वालियर के विष्णुदास के पद ब्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं । ब्रजभाषा के गेय पदों का जादू मुदूर पूर्व में असम के शंकरदेव (दे० § ४२७-४८) से लेकर पश्चिम गुजरात के कवियों पर छा गया था ।

और भाषा के विषय में प्रचलित समीक्षापत्रों को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा ही सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बड़ा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य भाषा का ब्रजभाषा नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले के काव्य ग्रन्थों में किमी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज।'^१ 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खड़ी बोली और ब्रज के विकास पर ठीक ढंग से विचार होना चाहिए। ब्रजभाषा खड़ी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अटूट शृङ्खला में विवसित होती आ रही है। इस भाषा के बहुत से पद सन्तों की वाणियों के रूप में संकलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं। ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, वह शौरसेनी भाषाओं की परम्परा की उच्चाधिकारिणी और ११वीं शती से १८वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत तथा सांस्कृतिक विचारों का प्रबल माध्यम रही है।

§ १६७. ब्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तों ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में तो यह प्रमुख काव्यप्रकार ही हो गया। वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु प्राकृतैगन्धर्व की रचनाओं, १३ वीं शती के खुसरो, गोपाल नायक आदि सर्गातज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है। लोक भाषाओं में आरम्भिक साहित्य प्रायः लोग गीतों के ढंग का ही होता है। देशी भाषा के संगीत की चर्चा तो बृहदेशी के लेखक ने ७ वीं शती में ही की थी।

अबलावालगोपालैः चितिपालैर्निजेच्छया

गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशि रुच्यते

१२वीं शती में सामन्ती दरबारों में संगीत का बड़ा मान था और राजपूत राजाओं का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से संगीत के आनन्दोपभोग के लिए गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी। खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं होती, वही हाल गोपाल नायक की रचनाओं का है किन्तु इनके छिटपुट जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रज भाषा में १३ वीं शताब्दी में पद लिखे जाते थे। नाथों की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं। गोरख वाणी में बहुत से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं राग-रागिनी सम्मिश्रित। नाथों के बाद सन्तों ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे। १४६२ विक्रमी में ग्वालियर के विष्णुदास के पद ब्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं। ब्रजभाषा के गेय पदों का जादू सुदूर पूर्व में असम के शंकरदेव (दि० § ४२७-४८) से लेकर पश्चिम गुजरात के कवियों पर छा गया था।

द्विवेदी जी ने अपनी इस थीसिस के मंझन में बल्लभ संप्रदाय से मुगलों के सॉठगॉठ का जो जिक्र किया है, वह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलों के अनुराग या बल्लभ संप्रदाय के प्रति उनकी निष्ठा-भ्रष्टा की बात तो समझ में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वालियरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में बल्लभ संप्रदाय को मुगलों ने सहायता दी—यह बात विज्जुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नहीं पड़ा करते। शूरसेन के आधार पर शूरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शूरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसीसे यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी, और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव क्षेत्र को और विस्तृत बनाया। ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

§ १६६. ईस्वी १६७६ में मिर्जा खा ने ब्रजभाषा का जो वराकरण लिखा, उसमें ब्रज क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

‘मथुरा से ८४ कोश के घेरे में पडने वाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भाषाओं से पुष्ट है।’ इस कथन के दाद पत्र सन् १६५५ ए. ड. पर मिर्जा खा इस क्षेत्र में ग्वालियर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज प्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोभेदों में ग्वालियर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जार्ज प्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये हैं—

- (१) परिनिष्ठित ब्रज—चल्पो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
- (२) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर २—चल्पो
बुलन्दशहर
- (३) परिनिष्ठित ब्रज नं० ३ चलो
पूर्वी आगरा, धौलपुर ग्वालियर
- (४) कन्नौजी—चलो
एटा, मैनपुरी, बदायूँ, चरेली
- (५) बुन्देलखण्डी ब्रज—चलो
सिकरवारी, ग्वालियर का उत्तर पश्चिमी भाग
- (६) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्पो
भरतपुर, डोंग बोलियों
- (७) राजस्थानी ब्रज नं० २ मेवाती—चल्पो
गुड़गाँव
- (८) नैनीताल के तराई की मिश्रित ब्रजभाषा

भी हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि ‘हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

द्विवेदी जी ने अपनी इस थीसिस के मंथन में बल्लभ संप्रदाय से मुगलों के सौंडगाँठ का जो जिक्र किया है, वह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलों के अनुराग या दल्लभ संप्रदाय के प्रति उनकी निष्ठा-भ्रष्टा की बात तो सनभ में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वा-लियरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में बल्लभ संप्रदाय को मुगलों ने सहायता दी—यह बात विष्णुकुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नहीं पड़ा करते। शूरसेन के आधार पर शौरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शूरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसलिये वहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी, और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव क्षेत्र को और विस्तृत बनाया। ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

ई १६६. ईस्वी १६७६ में मिर्जा खां ने ब्रजभाषा का जो वराकरण लिखा, उसमें ब्रज क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

‘मथुरा से ८४ कोस के घेरे में पड़ने वाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भाषाओं से पुष्ट है।’ इस कथन के बाद पत्र संख्या १६५ ख पर मिर्जा खां इस क्षेत्र में ग्वालियर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज प्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोभेदों में ग्वालियर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जार्ज प्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये हैं—

- (१) परिनिष्ठित ब्रज—चल्यो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
- (२) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर २—चल्यो
बुलन्दशहर
- (३) परिनिष्ठित ब्रज नं० ३ चलो
पूर्वी आगरा, धौलपुर ग्वालियर
- (४) कन्नौजी—चलो
एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली
- (५) बुन्देलखण्डी ब्रज—चलो
सिकरवारी, ग्वालियर का उत्तर पश्चिमी भाग
- (६) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्यो
भरतपुर, डोंग बोलियों
- (७) राजस्थानी ब्रज नं० २ मेवाती—चल्यो
गुड़गाँव
- (८) नैनीताल के तराई की मिश्रित ब्रजभाषा

भी हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि ‘हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में ब्रजक्षेत्र के केंद्र नगर आगरा में हुआ। सर्व प्रथम नागरीप्रचारिणी सभा-संचालित हिन्दी ग्रंथों की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट (सर्वे आफ द हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स) में प्रस्तुत किया गया। स्व० डा० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा “यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनार्यें लिखीं, परन्तु जैन विद्वानों को भी इस लेखक का पता नहीं है। बंबई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितों का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०७ विक्रमी संवत् की रचना है। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७६५ दर्ज किया गया है जिसे ऋषधरमा नामक किमी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाराबंकी के जैन मंदिर में सुरक्षित बताई गई है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मंदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्टूबर १९५५ में जयपुर में श्री बघीचंद जी के जैन मन्दिर के अन्यवस्थित भांडार में, जिसका अब तक ‘कैटलाग’ भी नहीं बन सका है, उक्त ग्रंथ

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में ब्रजक्षेत्र के केंद्र नगर आगरा में हुआ। सर्व प्रथम नागरीप्रचारिणी सभा-संचालित हिन्दी ग्रंथों की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट (सर्वे आफ द हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स) में प्रस्तुत किया गया। स्व० डा० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा 'यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनाएँ लिखीं, परन्तु जैन विद्वानों को भी इस लेखक का पता नहीं है। बंबई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितों का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०७ विक्रमी संवत् की रचना है'। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७६५ दर्ज किया गया है जिसे ऋषधरमा नामक किमी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाराबकी के जैन मंदिर में सुरक्षित बताई गई है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मंदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्टूबर १९५५ में जयपुर में श्री बघीचंद जी के जैन मन्दिर के अन्यवस्थित भाटार में, जिसका अब तक 'कैटलाग' भी नहीं बन सका है, उक्त ग्रंथ

रविवार व्रत कथा से—

दोन्हीं इष्टि मैं रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हौं कियो बखाण
हीण अधिक भ्रष्टर जो होय, बहुरि सवारे गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

हौं मति हीण बुद्धि भयाण, मइ सामि को कियो बखाण
मन उछाह मइ कियउ विचित्त, पढित जण सोहह दे चित
पढित जण विनवउ कर जोरि, हउ मति हीण म लावहु खोरि ।

§ १७२ इसी प्रकार सरस्वती वंदना, नगर-वर्णन आदि प्रसंग कुछ साम्य रखते हैं किन्तु इन्हें रुढिगत साम्य भी कह सकते हैं। जो भी हो, दोनों अप्रवाल कवियों को एक सिद्ध करने का कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं होता है। इधर श्री अगरचंद नाहटा ने '१४११ के प्रद्युम्न चरित का कर्ता' शीर्षक एक निबंध जनवरी १९५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने कुछ अन्य प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियों की सूचना हम आरम्भ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल सवत् १६६८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सौधिया ओरियंटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नंबर ७४१ है जिसमें इस ग्रंथ का रचना काल सवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय वदी ११ आदित्यवार सवत् १६३४ है।

सम्बत् पचसइ हुइ गया
ग्यारहोत्तरा भरतइ (?) भया
भादव वदि पचमी ति, सारु
स्वाति नक्षत्र शनीचर वारु ११६।

१८ मई १९५६ की 'वीर वाणी' में आमेर भाडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैन ग्रंथ भाडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य' शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भाडार में प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियों में से जयपुर, कामा, वाराणसी और दिल्ली की चार प्रतियाँ में रचनाकाल सवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन सवतों की जंत्री को देखा गया पर वदी पचमी, सुदी पचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पड़ता' किन्तु सर्व रिपार्ट के निरीक्षक डा० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ६ अगस्त में शनिवार को उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पड़ता है।^१ श्री नाहटा ने सम्भवतः उपर्युक्त निर्णय देते समय डा० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

१ हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अंक १४, पृ० ११

२ He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday the 5th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday the 9th August 1354 A D Search Report 1923 25 page 17

रविवार व्रत कथा से—

दोन्हीं दृष्टि मैं रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हौं कियो बखान
हीण अधिक भवत जो होय, बहुरि सवारे गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

हौं मति हीण बुद्धि भयाण, मइ सामि को कियो बखान
‘मन उछाह मइ कियउं विचित्त, पडित जण सोहइ दे चित्त
पडित जण विनबड कर जोरि, इउ मति हीण म लावहु खोरि ।

§ १७२. इसी प्रकार सरस्वती वंदना, नगर-वर्णन आदि प्रसंग कुछ साम्य रखते हैं किन्तु इन्हें रुचिगत साम्य भी कह सकते हैं। जो भी हो, दोनों अप्रवाल कवियों को एक सिद्ध करने का कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं होता है। इधर श्री अगरचंद नाहटा ने ‘१४११ के प्रद्युम्न चरित का कर्ता’ शीर्षक एक निबन्ध जनवरी १९५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने कुछ अन्य प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियों की सूचना हम आरंभ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल सवत् १६६८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सौधिया ओरियंटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नम्बर ७४१ है जिसमें इस ग्रंथ का रचना काल सवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय वदी ११ आदित्यवार सवत् १६३४ है।

सम्बत् पंचसह हुइ गया
ग्यारहोत्तरा भरुह (?) भया
भादव वदि पंचमी ति, सारु
स्वाति नक्षत्र शनीचर वारु । १६।

१८ मई १९५६ की ‘वीर वाणी’ में आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने ‘राजस्थान के जैन ग्रंथ भांडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य’ शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भांडार में प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियों में से जयपुर, कामा, वाराणसी और दिल्ली की चार प्रतियों में रचनाकाल सवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि ‘तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन सवतों की जंत्री को देखा गया पर वदी पंचमी, सुदी पंचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पड़ता’ किन्तु सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक डा० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ६ अगस्त में शनिवार की उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पड़ता है। श्री नाहटा ने सम्भवतः उपर्युक्त निर्णय देते समय डा० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

१. हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अंक १-४, पृ० १६

2 He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday, the 5th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday the 9th August, 1354 A D Search Report 1923-25, page 17

पुन वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समझाया-बुझाया और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' में जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्व जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने बटुपुर के राजा हेमरथ की रानी चद्रावती का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस जन्म में उस दैत्य के रूप में पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाभ और दो प्रकार की विद्याओं सहित पुन अपने माँ-बाप से मिलेगा।

बड़ा होने पर प्रद्युम्न ने कालसकर के तमाम शत्रुओं को पराजित किया। राजा को अन्य रानियों से उत्पन्न पुत्रों ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किए। विजयार्ध शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुयें में गिराया, वन में छोड़ा, किन्तु सभी स्थानों से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापिस ही लौटा बल्कि अपने साथ प्रत्येक भयप्रद स्थान से अगणित आश्चर्यमय वस्तुओं को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से व्याह किया। सवरपत्नी कनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गई, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को झुकाना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुदन की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौग, उसने न केवल अपने मायावी घोड़ा से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकली ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्री का दिवाला भी निकाल दिया। तरह तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के कक्ष में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवों की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकड़ने आई, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पड़ी। नाराज बलराम स्वयं पकड़ने आये और मंत्र प्रभाव से सिद्ध बनते बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लगी की बात सुनाई और पिता से मिलने के लिए नया स्वाग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवों की सभा में जाकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवो और वीर पांडवों से सुसज्जित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण-बल्लभाको अपहृत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नहीं हूँ केवल उल-पारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुड़ाओ, यादवों की सेना आगे बढ़ी किन्तु मायास्त्रों से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र बेकार गए, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विफल कर देता। दाहिने अर्गों से बार बार पड़कने से कृष्ण को किमी रक्त सघी से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लडके से रुक्मिणी लौग देने की प्रार्थना की। अन्त में मल्ल युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का भडाफोड किया। कृष्ण ने व्यंग्यपूर्णक प्रद्युम्न से रुक्मिणीको ले जाने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन झुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाह का समाचार भी बताया, कि कैसे उसने रास्ते में कौरवों को पराजित कर दुर्याधन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में वधू के साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाइयाँ बजीं।

प्रद्युम्न के दो एक विवाह और हुए। दो एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में बहुत वर्षों के बाद जिन के मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव विनाश द्वारका घट का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैवल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए ग्रन्थ के श्रवण, मनन, पठन आदि के फलों का विवरण दिया है।

पुत्र वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समझाया-बुझाया और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' में जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्व जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने बट्टपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रावती का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस जन्म में उस दैत्य के रूप में पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाभ और दो प्रकार की विद्याओं सहित पुनः अपने माँ-बाप से मिलेगा।

बड़ा होने पर प्रद्युम्न ने कालसकर के तमाम शत्रुओं को पराजित किया। राजा को अन्य रानियों से उत्पन्न पुत्रों ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किए। विजयार्ध शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुयें में गिराया, वन में छोड़ा, किन्तु सभी स्थानों से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापिस ही लौटा बल्कि अपने साथ प्रत्येक मयप्रद स्थान से अगणित आश्चर्यमय वस्तुओं को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से व्याह किया। सवरपत्नी वनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गई, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को भुक्ताना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुदन की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौगा, उसने न केवल अपने मायावी घोड़ा से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकली ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्री का दिवाला भी निकाल दिया। तरह तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के कक्ष में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवों की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकड़ने आई, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पड़ी। नाराज बलराम स्वयं पकड़ने आये और मंत्र प्रभाव से सिंह बनते बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लगी की बात सुनाई और पिता से मिलने के लिए नया स्वाग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवों की सभा में जाकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवो और वीर पांडवों से मुसज्जित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण-वल्लभा को अपहृत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नहीं हूँ केवल जल-पारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुड़ाओ, यादवों की सेना आगे बढ़ी किन्तु मायास्त्रों से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र बेकार गए, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विकल कर देता। दाहिने अंगों से बार बार पड़कने से कृष्ण को किमी रक्त समधी से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लड़के से रुक्मिणी लौगा देने की प्रार्थना की। अन्त में मल्ल युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का भडाफोड़ किया। कृष्ण ने व्यग्रपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणी को ले जाने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन झुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाह का समाचार भी बताया, कि कैसे उसने रास्ते में कौरवों को पराजित कर दुर्याधन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में वधू के साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाइयाँ बजीं।

प्रद्युम्न के दो एक विवाह और हुए। दो एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में बहुत वर्षों के बाद जिन के मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव विनाश द्वारका घस का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैवल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए ग्रन्थ के अक्षण, मन्त्र, पठन आदि के फलों का विवरण दिया है।

श्रौंचली

सूरिज बस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेलहो चित्त
सुणो भाव धरि जापू कहै, नासै पाप न पीढी रहै ॥८॥

§ १७१ हरिचंद पुराण की कथा राजा हरिचंद की पौराणिक कथा पर ही आधारित है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचंद पुराण के कई अंश परिशिष्ट में दिये गए हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में ब्रजभाषा के औक्तिक प्रयोगों के साथ ही अपभ्रंश के अपशिष्ट रूप भी दिखाई पड़ते हैं। हँणीजइ, धूणीजइ, सुणन्तु, आपणँह (पण्ठी) फाडइ, दीयउ, तोडइ आदि बहुत से रूप अपभ्रंश प्रभाव की सूचना देते हैं, किन्तु भाषा में जन-मुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पड़ती है। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूढ़ प्रयोगों को छोड़कर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र पुलि वन भीतर जाइ, रानी भकली पती विलखाइ ।
सुत सुत कहै वयण ऊचरइ, नयण नीर जिमि पाउस मरइ ॥
हा धिग हा धिग करै ससार, फाटइ हियो अति करै पुकार ।
तोडइ लट अरु फाडइ चोर, देपै मुख अरु चोवै नीर ॥
धरि उड़ग सुप चूमा देइ, अरे बल्ल किम धान न पेइ ।
दीपउ करि दीणैउ अंधियार, चन्द विहुण निसि घोर अंधार ॥
वड़ विण गो जिमि कार्यों आदि, रोहितास विणु जीवों काहि ।
तोहि विणु मों जग पालट मयो, तोहि विणु जिवतहँ मारउ गयो ॥
तोहि विणु मैं दुप दोठ भपार, रोहितास लायो अँकवार ।
तोहि विणु नयन डलै कौ नीर, तोहि विणु सास ज्या मुके सरार ॥
तोहि विणु बात न भ्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ ॥

विष्णुदास (संवत् १४६२)

§ १७६. विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवास्पद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध शताब्दी पहले, जिन दिनों ब्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास व्यष्टिरूप के कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७ वीं शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओं की सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १६०६-८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १६०६ की खोज रिपोर्ट के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इस कवि के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, क्योंकि उस समय विन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओं, महाभारत कथा और स्वर्गरोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गई। ये दोनों पुस्तकें दत्तिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बताई गईं।

आँचली

सूरिज बस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त
सुणो भाव धरि जापू कहै, नासै पाप न पीडो रहै ॥८॥

§ १७१ हरिचंद पुराण की कथा राजा हरिचंद की पौराणिक कथा पर ही आधारित है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचंद पुराण के कई अंश परिशिष्ट में दिये गए हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में ब्रजभाषा के औक्तिक प्रयोगों के साथ ही अपभ्रंश के अवशिष्ट रूप भी दिखाई पड़ते हैं। हँणीज्जइ, धूणीज्जइ, सुणन्तु, आपणँइ (पट्टी) फाडइ, दीपउ, तोडइ आदि बहुत से रूप अपभ्रंश प्रभाव की सूचना देते हैं, किन्तु भाषा में जन-मुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पड़ती है। रोहितारव की मृत्यु पर शैव्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूढ़ प्रयोगों को छोड़कर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र पुछि वन भीतर जाइ, रानी अकली परी बिलखाइ ।
सुत सुत कहै वयण ऊधरइ, नयण नीर जिमि पाउस करइ ॥
हा धिग हा धिग करै ससार, फाटइ हियो भति करै पुकार ।
तोडइ रट अरु फाडइ चोर, देपै मुख अरु चोवै नीर ॥
धरि उछग सुप चूमा देइ, अरे बच्छ किम धान न पेइ ।
दीपउ करि दीपेउ अंधियार, चन्द बिहुण निसि घोर अंधार ॥
बछ विण गो जिमि कार्यो आदि, रोहितास विणु जीवो काहि ।
तोहि विणु मो जग पालट मयो, तोहि विणु जिवतहँ मारउ मयो ॥
तोहि विणु मैं दुप दोठ अपार, रोहितास लायो अँकवार ।
तोहि विणु नयन डलै कौ नीर, तेहि विणु सास ज्या मुके सरीर ॥
तोहि विणु बात न श्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ ॥

विष्णुदास (संवत् १४६२)

§ १७६. विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवास्पद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध शताब्दी पहले, जिन दिनों ब्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास व्यष्टिवाद के कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७ वीं शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओं की सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १६०६-८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १६०६ की खोज रिपोर्ट के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इस कवि के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, क्योंकि उस समय बिन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओं, महाभारत कथा और स्वर्गरोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गई। ये दोनों पुस्तकें दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बताई गईं।

घट घट व्यापक अन्तर जानी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास ।

विष्णुदास रुक्मिन अरनाई जनन जनम को दाय ॥^१

दा समान पदों में त्रिरी के कारण कितना बड़ा अन्तर उदस्थित हो गया है। पङ्क्तियों की पङ्क्तियाँ भ्रष्ट और कुम्भूत हैं। रुक्मिणी माऊ कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का माण्ड-काय है जिसमें विष्णुदास ने भक्ति और भृगुर का अनेखा सन्वय किया है।

§ १७७ मञ्जुभाषा में सप्त कृष्णमूर्ति का आरम्भ मञ्जुभाष्य के वृन्दावन पञ्चरत्न के ८०, ६० साल पङ्क्तियों की कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक तथ्य है। १६२६-२८ की रिपोर्ट में हा विष्णुदास की दूसरी कृति स्नेह लाल का भी विवरण दिया हुआ है। स्नेहलाल भक्तमाल का पूर्व रूप है। कृष्ण का एक दिन अचानक ब्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विह्वल कृष्ण उद्धव को गतिदों के लिए शन का सदेश देकर गङ्गुल भेजते हैं। लाल-मूर्ति उद्धव ब्रज का धूम्र में सारी निर्गुण-रिमा को लुप्तकर वापिस आते हैं। विष्णुदास के शब्दों में ही उद्धव का उत्तर सुनिये—

तब ऊधो आये यहाँ भा कृष्ण चन्द के धाम
पाय लागे बदन कियो देखत ले ले नाम १०६
माल बाज सब गोपिका ब्रज के जाव अनन्द
तुमही पाय लागन कह्यो सुनो देव ब्रह्मन् ११०
नन्द जसोदा हेत की कहिये कहा बनाय
वे जानै कै गुन मने मो पै कहा न जाय १११
वे चित्त दारत नहीं स्वाम राम का जोर
मध नामक पुरती अहै मूरति मधुर कियोर ११२
अस गोपिन के प्रेम का सहिमा कहु अनन्त
मैं पूछा पट् भास लों तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब छाति के करत रूप का ध्यान
वन को नवन विचारिये सो सब फको मान ११४
सन्त भक्ति भूतल विषै वे सब ब्रज का नार
चरा सरा रहीं सदा निष्या लग विमार ११५
उनके गुण नित गइये करि करि उत्तम प्राप्ति
मैं नाइन देखूँ कहूँ ब्रज वासिन् का रात ११६
तब हरि ऊधो सो कह्यो हूँ जनत सब भग
हो कहूँ छाड्यो नहीं ब्रज वासिन्ह का सा ११७
ब्रज तवि अनत न जायहो भो तो या देख
भूतल भार उतारहो परिहा रूप अनेक ॥ ११८

१. साव रिपोर्ट, १६२६-२८, पृ० ७१६, सत्या ४६८ पृ
२ रहा, पृ० ७६०, सत्या ४६६

घट घट व्यापक अन्तर जानी शिमुवन स्वानी सब सुखरास ।
विष्णुदास रुक्मन अरनाई जनम जनम को दाम ॥^१

दा समान पदों में निम्नी के कारण कितना बड़ा अन्तर उत्पन्न हो जाता है। पढ़ने पद की पक्तियों भ्रष्ट और कुम्भी हैं। रक्मिणी माल कृष्ण और रक्मिणी के विवाह का भाग्य-काय है जिसमें विष्णुदास ने भक्ति और गृहार का अनेका समन्वय किया है।

§ १७७ ब्रजभाषा में सगुण कृष्णभक्ति का आरम्भ ब्रजभाषाचार्य के वृन्दावन पधारने के ८०, ६० साल पढ़ने ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक रूप है। १६२६-२८ की रिपोर्ट में हा विष्णुदास की दूसरी कृति स्नेह लाल का भी विवरण दिया हुआ है।^१ स्नेहलाल भनरगत का पूर्व रूप है। कृष्ण का एक दिन अचानक ब्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विह्वल कृष्ण उद्धव को गणितों के लिए शन का सदेश देकर गङ्गुल भेजते हैं। शन-गन्धीर उद्धव ब्रज का धूमि में सारी निरुत्तरिमा को लुप्त कर वापिस आते हैं। विष्णुदास के शब्दों में ही उद्धव का उत्तर सुनिये—

तब ऊँचो आये यहाँ आ कृष्ण चन्द के धाम
पाय लागे बदन कियो बेग्त ले ले नाम १०६
माल बाज सब गोपिका ब्रज के जाव भनन्द
तुमही पाय लागन कह्यो सुनो देव ब्रह्मन् ११०
नन्द असोदा हेत की कहिये कहा बनाय
वे जानै कै तुम मने मो पै कहा न जाय १११
वे चित्त टारत नहीं स्वाम राम का जोर
मध नामक पुरतो अहै मूरति मधुर किशोर ११२
अस गोपिन के प्रेम का सहिमा कहु अनन्त
मैं पूछा पट् नास लों तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब छानि के करत रूप का ध्यान
बन को भजन विचारिये सो सब छको मान ११४
सन्त भक्ति भूतल विषै वे सब ब्रज का नार
चरण सरन रह्यो सदा निष्या लग विमार ११५
उनके गुण नित गइये करि करे उत्तम प्राप्ति
मैं नादिन देखूँ कहुँ अज वासिन का राव ११६
तब हारे ऊँचो सो कह्यो हूँ जनत सब अग
हो कहुँ छाड्यो नहीं अज वासिह का संग ११७
अज सवि भनत न जायहो मेरे तो या देह
भूतल भार उतारही धरिहा रूप अनेक ॥ ११८

१. साज रिपोर्ट, १६२६-२८, पृ० ७१६, सख्या ४६८ पृ
२ वहा, पृ० ७६०, सख्या ४६६

रिपोर्ट में इस प्रति का लिखिकाल संवत् १६६६ दिया हुआ है।^१ अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

‘इति श्री वीरकथा लयमतेन पद्मावती सम्पूर्ण सनाता, संवत् १६६६ वर्ष भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। पोथी के विवरण में १० पत्र, ६३” X ८” २६ पक्तियाँ और ४८ पद्य का हवाला दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पता चला है जो श्रीशगरचन्द्र नाहटा के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख त्रिपथगा में प्रकाशित किया है।^२ नाहटा जी के पास सुरक्षित प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है ‘इति श्री वीरकथा लयमतेन पद्मावती सम्पूर्ण सनाता संवत् १६६६ वर्ष भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। वही २६ पक्ति, वही ६३” X ८” के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही लिखिकाल, वार, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति कहते हैं किन्तु स्व. रिपोर्ट में सूचित, विद्याप्रचारिणी जैन समा, जयपुर की प्रति से इसमें कोई भिन्नता नहीं। न तो आज जयपुर में उस समा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनों प्रतियाँ बलुतः एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनों प्रतियो की भाषा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पड़ता है। नाहटा जी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्व रिपोर्ट में सूचित प्रति का अंश इस प्रकार है।

सुगो कथा रस लील विआस, योगी मरन राय बनवाम
मेलो करि कवि दामो कहइ, पदनायती बहुत दुख सहइ ॥१॥
काशनोर हुँत नीतरइ, पंचन सत असुतरस भरइ
सुकवि दामड लागइ पाय, हम वर दोषो सारइ माय ॥२॥
नमू गगेश कुंजर शेष, मूसा बाहन हाथ फरेस
लाइ लावन जस भरि पाल, विषन हरन समरुं दुदाल ॥३॥

केवल तीन चौमाइयो में ही भाषा-भेद देखें। सुगड (ना०) सुगो (सर्व०) मेलड (ना) मेलो (सर्व) दामड (ना) दामो (स) बाहन (ना०) बाहन (स०) लावन (ना०) लावन (स०)। सर्व रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह पूर्णतः ब्रजभाषा है। किन्तु नाहटा वाली प्रति में उद्धृत स्वर जो के लो हैं उनमें पुरानापन दिखाई पड़ता है, जबकि सर्व रिपोर्ट वाली प्रति में सूचना लेखक ने उद्धृत की सधि करके अड > भी कर लिया है। ण के स्थान पर प्रायः न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मान्यी अन्तर स्पष्ट होता है वत। प्रतियाँ प्रायः एक ही मध्यम होती हैं।

दामो कवि के बारे में कुछ विरोध पता नहीं चलता। इस आवतान की रचना के विषय में कवि की निम्न पक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं—

सबनु पनइ सोमोचरा मकारि
जेड बदी नवमी बुधवार
सत तारिका नक्षत्र इड जान
वीर कथा रस कहैं बखान ॥४॥

१. खोज रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५

२. त्रिपथगा अंक १०, जुलाई, १९५९ पृ० ५३-५८

रिपोर्ट में इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६६६ दिया हुआ है। अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

‘इति श्री वीरकथा लघननेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता, संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। पोथी के विवरण में १० पत्र, ६३" X ८" २६ पक्तियाँ और ४ पद्य का हवाला दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पता चला है जो श्रीभ्रगरचन्द्र नाहटा के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख त्रिपथगा में प्रकाशित कराया है।^१ नाहटा जी के पास सुरक्षित प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है ‘इति श्री वीरकथा लघननेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। वही २६ पक्ति, वही ६३" X ८" के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही लिपिकाल, शर, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति कहते हैं किन्तु स्वयं रिपोर्ट में सूचित, विद्याप्रचारिणी जैन समा, जयपुर की प्रति से इसने कोई भिन्नता नहीं। न तो आज जयपुर में उस समा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनों प्रतियाँ वस्तुतः एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनों प्रतिओं की भाषा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पड़ता है। नाहटा जी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्व रिपोर्ट में सूचित प्रति का अंश इस प्रकार है।

सुगो कथा रस लोल विलास, योगी मरन राय बनवाम
मेलो करि कवि दामो कहइ, पदनावती बहुत दुःख सहइ ॥१॥
काशनार हुँत नोसरइ, पंचन सत अमृतरस भरइ
सुकवि दामड लागइ पाय, हम वर दीपो सारद माय ॥२॥
नमू गगेश कुंजर शेष, भूसा वाहन हाथ फरेस
लाइ लावन जस भरि याल, विघन हरन समरुं दुदाल ॥३॥

केवल तीन चौनाइयों में ही भाषा-भेद देखें। सुगड (ना०) सुगो (सर्व०) मेलड (ना) मेने (सर्व) दामड (ना) दामो (स) काहन (ना०) वाहन (स०) लावन (ना०) लावन (स०)। सर्व रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह पूर्णतः ब्रजभाषा है। किन्तु नाहटा वाली प्रति में उद्धृत स्वर जो के लो हैं उनमें पुगनारन दिखाई पड़ता है, जबकि सर्व रिपोर्ट वाली प्रति में सूचना लेखक ने उद्धृत की संधि करके अउ औ कर दिया है। ग के स्थान पर प्रायः न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मानूनी अन्तर व्यक्त होता है वस। प्रतिगत प्रायः एक ही मसूमा होती है।

दामो कवि के बारे में कुछ विषेय पता नहीं चलता। इस आचरण की रचना के विषय में कवि की निम्न पक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं—

सबनु पनइ सोलोचरा मन्तारि
जेड बदी नवमी बुधवार
सत तारिका नचव इड जान
वीर कथा रस कहै बलान ॥४॥

१. सोत्र रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५

२. त्रिपथगा अंक १०, जुलाई, १९५६ पृ० ५२-५८

असली परिचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी आकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नहीं तुझे शाप दूँगा। भय के कारण राजा ने वह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक जल पीने से इन्कार किया जब तक राजा बचनबद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लायेगा। समय बीतने पर पद्मावती के आग्रह और योगी के भय से राजा जब सद्यः उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकड़ों में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकड़े खग, धनुषबाण, वस्त्र और कन्या के रूप में परिणत हो गए। राजा इससे बड़ा दुखी हुआ और राजपाट छोड़कर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कर्पूर धारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके झूबते हुए लड़के की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देखा और दोनों में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बड़ी दया आई। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नई रानी के साथ लौटा और दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक लखनौती आकर रहने लगा।

§ १८१. दामो की भाषा प्राचीन ब्रजभाषा है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नहीं है। राजस्थानी लिपिकार की स्वभाषाप्रियता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अश उद्धृत किया जाता है। आदि और अंत के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

घरि चाख्यउ लखनउतो राय, अति भणद हरख्यउ मन भाय
कहइ बधावउ भायउ राइ, तब तिण लायउ बहुत पसाइ ॥६२॥
लखन सेन लखनौती गयउ, राज मोंहि बधावउ भयउ
वभण भाट करइ कह बार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥६३॥
मिल्यौ महाजण राजा तणा, नयर देस भउ उछाह घणा
माय पूत भरु धाय कुमारी, लखन सेन भेट्यो तिणि चार ॥६४॥
भणइ प्रधान स्वामि भवधारि, काइ देव रहियो इणवार
योगी सरिसउं भइ दुख सहयउं, घालयउं कुंभा कष्ट भागेयउं ॥६५॥
गढ़ सामउर रहइ छह राय, तासु धीय दरणी रंग नाहि ।
पछइ कपूर धार हूँ गयउं, चन्द्रावती विहाइण लियउं ॥६६॥

काव्य प्रायः विवरणात्मक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

हूंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयों की इस रचना के लेखक कवि हूंगर उपनाम पद्मनाभ बहुत प्रसिद्ध जैन भावक और कवि थे। हूंगर बावनी की रचना इन्होंने १५३८ विक्रमी अर्थात्

असली परिचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी आकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नहीं तुझे शाप दूँगा। भय के कारण राजा ने वह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक जल पीने से इन्कार किया जब तक राजा बचनबद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लायेगा। समय बीतने पर पद्मावती के आग्रह और योगी के भय से राजा जब सद्यः उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकड़ों में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकड़े खग, घनुषवाण, वस्त्र और कन्या के रूप में परिणत हो गए। राजा इससे बड़ा दुखी हुआ और राजपाट छोड़कर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कर्पूर धारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके झूबते हुए लडके की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देखा और दोनों में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बड़ी दया आई। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नई रानी के साथ लौटा और दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक लखनौती आकर रहने लगा।

§ १८१. दामो की भाषा प्राचीन ब्रजभाषा है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नहीं है। राजस्थानी लिपिकार की स्पष्टभाषाम्रियता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है। आदि और अंत के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

घरि धारयउ लखणउतो राय, अति भणद हरखयउ मन भाय
कहइ बधावउ भायउ राइ, तब तिण लाधउ बहुत पसाइ ॥६२॥
लखन सेन लखनौती गयउ, राज मोंहि बधावउ भयउ
वभण भाट करइ कह बार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥६३॥
मिल्यौ महाजण राजा तणा, नयर देस भउ उछाह घणा
माय पूत भरु धाय कुमारि, लखन सेन भेट्यो तिणि बार ॥६४॥
भणइ प्रधान स्वामि अवधारि, काइ देव रहियो इणवार
योगी सरिसउं भइ दुःख सहयउं, घालयउं कुंभा कष्ट भागेयउं ॥६५॥
गढ़ सामंदर रहइ चढ़ राय, राखु धाय वरणी रंग आहि ।
पछइ कपूर धार हूँ गयउं, चन्द्रावती विहाइण लियउं ॥६६॥

काव्य प्रायः विवरणात्मक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

झंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयों की इस रचना के लेखक कवि झंगर उपनाम पद्मनाभ बहुत प्रसिद्ध जैन भावक और कवि थे। झंगर बावनी की रचना इन्होंने १५३८ विक्रमी अर्थात्

जिस कालि जिसउ दोन्हउ, तिसउ तिन काल पावंत जन
 संघ पति राय डूंगर कहइ अलिय दोष दिजइ कवन ॥२०॥
 इन्द अहल्या रम्यउ जानि तसु अइति उपधी
 कान्ह रम्यउ ग्वालिनी पेखि करि रूप रवनी
 दस कंधर दस सीस सोय कारनि सिर खण्डयउ
 कांचक भरु द्रुपदी कज देउल सिरि भइयेउ
 रक्खिय न अप्पइ इमि जानि सो नर अइमहि हुन्वयउ
 तिनि मयन नृपति डूंगर कहइ को को को न विड्यउ ॥२१॥
 औषधि मूल मत्री सर्प नहि मानइ दुर्जन
 सर्प डसो वेदना एहि दिहुइ हुई गजन
 लागइ दोष अनन्त क्रियइ संसर्ग एनि परि
 तवडो जल हरइ घड़ी पीटियइ सुफलरि
 वडरो वेमास कीजइ नहीं, नौद न आवइ सुख करि
 परिहरउ सदा डूंगर कहइ भलउ न चंइइ विखुन नर ॥२२॥

डूंगर के कुछ छप्य अत्यन्त उच्चोटी के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छप्यों की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।

§ १२४. मानिक कवि

१६३२-३४ ईस्वी की खोज रिपोर्ट में मानिक कवि की बैतालचौसी की सूचना प्रकाशित हुई।^१ इस त्रैमासिक विवरण का संहित अष्ट नागरीप्रचारिणी पत्रिका में सवत् १६६६ में छपा, जिसमें मानिक कवि का नाम दिया हुआ है।^२

मानिक कवि ने विक्रमी सवत् १५४६ अर्थात् १४८६ ईस्वी में बैताल-पचोसो की रचना की। रचना के विषय में कवि ने लिखा है :

संवत् पनरह सै तिहिकाल, ओह वरम आगरी दियाल ।
 निर्मल पाख आगहन मास, हिमरितु कुम्भ चन्द को वास ॥
 आठे घोस बार तिहि मानु, कवि भापे बैताल पुरानु ।
 गढ़ ग्वालियर वरन अतिभलो, मानुसिध तोवर जा बलौ ॥
 सधई खेमल बोरा लीयो, मानकि कवि कर जोरें दीयो ।
 मोहि सुनावहु कया अनूप, जो बैताल कियो बहु रूप ॥

ग्वालियर में मानसिंह तवर का राज्य था। उनके राज्यकाल में १५४६ विक्रमी संवत् के अगहन महीने के शुक्ल-पक्ष अष्टमी रविवार को यह कथा राजा की आज्ञा पर लिखी गई।

१. डूंगर कवि का यह परिचय पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। प्रति, श्री अगरचन्द्र नाहटा बीकानेर के पास सुरक्षित।

२. त्रैमासिक खोज विवरण १६३१-३४ पृ० २४०-४१

३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ भाग २, शंक ४

जिस कालि जिसउ दोन्हउ, तिसउ तिन काल पारंत जन
 संघ पति राय डूंगर कहइ अलिय दोष दिजइ कवन ॥२०॥
 इन्द अहल्या रम्यउ जानि तसु अइति उपर्षा
 कान्ह रम्यउ ग्वालिनी पेखि करि रूप रवनी
 दस कंधर दस सीस सीय कारनि सिर खण्डयउ
 काँचक भरु द्रुपदी कज देउल सिरि भइयेउ
 रक्खिय न अप्पइ इमि जानि सो नर अक्खहि हुन्वयउ
 तिनि मयन नृपति डूंगर कहइ को को को न विड्यउ ॥६॥
 औपधि मूल मर्त्री सर्प नहि मानइ दुर्जन
 सर्प डसो वेदना एहि दिठ्ठइ हुई गजन
 लागइ दोष अनन्त क्रियइ संसर्ग एनि परि
 तवडो जल हरइ घडी पीटियइ सुफलरि
 बडरो वैमास काँजइ नहीं, नौद न आवइ सुख करि
 परिहरउ सदा डूंगर कहइ भलउ न वंछइ पिसुन नर ॥१०॥

डूंगर के कुछ छुप्य अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छुप्यों की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।

§ १८. मानिक कवि

१६३२-३४ ईस्वी की खोज रिपोर्ट में मानिक कवि की बैतालरचीसी की सूचना प्रकाशित हुई।^१ इस त्रैमासिक विवरण का संहित अंश नागरीप्रचारिणी पत्रिका में सवत् १६६६ में छपा, जिसमें मानिक कवि का नाम दिया हुआ है।^३

मानिक कवि ने विक्रमी सवत् १५४६ अर्थात् १४८६ ईस्वी में बैताल-पचोसो की रचना की। रचना के विषय में कवि ने लिखा है :

संवत् पनरह सै तिहिकाल, ओरु वरम आगरी दियाल ।
 निर्मल पाख आगहन मास, हिमरितु कुम्भ चन्द को वास ॥
 भाटे घोस बार तिहि भानु, कवि भापे बैताल पुरानु ।
 गढ़ ग्वालियर वरन भतिभलो, मानुसिध तोवर जा बलौ ॥
 सघई खेमल बीरा लीयो, मानिक कवि कर जोरें दीयो ।
 मोहि सुनावहु कथा अनूप, जो बैताल कियो बहु रूप ॥

ग्वालियर में मानसिंह तवर का राज्य था। उनके राज्यकाल में १५४६ विक्रमी संवत् के अगहन महीने के शुक्ल-पक्ष अष्टमी रविवार को यह कथा राजा की आज्ञा पर लिखी गई।

१. डूंगर कवि का यह परिचय पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। प्रति, श्री अगारचन्द नाहटा बीकानेर के पास सुरक्षित।

२. त्रैमासिक खोज विवरण १६३१-३४ पृ० २४०-४१

३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ भाग २, संक ४

जैन लेखक थे । कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका । विक्रमी संवत् १५५० में उन्होंने पंचेन्द्रियवेलि या गुणवेलि नामक रचना लिखी जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है । पंचेन्द्रियवेलि की अंतिम पत्तियों में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

कवि घेलह सुजण गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसी नावो ।
ते वेलि सरस गुन गायो, चित चतुर मुरख समुझायो ॥३५
संवत् पन्द्रह सौ पचासो, तेरस सुदि कातिग मासो ।
इ पाँचो इन्द्रिय वस राये, सो हरत घरत फल चारै ॥३६

‘इति श्री पञ्चेन्द्रिय वेलि समाप्त । संवत् १६८८ भासोज वदि दूब, सुकुर वार लिखितम्
जोठावारणी आगरा मन्ये ।’

घेलह सम्भवतः ठकुरसी के पिता का नाम था । पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी के अंत में ‘घेलह नदणु ठकुर सी नाँव’ यह पंक्ति आती है । किन्तु गुणवेलि से इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता । ठकुरसी ने पञ्चेन्द्रिय वेलि में इन्द्रियाँ के अनियमित व्यापार और तज्जन्य पतन का वर्णन करके इन्हें समित रखने की चेतावनी दी है । लेखक की भाषा प्रायः ब्रज है । किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है । नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है ।

कैलि करग्नो जन्म जलि गारयो लोभ दिपालि ।
मीन मुनिय ससार सर सों काढ्यो धोवर कालि ॥
सो काढ्यो धोवर कालि, दिगारयो लोभ दिपालि ।
मछि नार गह्वार पईठै, दिठि जाइ नहीं तई दोठै ॥
इहि रसना रस के घालै, धल भाइ सुवै दुष सालै ।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो ॥
इहि रसना रस के तई, नर सुमै वाप गुरु भाई ।
घर फोड़े मारे धाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥
मुनि मूठ साच बहु बोले, घरि छड़ि देसाउर दोलै ।
इहि रसना विषय अकारो, वसि होई भोगनि गारो ॥
जिन जहर विषै बस मीते, तिन्ह मानुष जनम विगूते ।
कवलिय पइटो भँवर दल, घाण गन्ध रस रुद्रि ॥
रैनि पड़ो सो सकुयो नासरि सक्त्यो न मूढ़ि ।

ठकुरसी ने नेमि राज मति के प्रेम प्रसंग पर भी एक वेलि की रचना की है । इनकी तीसरी कृति पार्श्वनाथशकुन सत्तावीसी है ।

छिताई वार्ता

§ १८७ छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज की १६४१-४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई । उक्त प्रति इलाहाबाद म्यूनिस्पल म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १६८२ विक्रमी उल्लिखित है । खोज रिपोर्ट में छिताई चरित

जैन लेखक थे । कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका । विक्रमी संवत् १५५० में उन्होंने पंचेन्द्रियबेलि या गुणबेलि नामक रचना लिखी जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है । पंचेन्द्रियबेलि की अंतिम पक्तियों में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

कवि घेलह सुजण गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसो नावो ।
ते बेलि सरस गुण गायो, चित चतुर मुरख समुझायो ॥३५
संवत् पन्द्रह सौ पचासो, तेरस सुदि कातिग मासो ।
इ पाँचो इन्द्रिय बस राये, सो हरत घरत फल चारै ॥३६

‘इति श्री पञ्चेन्द्रिय बेलि समाप्त । संवत् १६८८ आसोज वदि दूब, सुकुर वार लिखितम्
नेतावारणी आगरा मध्ये ।’

घेलह सम्भवत ठकुरसी के पिता का नाम था । पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी के अंत में ‘घेलह नदणु ठकुर सी नाँव’ यह पक्ति आती है । किन्तु गुणबेलि से इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता । ठकुरसी ने पञ्चेन्द्रिय बेलि में इन्द्रियाँ के अनियमित व्यापार और तज्जन्य पतन का वर्णन करके इन्हें संयमित रखने की चेतावनी दी है । लेखक की भाषा प्रायः ब्रज है । किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है । नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है ।

कैलि करन्तो जन्म जलि गाव्यो लोभ दिपालि ।
मीन मुनिप ससार सर सों काढ्यो धीवर कालि ॥
सो काढ्यो धीवर कालि, दिगाव्यो लोभ दिपालि ।
मछि नार गह्वार पईठै, दिठि जाइ नहों तहँ दोठै ॥
इहि रसना रस के घालै, थल भाइ सुवै दुय सालै ।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो ॥
इहि रसना रस के ताई, नर सुमै वाप गुरु भाई ।
घर फोड़े मारे बाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥
मुनि मूठ साच बहु बोले, घरि छड़ि देसाउर डोलै ।
इहि रसना विषय अकारौ, बसि होई भोगनि गारौ ॥
जिन जहर विषै बस मीते, तिन्ह मानुष जनम विगूले ।
कवलिय पहट्टो भँवर दल, घ्राण गन्ध रस रुदि ॥
रैन पद्मो सो सकुयो नासरि सक्त्यो न मूढ़ि ।

ठकुरसी ने नेमि राज मति के प्रेम प्रसंग पर भी एक बेलि की रचना की है । इनकी तीसरी कृति पार्श्वनाथशकुन सत्तावीसी है ।

छिताई वार्ता

§ १८७ छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज की १९४१-४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई । उक्त प्रति इलाहाबाद म्यूनिस्पल म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १६८२ विक्रमी उल्लिखित है । खोज रिपोर्ट में छिताई चरित

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।^१ इसलिए दोनों कवियों की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरंग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गई होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरंग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायणदास की रचना की रतनरंग ने पाठानुदानयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। संवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से स्रोतों के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई वार्ता मूल रूपमें काफी पुरानी रचना रही होगी। डा० गुप्त ने इस विवेचन के आधार पर छिताई वार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पड़ती हैं और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षों का समय मानें जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है—तो रतनरंग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० संवत् ठहरता है, वैसे मेरा अपना अनुमान है कि मावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाग्र स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरंग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय संवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'^२

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पड़ेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वीं शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई वार्ता ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गौरवास्पद रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानी और मर्मस्पर्शी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खा को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानों सेना के आक्रमण और अत्याचार से सन्नत प्रजा ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा सन्धि के लिए दिल्ली गया। वहाँ उसने सुल्तान के भाई उल्खा को एक लाख टंक प्रदान करके अपना मित्र बना लिया। राजा को दिल्ली में तीन वर्ष बित गये—इधर उसकी युवती कन्या छिताई विवाह के योग्य हो गई। रानी ने राजा के पास सन्देश भेजा, बादशाह ने रामदेव को देवगिरि लौटनेकी आज्ञा दी, साथ ही उपहार में एक अच्छा चित्रकार भी साथ भेज दिया। चित्रकार ने पुराने महल को चित्रकला के लिए अनुपयुक्त बताया, नये महल का निर्माण हुआ। राज कन्या छिताई अंकित चित्रों को देखने आई। चित्रकार ने इसे देखा तो चित्रवत् रह गया, उसने छिताई की छवि अंकित कर ली। इस बीच छिताई का विवाह समुद्रगढ़ के राजा

१. रतनरंग की निम्न चौपाई से मालूम होता है कि उसने नारायणदास की रचना को संवार सुधार कर उपस्थित किया है—

रतन रंग कवियन बुधि लई समौ विचारी कथा वर्नई।

गुनियन गुनी नरायन दास, तामहि रतन कियो परगास ॥५०४॥

२. त्रैमासिक आलोचना, अंक १६, पृ० ७१

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।^१ इसलिए दोनों कवियों की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरंग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गई होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरंग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायणदास की रचना की रतनरंग ने पाठानुदानयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। संवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से स्रोतों के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई वार्ता मूल रूपमें काफी पुरानी रचना रही होगी। डा० गुप्त ने इस विवेचन के आधार पर छिताई वार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पड़ती हैं और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षों का समय मानें जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है—तो रतनरंग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० संवत् ठहरता है, वैसे मेरा अपना अनुमान है कि भावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाग्र स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरंग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय संवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'^२

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पड़ेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वीं शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई वार्ता ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्वपूर्ण गौरवास्पद रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानो और मर्मस्पर्शी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खा को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानों सेना के आक्रमण और अत्याचार से सन्नत राजा ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा सन्धि के लिए दिल्गी गया। वहाँ उसने सुल्तान के भाई उलू खा को एक लाख टंक प्रदान करके अपना मित्र बना लिया। राजा को दिल्ली में तीन वर्ष बित गए—इधर उसकी युवती कन्या छिताई विवाह के योग्य हो गई। रानी ने राजा के पास सन्देश भेजा, बादशाह ने रामदेव को देवगिरि लौटनेकी आज्ञा दी, साथ ही उपहार में एक अन्धा चित्रकार भी साथ भेज दिया। चित्रकार ने पुराने महल को चित्रकला के लिए अनुपयुक्त बताया, नये महल का निर्माण हुआ। राज कन्या छिताई अंकित चित्रों को देखने आई। चित्रकार ने इसे देखा तो चित्रवत् रह गया, उसने छिताई की छवि अंकित कर ली। इस बीच छिताई का विवाह समुद्रगढ़ के राजा

१. रतनरंग की निम्न चौपाई से मालूम होता है कि उसने नारायणदास की रचना को संवार सुधार कर उपस्थित किया है—

रतन रंग कवियन बुधि लई समौ विचरो कथा वर्नई।

गुनियन गुनो नरायन दास, तामहि रतन कियो परगास ॥५०४॥

२. ग्रैमासिक आलोचना, अंक १६, पृ० ७१

बदनि जोति यैं ससि कर हरीं, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी ।
 हरे हरिण लोचन तैं नारि, ते भृगु सेवैं भजौं कज्जारि ॥१४५॥
 जे भज कुम्भ तोहि कुच भणु, ते गज देस दिसन्तर गणु ।
 तैं केहरि मरु स्थुल हन्यौ, तो हरि मेह कदल नोसन्यौ ॥१४६॥
 दसन ज्योति ते दारिजै भणु, उदर फूटि तैं दारिजै गणु ।
 कमल वास लह भग छिडाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥१४७॥
 जइ तैं हरी हस की चार, मलिन मान सर गणु मराल ।
 होइ सन्त माननी मान, तजै देस कै छुडे जान ॥१४८॥

क्रिया, सर्वनाम, परस्मै समी रूपों से छित्ताई वार्ता^१ की भाषा १५वीं शताब्दी की ब्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है ।

येधनाथ

§ १९०. मानसिंह के शासन-काल में ग्वाणियर ब्रजभाषा कवियों का केन्द्र हो गया था । येधनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं मालूम होते किन्तु उनके किसी राजपुरुष भानुकुँवर से इनका सम्बन्ध था । येधनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना एोज रिपोर्ट (१९४४-४६) में प्रकाशित हुई^२ इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक समग्र में सुरक्षित है । इस प्रति का लिपिकाल सवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योंकि यह प्रति सवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादश स्कन्ध की प्रति के साथ ही लिखी हुई थी जो बाद में जिल्द टूटने से अलग-अलग हो गई । स्व० याज्ञिक जी ने लिखा है 'येधनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है । दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं । देखो प्रति नम्बर २७८।५० । जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग-अलग हो गई हैं ।'^३

श्री येधनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे में कुछ सन्त किया है । विक्रमी १५५७ अर्थात् इस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन भानु, गढ़ गोपाचल उत्तम थानु ।
 मानसीह तिदि दुम्मा नरिन्दु, जसु अमरावति सोहै इन्दु ॥४॥
 नीत पुँज सौ गुन आगरी, वसुधा राखन को भवतारो ।
 जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै बद्धा जाके हिय शुद्धि ॥५॥
 जीभ अनेक सेस ज्यूँ धरै, सो धुत मान स्यध की करै ।
 जाकै राजधर्म की जीति, चलै लोक कुल मारग रीति ॥६॥

१. पुस्तक प्रकाशित होते होते सूचना मिली है कि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छित्ताई वार्ता नागराप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गई है

२. १९४४-४६ की रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित है

३. याज्ञिक समग्र, नागराप्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त की दिप्पणी

बदन जोति वै ससि कर हरी, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी ।
हरे हरिण लोचन तें नारि, ते मृग सेवैं भजौ ऊजारि ॥५४५॥
जे गज उम्भ तोहि कुच भए, ते गज देस दिसन्तर गए ।
तैं केहरि मम स्थुल हन्यौ, तो हरि मेह कदल भोस्यौ ॥५४६॥
दसन ज्योति ते दारिजें भए, उदर कूटि तैं दारिजें गए ।
कमल वास लह भग छिड़ाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥५४७॥
जइ तैं हरी हस की चाल, मलिन मान सर गए मराल ।
होइ सन्त माननो मान, तजै देस कै छड़े जान ॥५४८॥

क्रिया, सर्वनाम, परसर्ग सभी रूपों से छित्ताई वार्ता^१ की भाषा १५वीं शताब्दी की ब्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है ।

येवनाथ

ई १९००. मानसिंह के शासन-काल में ग्वालियर ब्रजभाषा कवियों का केन्द्र हो गया था । येवनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं पादूम होते किन्तु उनके किसी राजपुरुष भानुकुँवर से इनका सम्बन्ध था । येवनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना खोज रिपोर्ट (१९४४-४६) में प्रकाशित हुई^२ इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक समग्र में सुरक्षित है । इस प्रति का लिपिकाल सवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योंकि यह प्रति सवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादस स्कन्ध की प्रति के साथ ही लिखी हुई थी जो बाद में जिल्द टूटने से अलग-अलग हो गई । स्व० याज्ञिक जी ने लिखा है 'येवनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है । दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं । देखो प्रति नम्बर २७८।५० । जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग-अलग हो गई हैं ।'^३

श्री येवनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे में कुछ संकेत किया है । विक्रमी १५५७ अर्थात् इस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन आनु, गढ़ गोपाचल उत्तम थानु ।
मानसीह तिदि दुगा नरेन्दु, जसु अमरावति सोहै इन्दु ॥४॥
जीत पुँज सौ गुन आगरी, वसुधा राखन को भवतारो ।
जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै ब्रह्मा जाके हिय शुद्धि ॥५॥
जीभ अनेक सेस ज्यूँ धरै, सो धुत मान स्वय को करै ।
जाकै राजधर्म की जीति, धलै लोक कुल मारग रीति ॥६॥

१. पुस्तक प्रकाशित होते होते सूचना मिली है कि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छित्ताई वार्ता नागराप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गई है

२. १९४४-४६ का रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित है

३. याज्ञिक समग्र, नागराप्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त की लिप्पणी

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६७. जनवरी सन् १९३६ की हिन्दुस्तानी में श्री अग्रचन्द नाट्या ने मधुमालती नामक दो अन्य रचनायें शीर्षक लेख प्रकाशित कराया । मंभन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया । सितम्बर १९५४ की कल्पना में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया । डा० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल सवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया । डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पद्यों से इस पुस्तक की रचना प्रक्रिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ सन्देश मिलते हैं । अन्तिम अंश इस प्रकार है ।

मधुमालती बात यह गाई, दोय जणा मिलि स्नेह बनाई ।

एक साथ ब्राह्मन सोई, दूजौ कायथ कुल में होई

एक नाव माधव बड़ होई, मनोहरपुरी जानत सब कोई

कायथ नाम चतुर्भुज जाकौ, मारु देस मयौ गृह ताकौ

पहली कायथ कही जब जानी, पाछे माधव उचरी बानी

कहु क यामैं चरित मुरारी, श्री वृन्दावन कौ सुखकारी

माधव ता तैं गाइयौ यों रस पूरन सोय

कौन काम रस क्यों हु तौ जानत हैं सब कोय

काइयि गाई जानि कै रसक निरसि की बात

नाम चतुर्भुज ही भयौ मारु मोंहि विख्यात ।

डा० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी सत्तार को माधव का उपकृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली काइथ कही जब जानी पाछे माधव उचरी बानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह संकेत भी कर दिया कि मधुमालती के उत्तरार्ध का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारुदेश में विख्यात हो चुका था ।' डा० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमालती के उत्तरार्ध का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

सवत् सोरै सै वरसि जैसलमेर मफारि ।

फागुन मास सुहावने करी बात विस्तार ॥

'इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि माधव संवत् १६०० में न केवल वर्तमान थे, वे प्रेम कथाओं की रचना भी कर रहे थे, अतः यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके हस्तक्षेप का समय संवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा । उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचना काल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है । डा० गुप्त इस ग्रंथ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं ।

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६०. जनवरी सन् १९३६ की हिन्दुस्तानी में श्री अगारचन्द नाइया ने मधुमालती नामक दो अन्य रचनायें शीर्षक लेख प्रकाशित कराया । मंभन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया । सितम्बर १९५४ की कल्पना में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया । डा० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल संवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया । डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पद्यों से इस पुस्तक की रचना प्रक्रिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ सन्देश मिलते हैं । अन्तिम अंश इस प्रकार है ।

मधुमालती बात यह गाई, दोय जणा मिलि स्नेह बनाई ।

एक साथ ब्राह्मन सोई, दूजो कायथ कुल में होई

एक नाव माधव बड़ होई, मनोहरपुरी जानत सब कोई

कायथ नाम चतुर्भुज जाकी, मारु देस भयो गृह ताकी

पहली कायथ कही जब जानी, पाछे माधव उचरी बानी

कहु क थामै चरित भुरारी, श्री वृन्दावन को सुखकारी

माधव ता तैं गाइयो यों रस पूरन सोय

कौन काम रस स्यों हु तौ जानत हैं सब कोय

काइथि गाई जानि कै रसक निरसि की बात

नाम चतुर्भुज ही भयो मारु मोंहि विख्यात ।

डा० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी सतार को माधव का उपकृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली काइथ कही जब बानी पाछे माधव उचरी बानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह संकेत भी कर दिया कि मधुमालती के उत्तरार्ध का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारुदेश में विख्यात हो चुका था ।' डा० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमालती के उत्तरार्ध का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

संवत् सोरै सै वरसि जैसलमेर मम्हारि ।

फागुन मास सुहावने करी बात विस्तार ॥

इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि माधव संवत् १६०० में न केवल वर्तमान थे, वे प्रेम कथाओं की रचना भी कर रहे थे, अतः यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके हस्तक्षेप का समय संवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा । उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचना काल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है । डा० गुप्त इस ग्रन्थ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं ।

भादो वदि तिथि पचमी, वार सोम नपल रेवती ।

चन्द्र नन्य वलु पाइयो, लगन भली सुभ उपजी मती ॥

रचना सामान्य ही है । भाषा ब्रज है ।

धर्मदास

§ १६४. जैन कवि थे । इन्होंने सन् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) में घमौरदेश श्रावकाचार नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ लिखा । इस ग्रन्थ में जैन श्रावक लोगों के लिए पालनीय आचारों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । कवि ने अपने बारे में विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे बाराहसेनी जाति के थे । अपने पूर्ण पुत्रों का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल सप्त विख्यात श्रावक बाराहसेनी जाति में हेरिल साहु नामक पुत्र हुए । उनके ज्येष्ठ पुत्र कर्मसी जिन के परम उग्ररक्त और परमप्रेमी दयालु व्यक्ति थे । उनके पुत्र पद्म हुए जो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रों में एक धर्मदास हुए जिन्होंने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया । प्रशस्ति संग्रह में इनकी रचना के कुछ अंश उद्धृत किये हुए हैं ।^१ ग्रन्थ की रचना के दिवस में कवि ने लिखा है—

पन्द्रह सो भठहतरि वरिसु, समवद्धर कुचनह कन सरसु
निर्मल बैसाखी भवतांज, बुधवार गुनियहु जानांज
तादिन पुरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनौ जो पंथ
मगल करु भरु विधनि हरनु, परम सुख कवियनु कहु करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुनने वालों के प्रति अपनी भग्न कामना व्यक्त की है । यह प्रसंग धर्मदास की सहजता और जनमग्न की सहिष्णुता का परिचायक है । भाषा अत्यन्त बोधगम्य और प्रवादयुक्त है ।

घन कन दूर पूत परिवार, बाढै मंगल सुपहु अपार
मेदिनि उपजहु भद्र अनन्त, चारि मास भरि जल वरपन्त
मगल वात्रहु घर घर द्वार, कामिनि गावहि मगल चार
घर घर सांत उपजहु सुख, नासे रोग आपदा दुख
घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहि आप आचार
नदउ जिन सासन सत्तार, धर्म दयादिक चलौ अपार
नदउ जिन पडिमा जिन गेढ, नदउ गुन निर्ग्रन्थ अदेह

छोहल

§ १२५. १७वीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर बर्ही सूर और तुन्सी जैसे अमूर्तिम प्रतिभाशाली भक्त कवियों की गैरिक-वाणी से पवित्र होकर हमारा भद्रा-भाजन बना वहीं देव, विहारी और पद्माकर जैसे कवियों की शृङ्गारिक भावना पूर्ण रचनाओं के कारण सदृश्य व्यक्तियों के गले का हार भी । बहुत से लोग रीतिकानी शृङ्गार-भावना के साहित्य को

१. प्रशस्ति संग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित । पाण्डुलिपि आमेर भादार, जयपुर में सुरचित

भादो वदि तिथि पचमी, वार सोम नपत रेवती ।

चन्द्र नव्य वलु पाइयो, लगन भली सुम उपजी मती ॥

रचना सामान्य ही है । भाषा ब्रज है ।

धर्मदास

§ १६४. जैन कवि थे । इन्होंने सन् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) में घमौरदेश श्रावकाचार नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ लिखा । इस ग्रन्थ में जैन श्रावक लोगों के लिए पालनीय आचारों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । कवि ने अपने बारे में विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे ब्राह्मणेनी जाति के थे । अपने पूर्ण पुरुषों का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल सप्त विख्यात श्रावक ब्राह्मणेनी जाति में हेरिल साहु नामक पुरुष हुए । उनके ज्येष्ठ पुत्र कर्मसी जिन के परम उपासक और परमविवेकी दयालु व्यक्ति थे । उनके पुत्र पद्म हुए जो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रों में एक धर्मदास हुए जिन्होंने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया । प्रशस्ति संग्रह में इनकी रचना के कुछ अंश उद्धृत किये हुए हैं ।^१ ग्रन्थ की रचना के विषय में कवि ने लिखा है—

पन्द्रह सो भट्टहतरि वरिसु, सम्बद्धर कुचरुह कन सरसु
निर्मल वैसाखी भस्वतीज, बुधवार गुनियहु जानीज
तादिन पुरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनौ जो पंथ
मगल करु करु विघनि हरनु, परम सुख कवियनु कहु करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुनने वालों के प्रति अपनी मगल कामना व्यक्त की है । यह प्रसंग धर्मदास की सद्ब्रजा और ब्रतमगल की सदिच्छा का परिचायक है । भाषा अत्यन्त बोधगम्य और प्रवाहयुक्त है ।

धन कन दूय पूत परिवार, बाढै मंगल सुपक्षु अपार
मेदिनि उपजहु अन्न अतन्त, चारि मास भारि जल वरपन्त
मगल वाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहि मगल चार
घर घर सीत उपजहु सुख, नासे रोग आपदा दुख
घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहि आप आचार
नदउ जिन सासन ससार, धर्म दयादिक चलौ अपार
नदउ जिन पदिमा जिन गेह, नदउ गुन निर्ग्रन्थ अदेह

छीहल

§ १२५. १७वीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर वहीं सूर और तुन्नी जैसे अग्रतिम प्रतिभाशाली भक्त कवियों की गैरिक-वाणी से पवित्र होकर हमारा भक्ता-भाजन बना वहीं देव, विहारों और पद्माकर जैसे कवियों की शृङ्गारिक भावना पूर्ण रचनाओं के कारण सद्दय व्यक्तियों के गले का शर भी । बहुत से लोग रीतिकानी शृङ्गार-भावना के साहित्य को

१. प्रशस्ति संग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित । पाण्डुलिपि आमेर मादार, जयपुर में सुरचित

वस्तु को देखने से लेखक के जैन होने का अनुमान किया जा सकता है। बावनी के शुरू के कुछ छप्पया के प्रथम अक्षर से 'ॐ नमो सिद्ध' बनता है, इससे भी लेखक के जैन होने का पता चलता है।

§ १६७. पंच सहेली के अन्तिम दोहों से मालूम होता है कि कवि ने इस रचना को १५७५ संवत् में लिखा—

संवत् पनरह पचुहत्तरह पूनिम फागुन मास ।

पञ्च सहेली वरनवी, कवि छीहल परगास ॥६८॥

छीहल कवि का कुछ विस्तृत परिचय छीहल बावनी के अन्तिम छप्पय में दिया हुआ है—

चउरासी भागल्ल सह जु पन्द्रह सम्यक्कर ।

सुकुल पखल अष्टमी मास कातिग गुरुवासर ॥

हिरदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लोन्हो ।

सारद तनइ पसाइ कवित सम्पूर्ण कीन्हो ॥

नालि गाव सिनाय सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि ।

बावनी वसुधा विस्तरी कवि ककण छीहल्ल कवि ॥

बावनी की रचना १५८४ संवत् में हुई इस प्रकार 'सहेली' इससे ६ वर्ष पहले लिखी गई। कवि छीहल के अनुसार उनका जन्म स्थान नालि गाँव था। पिता शिवनाथ थे जो अग्रवाल वंशीय थे।

कवि छीहल की पंच सहेली आरम्भिक रचना मालूम होती है। कवि ने इस छोटे किन्तु अत्यन्त उच्चकोटि के सरस काव्य में पाँच विरहिणी नायिकाओं की मर्मव्यथा को अत्यंत सहज ढंग से व्यक्त किया है। मालिन, तबोलिनी, छीपनि, कलाली और सोनारिन अपनी अपनी विरह व्यथा कवि को सुनाती हैं। ये भोली नायिकाएँ अपने दुःख को अपने जीवन की सुपरिचित वस्तुओं तथा उनके प्रति अपने रागात्मक-बोध के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे मालिन अपने दुःख को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

पहिली बोली मालिनी हम कू दुख अनन्त ।

बालो जीवन छुटि के चलो दिसाउरि कत ॥१७॥

निस दिन वहइ प्रनाल जु नयनह नोर अपार ।

विरहउ भालो दुख का सुभर भरया कियार ॥१८॥

कमल वदन कुभलाइया सूका सुप बनराइ ।

पिय विण मुक्त इवकु पिण वरस बराबर जाइ ॥१९॥

चपा केरी पखरी गूथ्या नवसर हार ।

जो एहि पहिरउँ पाव बिनु लागइ अगु अगर ॥२०॥

तबोलिनी कहती है कि हे चतुर, मेरा दुख तो मुझसे कहा ही नहीं जाता—

हाथ मरोरउ सिर धुनउ किस सो कहूँ पुकार ।

तन दाभइ मन कलमलइ नयन न खडइ धार ॥२५॥

पान कर्ये सब सुख के वेलि गई सब सूकि ।

दूभरि रात वसत की गयो पियारा भूकि ॥२६॥

वस्तु को देखने से लेखक के जैन होने का अनुमान किया जा सकता है। बावनी के गुरु के कुछ छप्पया के प्रथम अक्षर से 'ॐ नमो सिद्ध' बनता है, इससे भी लेखक के जैन होने का पता चलता है।

इ १६७, पच सहेली के अन्तिम दोहों से मालूम होता है कि कवि ने इस रचना को १५७५ सवत् में लिखा—

संवत् पनरह पचुहत्तरह पूनिम फागुन मास ।

पच सहेली वरनवी, कवि छीहल परगास ॥६८॥

छीहल कवि का कुछ विस्तृत परिचय छीहल बावनी के अन्तिम छप्पय में दिया हुआ है—

चउरासी आगल्ल सह जु पन्द्रह सम्बच्चर ।

सुकुल पक्ख अष्टमी मास कातिग गुरुवासर ॥

हिरदय उपमा बुद्धि नाम श्री गुरु को लोन्हो ।

सारद तनइ पसाइ छवित सम्पूर्ण कीन्हो ॥

नालि गाव सिनाथ सुतनु भगरवाल कुल भगट रवि ।

बावनी वसुधा विस्तरी कवि ककण छीहल्ल कवि ॥

बावनी की रचना १५८४ सवत् में हुई इस प्रकार 'सहेली' इससे ६ वर्ष पहले लिखी गई। कवि छीहल के अनुसार उनका जन्म स्थान नालि गाँव था। पिता शिवनाथ थे जो अग्र-वाल वंशीय थे।

कवि छीहल की पच सहेली आरम्भिक रचना मालूम होती है। कवि ने इस छोटे किन्तु अत्यन्त उच्चकोटि के सरस काव्य में पाँच विरहिणी नायिकाओं की मर्म-व्यथा को अत्यन्त सहज ढंग से व्यक्त किया है। मालिनी, तँबोलिनी, छीपनि, कलाली और सोनारिनी अपनी अपनी विरह व्यथा कवि को सुनाती हैं। ये भोली नायिकाएँ अपने दुःख को अपने जीवन की सुपरिचित वस्तुओं तथा उनके प्रति अपने रागात्मक-बोध के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे मालिनी अपने दुःख को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

पहिली बोली मालिनी हम कू दुक्ख अनन्त ।

बालो जीवन छुडि के चलो दिसाउरि कत ॥१७॥

नित दिन बहइ प्रनाल ज्युं नयनह नीर अपार ।

विरहउ मालो दुक्ख का सुभर भरवा कियार ॥१८॥

कमल बदन कुभलाइया सूको सुप बनराइ ।

पिय विण सुक दुक्खु पिण वरस बराबर जाइ ॥१९॥

चपा केरी पसरी गूथ्या नवसर हार ।

जो एहि पहिरउँ पाव बिनु लागइ अगु अगार ॥२०॥

तँबोलिनी कहती है कि हे नतुर, मेरा दुःख तो मुझसे कहा ही नहीं जाता—

हाथ मरोरउ सिर धुनउ किस सो कहूँ पुकार ।

तन दाफइ मन कलमलइ नयन न खडइ धार ॥२५॥

पान कर्ये सब सुख कै वेलि गई सब सूकि ।

दूमरि रात वसत की गयो पियारा मूकि ॥२६॥

- (१) पन सहेली री बात (नम्बर ७८, छंद सख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-काल १७१८ स०) ।
- (२) पचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७ ७६) ।
- (३) पचसहेली री बात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ संस्कृत श्लोक भी दिए हुए हैं ।
- (४) पचतहेली री बात (नम्बर ७७) पत्र ६८ १०२ । लिपिकाल १७४६ स० ।

इन प्रतियों में ७८ नम्बर वाली और ७७ नम्बर वाली प्रतियों की भाषा ब्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है । आमेर भांडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है । इसे श्रित्तियों की विशेषता मान सकते हैं । वैसे कई प्रतियां में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि पञ्च सहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है । राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न > ण में तथा भूतनाम्निक क्रिया के आकारान्त रूपों में दिखाई पड़ता है । चुराइया (४८) काठ्या (५६) बीटिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि में । किसी किसी प्रति में ये ही क्रियाएँ ओकारान्त भी दिखाई पड़ती हैं । प्रथमा बहुवचन में 'या' अन्त वाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं । सहेलियों (६), प्रवालियों (१२) यौवनवालियों (१३) आदि । बाकी प्रयोग पूर्णतः ब्रजभाषा के ही हैं ।

बावनी

§ १२८. कवि छोहल की बावनी भाषा और भाव दोनों के परिभाक का उत्तम उदाहरण है । नीति और उपदेश को मुख्यतः विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नहीं हुआ है इसीलिए प्रायः उसकी कविता में नीति की एक नए दग से तथा नए भावों के साथ अभिन्यति हुई है । रचना के अंश परिशिष्ट में सलग हैं । इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लीन्ह कुदाली हाय प्रथम खोदियउ रोस करि ।
करि रासभ आरूढ धरि आनियो गूण भरि ॥
देकरि लत्त प्रहार मूढ गहि चह चदायो ।
पुनरपि हाथहि कूट धूप धरि अधिक सुसायो ॥
दोनों अग्निनि बांहल कहै कुभ कहै हउ सखों सब ।
पर तरंगि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोहि अब ॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं । हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयों में अपभ्रंश के प्रयोगों को जान बूझकर लाने की शैली ही बन गई थी जो बहुत बाद तक चली रही । भाषा ब्रज है, आगे बावनी की भाषा पर संयुक्त रूप से विचार किया गया है ।

- (१) पंच सहेली की बात (नम्बर ७८, छंद सख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-काल १७१८ स०) ।
- (२) पंचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७ ७६) ।
- (३) पंचसहेली की बात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ संस्कृत श्लोक भी दिए हुए हैं ।
- (४) पंचसहेली की बात (नम्बर ७७) पत्र ६८ १०२ । लिपिकाल १७४६ स० ।

इन प्रतियों में ७८ नम्बर वाली और ७७ नम्बर वाली प्रतियों की भाषा ब्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है । आमेर भांडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है । इसे भिन्नता की विशेषता मान सकते हैं । वैसे कई प्रतियां में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि पंच सहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है । राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न > ण में तथा भूतनामिक क्रिया के आकारान्त रूपों में दिखाई पड़ता है । चुगइया (४८) काट्या (५६) बीटिया (३३) कुमलइया (१६) आदि में । किसी किसी प्रति में ये ही क्रियाएँ ओकारान्त भी दिखाई पड़ती हैं । प्रथमा बहुवचन में 'या' अन्त वाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं । सहेलियों (६), प्रवालियों (१२) यौवनवालियों (१३) आदि । बाकी प्रयोग पूर्णतः ब्रजभाषा के ही हैं ।

बावनी

§ १९८. कवि छोदर की बावनी भाषा और भाव दोनों के परिभाक का उत्तम उदाहरण है । नीति और उपदेश को मुख्यतः विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नहीं हुआ है इसलिए प्रायः उसकी कविता में नीति की एक नए दृग से तथा नए भावों के साथ अभिव्यक्ति हुई है । रचना के अंश परिशिष्ट में सलग्न हैं । इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि ।
करि रासभ आरुढ घरि आनियो गूण भरि ॥
देकरि लत्त प्रहार मूढ गहि चह चदायो ।
पुनरपि हाथहि कूट धूप घरि अधिक सुखायो ॥
दोनी अग्नि जिहल कहै कुभ कहै हउँ सखों सब ।
पर तरंगि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोंहि अब ॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं । हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयों में अपभ्रंश के प्रयोगों को जान बूझकर लाने की शैली ही बन गई थी जो बहुत बाद तक चली रही । भाषा ब्रज है, आगे बावनी की भाषा पर संयुक्त रूप से विचार किया गया है ।

गुरुग्रन्थ में व्रजकवियों की रचनाएँ

§ २००. गुरुग्रन्थमें १६०० स० के पूर्व के कई सन्त-कवियों की रचनाएँ संकलित हैं । सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अतन्त्र-वस्त्र की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है । इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ पोथियों में लिखी रचनाओं की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायुयी रही हैं, वहाँ नित प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नहीं आया है । सौभाग्यवश सवत् १६६१ में सिकखों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियों को लिपिबद्ध कराकर इन्हें धर्म-ग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गईं । इन सन्तों की रचनाओं की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है ।

गुरुग्रन्थ साहब में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, दिलोचन, सधना, बेनी, रामानन्द, घना, पीपा, सेन, कवीर, रैदास, परीद, नानक और भीरा का नाम सम्मिलित है । इन कवियों की रचनाओं पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है । साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्यांकन हुआ है । इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकर्ण और न्यून । इन कवियों की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्त्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है । नीचे इन कवियों के अत्यन्त सक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओं, विशेषतः भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है ।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

§ २००. गुरुग्रन्थमें १६०० स० के पूर्व के कई सन्त-कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। सन्त-वाणी चार्मिक भारत देश के लिए अतन्त्र की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ पोथियों में लिखी रचनाओं की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायु रही हैं, वहाँ नित प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नहीं आया है। सौभाग्यवश सवत् १६६१ में सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियों को लिपिबद्ध कराकर इन्हें धर्मग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रोति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गईं। इन सन्तों की रचनाओं की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ सङ्ग्रह में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, विलोचन, सधना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, परीस, नानक और मीरा का नाम सम्मिलित है। इन कवियों की रचनाओं पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्यांकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और न्यून। इन कवियों की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्त्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियों के अत्यन्त सक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओं, विशेषतः भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

प्रायः ब्रह्म की निराकार भावस्थिति, पाण्ड खडन, शास्त्र वेद की असमर्थता, साधु के फक्कड़ जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली में चलती हैं, किन्तु भावपूर्ण सहज भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखीं। इन रचनाओं की ब्रजभाषा प्रामुख्य चरित, हरीचंदपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—बढ़हु किन होड माधउ मोसिउ

ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर पेल परिउ है तोसिउ

आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा

जल ते तरग तरग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥

आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा

कहत नामदेउ तू मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥

२—मैं बउरी मेरा राम मताह रचि रचि ताकउ करउ सिंगार

भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोग ।

तन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥

बाद बिबाद काहु सिउ न कोजै, रमना राम रसाइनु पीजै ।

अब जीअ जानि ऐसी बनिआई, मिलउ गुपाल निसान बजाई ॥३॥

उस तति निन्दा करे नरु कोई, नामे श्री रगु भेटल सोई ॥४॥

§ २०२. इन पदों की भाषा पूर्णतः ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। माधउ > माधो, मो सिउ > मो सों, परिउ > पर्यो, तोसिउ > तो स्या, सुनन कउ > सुनन कौ, करउ > करी, निंदउ > निंदों में उद्धृत स्वरों की सुरक्षा, सिउ, कउ आदि परसर्गों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा में व > उ को परवता शौरसेनी अपभ्रंश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (देखिये सन्देशरासक § २३) नामदेव की भाषा में बउरी < बाउल < व्याकुल, नामदेउ < नामदेव, देउ < देव, माधउ < माधव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताकउ, मोसिउ, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुछ ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियों में मराठी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, स्वाम तौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओं में यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा वाली रचनाओं में यह प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है। यह ब्रजभाषा के विकास और उसके सुनिश्चित रूपकी स्थिरता का भी द्योतक है।

§ २०३. त्रिलोचन—महाराष्ट्र के सन्त कवि त्रिलोचन के जीवनवृत्त की कोई सविस्तर सूचना नहीं मिलती। जे० एन० फर्गुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ,^१ पडरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आध्या-

प्रायः ब्रह्म की निराकार भावस्थिति, पारंगंड खंडन, शास्त्र वेद की असमर्थता, साधु के पक्कड़ जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली में चलती हैं, किन्तु भावपूर्ण सहज भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखीं। इन रचनाओं की ब्रजभाषा प्रभुम्न चरित, हरीचंदपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—बदहु किन होइ माधउ मोसिउ

ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर पेल परिउ है तोसिउ

आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा

जल ते तरग तरग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥

आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तुरा

कहत नामदेउ तू मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥

२—मैं बउरी मेरा राम भतरु रचि रचि ताकउ करउ सिंगार

भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोग ।

तन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥

बाद बिवाद काहु सिउ न कोजै, रमना राम रसाइनु पीजै ।

अब जीअ जानि ऐसी बनिआई, मिलउ गुपाल निसान बजाई ॥३॥

उस तति निन्दा करे नरु कोई, नामे श्री रगु भेटल सोई ॥४॥

§ २०२. इन पदों की भाषा पूर्णतः ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। माधउ > माधो, मां सिउ > मां सों, परिउ > पर्यो, तोसिउ > तो स्या, सुनन कउ > सुनन कौ, करउ > करौ, निंदउ > निंदौ में उद्धृत स्वरों की सुरक्षा, सिउ, कउ आदि परसगों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा में व > उ की परवता शीरसेनी अपभ्रंश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (देखिये सन्देशरासक § ३३) नामदेव की भाषा में बउरी < बाउल < व्याकुल, नामदेउ < नामदेव, देउ < देव, माधउ < माधव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताकउ, मोसिउ, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुछ ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियों में मराठी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, तबाम तौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओं में यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा वाली रचनाओं में यह प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है। यह ब्रजभाषा के विकास और उसके सुनिश्चित रूपकी स्थिरता का भी चोत्क है।

§ २०३. त्रिलोचन—महाराष्ट्र के सन्त कवि त्रिलोचन के जीवनवृत्त की कोई सविस्तर सूचना नहीं मिलती। जे० एन० फर्गुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ,^१ पडरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आध्या-

प्राकृत पैंगलम् के एक पद की भाषा देखिये—

जिण वैभ धरिज्जे महियल रिज्जे पिट्टिहि दंतिहि ठाउ धरा ।

रिउवच्छ वियारे छलत्तणु धारे वंधिअ सत्तु सुरज्ज हरा ॥

कुल खत्तिय कप्पे दहमुह तप्पे कंसअ केसि विणास करा ।

करुणा पयले मेव्हह विभले सो देउ णरायण तुम्ह वरा ॥

(प्राकृत पैंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतार वाले श्लोक से इस पद का अक्षरशः साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पैंगल अवदष्ट में अनुवाद किया होगा किन्तु अग्न्यल तो प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४०० के बाद नहीं खींचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सहजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पड़ती है। जो भी हो प्राकृत पैंगलम् के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरु ग्रन्थ साहब के जयदेव भणित-से युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपैंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य—इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नहीं है कि संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने कुछ कवितार्ये प्रारम्भिक प्रजभाषा अथवा पैंगल अपभ्रंश में भी लिखी थीं।

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। जयदेव का सम्बन्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है जिनका शासनकाल ११७६-१२०५ ईस्वी माना जाता है। भागवत की (दशम स्कन्ध ३२।८) भावार्थ-दीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे।^१ जयदेवने गीतगोविन्द में जिन कवियों की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है :

वाचः पल्लवयुमापतिधरः सन्दर्भशुद्धि गिरां

जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरुहदतः ।

शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनः

स्पर्धी कोऽपि न विभ्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः उमापतिः ॥

(गीत० १।४)

इस श्लोक में आये कवियों का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है।^३ कुछ लोग जयदेव को उड़ीसानरेश कामार्णवदेव (११६६-१२१३ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७-३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३ वीं शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं।

१. राग मारु, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०४, तरन तारन संस्करण ।

२. श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमत्रिवरेणोमापतिधरेण सहः

(दशम स्कन्ध ३२।८ की टीका)

३. रजनीकान्त गुप्त, जयदेव चरित, हिन्दी, बॉकीपुर १८१० पृ० १२

प्राकृत पैंगलम् के एक पद की भाषा देखिये—

जिण वेंअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्टिहि दंतिहिं ठाउ धरा ।

रिउवन्ध वियारे छलतणु धारे वंधिअ सत्तु सुरज्ज हरा ॥

कुल खत्तिय कप्पे दहमुह तप्पे कंसअ केसि विणास करा ।

करुणा पयले मेव्हह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा ॥

(प्राकृत पैंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतार वाले श्लोक से इस पद का अक्षरशः साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पैंगल अवद्वट में अनुवाद किया होगा किन्तु अन्धत्व तो प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४०० के बाद नहीं खींचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सहजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पड़ती है। जो भी हो प्राकृत पैंगलम् के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरु ग्रन्थ साहब के जयदेव भणिता-से युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपैंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य—इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नहीं है कि संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने कुछ कवितार्ये प्रारम्भिक प्रजभाषा अथवा पैंगल अपभ्रंश में भी लिखी थीं।

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। जयदेव का सम्बन्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है जिनका शासनकाल ११७६-१२०५ ईस्वी माना जाता है। भागवत की (दशम स्कंध ३२।८) भावार्थ-टीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे।^१ जयदेवने गीतगोविन्द में जिन कवियों की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है :

वाचः पल्लवयुमापतिधरः सन्दर्भशुद्धि गिरां

जानीते जयदेव एव शरगः श्लाघ्यो दुरुहदतः ।

शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनः

स्पर्धो कोऽपि न विभ्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः उमापतिः ॥

(गीत० १।४)

इस श्लोक में आये कवियों का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है।^२ कुछ लोग जयदेव को उड़ीसानरेश कामार्णवदेव (११६६-१२१३ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७-३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३ वीं शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं।

१. राग मारु, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०४, तरन तारन संस्करण ।

२. श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमत्रिवरेणोमापतिधरेण सहः

(दशम स्कंध ३२।८ की टीका)

३. रजनोकान्त गुप्त, जयदेव चरित, हिन्दी, बौकीपुर १८१० पृ० १२

रूप, फिर भी यह भाषा १५ वीं शती के बाद की नहीं है। भाषा व्रज ही है, रेखता-शैली की यत्किंचित् छाप भी दिखाई पड़ती है।

§ २०६. सधना—संत सधना के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेहवान (सिंध) में हुआ था। मैकलिफ ने लिखा है कि नामदेव और शानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले में संत सधना से एलौरा की कदरा के निकट मुलाकात हुई थी।^१ इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे नामदेव के समकालीन थे अतः इनका आविर्भाव काल भी १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। सधना जाति के कसाई थे, मास बेचना पुरतैनी पेशा था, किन्तु इस निकृष्ट कर्म के पंक से उनकी आत्मा कभी कलंकित न हुई। गुरु ग्रन्थ में उनका एक ही पद मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।^२

नृप कनिया कै कारने इकु भइया वेपधारी ।
कामारयो सुआरयो वाकी पेंज सँवारी ॥१॥
तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै ।
सिंह सरन कत जाइये जउ जंजुक आसै ॥२॥
एक बूँद जल कारने चात्रिक दुप पावै ।
गान गये सागर मिलै कुनि काम न आवै ॥३॥
गान जो याके धिरु नहीं कैसे विरमावउं ।
बूँडि सुवै नउका मिलै कहु काहि चदावउं ॥४॥
मैं नाहीं कहइउं नहीं किहु आहि न मोरा ।
अउसर लजा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥५॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन व्रज के कई चिह्न दिखाई पड़ते हैं। जउ > जो, नउका > नौका, विरमावउ > विरमावौ, चदावउ > चदावौ आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७ रामानन्द—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का स्थान अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन वृत्त सम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। परवर्ती कवियों और उनके कुल्लेक शिष्यों की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो ऐतिहासिक कम प्रशंसामूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे थे। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाये तो रामानन्द का आविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है।^३ यद्यपि यह बहुत सही तरीका नहीं है क्योंकि साधुओं को शिष्य परम्परा में एक पीढ़ी के लिए ७५ वर्ष का समय बहुत आसानी से मादूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी पड़ती है, फिर भी १४वीं शती का अनुमान उचित ही है क्योंकि कुछ और प्रमाणों से इसकी

१. मैकलिफ : दि सिख रिलीजन भाग ६, पृ० ३२

२. राग विलावल पद १, पृ० ८५८

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२१

रूप, फिर भी यह भाषा १५ वीं शती के बाद की नहीं है। भाषा व्रज ही है, रेखता-शैली की यत्किंचित् छाप भी दिखाई पड़ती है।

§ २०६. सधना—संत सधना के शारे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणित वृत्तान्त नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेहवान (सिंघ) में हुआ था। मैकलिफ ने लिखा है कि नामदेव और शानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले में संत सधना से एलौरा की कदरा के निकट मुलाकात हुई थी।^१ इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे नामदेव के समकालीन थे अतः इनका आविर्भाव काल भी १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। सधना जाति के कसाई थे, भास बेचना पुरतैनी पेशा था, किन्तु इस निकृष्ट कर्म के पंक से उनकी आत्मा कभी कलंकित न हुई। गुरु ग्रन्थ में उनका एक ही पद मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।^२

नृप कनिया कै कारने इजु भइया वेपधारी ।
कामारयो सुभारयो वाकी पेंज सँवारी ॥१॥
तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै ।
सिंह सरन कत जाइये जउ जंजुक भासै ॥२॥
एक बूँद जल कारने चात्रिक दुष पावै ।
पान गये सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥३॥
पान जो धाके धिरु नहीं कैसे विरमावउं ।
बूँडि मुवै नउका मिलै कहु काहि चदावउं ॥४॥
मैं नाहीं कह हउं नहीं किहु आहि न मोरा ।
भउसर लवा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥५॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन व्रज के कई चिह्न दिखाई पड़ते हैं। जउ > जो, नउका > नौका, विरमावउ > विरमावौ, चदावउ > चदावौ आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७ रामानन्द—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का स्थान अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन वृत्त सम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। परवर्ती कवियों और उनके कुछेक शिष्यों की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो ऐतिहासिक कम प्रशंसानूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे थे। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाये तो रामानन्द का आविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है।^३ यद्यपि यह बहुत सही तरीका नहीं है क्योंकि साधुओं की शिष्य परम्परा में एक पीढ़ी के लिए ७५ वर्ष का समय बहुत ज्यादा मादूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी पड़ती है, फिर भी १४वीं शती का अनुमान उचित ही है क्योंकि कुछ और प्रमाणों से इसकी

१. मैकलिफ : दि सिल रिजोजन भाग ६, पृ० ३२

२. राग विलावल पद १, पृ० ८५८

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२१

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पञ्चमात्रा, भगति जोग, रामाष्टक आदि रचनायें संकलित की गई हैं। पुस्तक में स्प० डा० पीताम्बरदत्त बडवाल के लिखे हुए कुछ महत्वपूर्ण लेख भी संगृहीत हैं। 'युग प्रवर्तक रामानन्द,' 'अध्यात्म्य,' 'रामानन्द सम्प्रदाय,' 'संस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा का समन्वय,' शीर्षक इन चार निबन्धों में डा० बडवाल ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ निर्गुण-काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सांस्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्बन्धी घटनाओं का सकेत देनेवाले सूत्रों का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में संकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित एडो बोली के नजदीक है जबकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हरि बिनु जन्म वृथा खोयो रे ।

कहा भयो भति मान बढ़ाई धन मद अंधमति सोयो रे ॥

भति उत्तंग तरु देषि सुहायो सैवल कुसुम सुवा सेयो रे ।

सोई फल पुत्र कलत्र विषै सु भति सोस धुनि-धुनि रोयो रे ॥

सुमिरन भजन साधु की संगति अंतरमन मैल न धोयो रे ।

रामानन्द रतन जम त्रासै श्रीपत पद गहे न जोयो रे ॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अंश इस प्रकार है—

मूरप तन धरि कहा कमायौ, राम भजन बिनु जनम गमायौ ।

राम भगति गति जाँणो नाहीं, भँदूँ भूलौ धंधा माँही ॥

मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरण तो कबू न करियो ।

नारी सेती नेह लगायौ, कबहुँ हिरदै राम नहिँ आयौ ॥

सुप माया सँ परो पियारो, कबहुँ न सिवन्यो सिरजन हारौ ।

स्वार्थ माहि चहुँ दिसि ध्यायो, गोविंद को गुन कबहुँ न गायौ ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुरुग्रन्थसे उद्धृत किया जाता है—

राग वसन्त

कत जाइयै रे घर लागो रंग मेरा चितु न चलै मन भइउ पंगु ।

एक दिवस मन भई उमंग घसि चौभा चन्दन बहु सुगंध ।

पूजन चाली ब्रह्म ठाँइ, सो ब्रह्म बताइउ गुरु मन ही माँहि ॥१॥

जहाँ जाइये तँह जल पथान, तू परि रहिउ है सम समान ।

वेद पुरान सब देपे जोइ उहाँ तउ जाइयों जउ इहाँ न होइ ॥२॥

सतगुर मैं बलिहारी तोर जिनि सकल बिकल भ्रम काटे मोर ।

रामानन्द सुआमी रमत धरम, गुरु का सवद काटै कोटि करम ॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुरा है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया-पदों को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो > लाग्यौ (ब्रज) ओकारान्त है

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पञ्चमात्रा, भगति जोग, रामाष्टक आदि रचनायें सकलित की गई हैं। पुस्तक में २५० डा० पीताम्बरदत्त बडखाल के लिखे हुए कुछ महत्वपूर्ण लेख भी संगृहीत हैं। 'युग प्रवर्तक रामानन्द,' 'अध्यात्म्य,' 'रामानन्द सम्प्रदाय,' 'संस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा का समन्वय,' शीर्षक इन चार निबन्धों में डा० बडखाल ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ निर्गुण काव्य की वैचारिक प्रभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सांस्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्बन्धी घटनाओं का संकेत देनेवाले सूत्रों का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में सकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित एडो बोली के नजदीक है जबकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हरि विनु जन्म बृथा खोयो रे ।

कहा भयो भति मान बढ़ाई धन मद अधमति सोयो रे ॥

भति उत्तम तरु देषि सुहायो सैवल कुसुम सुवा सेयो रे ।

सोई फल पुत्र कलत्र विषै सु भति साँस धुनि धुनि रोयो रे ॥

सुमिरन भजन साधु की सगति अतरमन मैल न धोयो रे ।

रामानन्द रतन जम त्रासै श्रीपत पद गहे न जोयो रे ॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अंश इस प्रकार है—

मूरप तज धरि कहा कमायौ, राम भजन विनु जनम गमायौ ।

राम भगति गति जाँणी नाहीं, भद्रूँ भूलौ धधा माँही ॥

मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरन तो कबू न करियो ।

नारी सेती नेह लगायौ, कबहुँ हिरदै राम नहिँ आयौ ॥

सुप माया सँ परो पियारो, कबहुँ न सिवन्यो सिरजन हारौ ।

स्वारथ माहि चहुँ दिसि ध्यायो, गोविन्द को गुन कबहुँ न गायौ ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुरुग्रन्थसे उद्धृत किया जाता है—

राग वसन्त

कत जाइयै रे घर लागो रग मेरा चितु न चलै मन भइउ पगु ।

एक दिवस मन भई उमरा घसि चौभा चन्दन बहु सुगंध ।

पूजन चाली ब्रह्म ठाढ़, सो ब्रह्म बताइउ गुरु मन हा माहि ॥१॥

जहाँ जाइये तँह जल पथान, तू परि रहिउ है सम समान ।

वेद पुरान सब वेपे जोइ उहाँ तउ जाइयों जउ इहाँ न होइ ॥२॥

सतगुर मैं बलिहारी तोर जिनि सकल त्रिकल भ्रम काटे मोर ।

रामानन्द सुभासी रमत वरम, गुरु का सवद काटे कोटि करम ॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुरा है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया पदों को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो > लाग्यौ (ब्रज) ओकारान्त है

मगध अर्थ लेकर बाबू साहब ने कबीर की भाषा में 'मैथिली' और विहारी बोलियों का प्रभाव ढूँढने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपुरी क्यों नहीं? भोजपुरी तो विहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुतः यह भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है।'^१ डा० उदयनारायण तिवारी, डा० श्यामसुन्दर के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पंचमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी बुद्ध वचनों की तरह कई भाषाओं में अनूदित हो गई थी, इसीलिए उसमें इतने प्रकार की विविधता पाई जाती है।^२ कबीर की भाषा की प्रासंगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियों की तरह उन्होंने प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्व प्रायः दिखाई पड़ते हैं।'^३ कबीर मत्तावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अतरालस्थित परम सत्यसे भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, ककहरा, बसन्त, चाचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, साखी और 'सायर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित हैं। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जन-श्रुतियों और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओं आदि का उचित निवेचन करने के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पड़ता है कि मगवानदास के शिष्य प्रशिष्यों ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातों का मिल जाना नितान्त असंभव नहीं है।^४ इस बीजक में कई प्रकार की भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओं में मिलता है, यह संभवतः बीजक के पूर्व में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१०. उपर्युक्त मतों के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पञ्चमेल' खिचड़ी है और तब यह भी संभव है कि इनके बीच

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, तथा हिन्दी अनुसन्धान वर्ष २ अंक २ में कबीर की भाषा शीर्षक निबन्ध

३. Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindustani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi. His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and there and when he employs his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves. Origin and Development of the Bengali Language p. 99

४. कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ६ अंक २, पृ० ११३

मगध श्रृंखला लेकर बाबू साहब ने कबीर की भाषा में 'मैथिली' और विहारी बोलियों का प्रभाव हूँदने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपुरी क्यों नहीं ? भोजपुरी तो विहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुतः यह भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि यह खिचड़ी है।'^१ डा० उदयनारायण तिवारी, डा० श्यामसुन्दर के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पञ्चमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी बुद्ध वचनों की तरह कई भाषाओं में अनूदित हो गई थी, इसीलिए उसमें इतने प्रकार की विविधता पाई जाती है।^२ कबीर की भाषा की प्रासंगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियों की तरह उन्होंने प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्व प्रायः दिखाई पड़ते हैं।'^३ कबीर मत्तावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अतरालस्थित परम सत्यसे भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, ककहरा, बसन्त, चाचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, साखी और 'सायर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित हैं। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जन-श्रुतियों और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओं आदि का उचित निवेचन करने के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पड़ता है कि भगवानदास के शिष्य प्रशिष्यों ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातों का मिल जाना नितान्त असम्भव नहीं है।^४ इस बीजक में कई प्रकार की भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओं में मिलता है, यह संभवतः बीजक के पूर्व में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१०. उपर्युक्त मतों के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पञ्चमेल' खिचड़ी है और तब यह भी सम्भव है कि इनके बीच

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष २ अंक २ में कबीर की भाषा शीर्षक निबन्ध

३. Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindustani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi. His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and there and when he employs his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves. Origin and Development of the Bengali Language p 99

४. कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ६ अंक २, पृ० ११३

ग्राहि ग्राहि कर हरी पुकारा, साथ संगति मिलि करहु विचारा ।
 रे रे जीवन नहिं विश्रामा, सब दुख मंडन राम को नामा ।
 राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा ।
 सुधित वेद सब सुनै नहीं आवै कृत काज
 नहीं जैसे कुंडिल बनिल दुख सोभित विन राज
 भव गहि राम नाम अविनाम्यो हरि तजि जनि अंतइ वै जासो
 जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, भव जनि जरसि समझ विष संगी

हरि चरति से—^१

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज, छांदि भकाजै जाना
 कपटी लोग सब भे घरमार्थी, पोट वहिदि नहि चीन्हे वियाधी
 कुअर बोंधे भूपन मरई, आदर सो पर सेइ चराई ॥
 चन्दन काटि करीले जे लावा, ओं वि काटि बबूर बोभावा ।
 कोकिल हंस मजारहि मारी, बहुत जतन कागहिं प्रतिपाली ॥
 सारीक पंथ उपारि पालै तमचुर जग संसार ।
 लखन सेनि ताह न वसै कादि जो खोंहि उधार ॥

कबीर को रमैनी की भाषा की अपेक्षा लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधी है । फिर भी कबीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आज्ञार्थक मध्यम पुरुष) जनि (अव्यय) लागि (परसर्ग, चतुर्थी) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष) आदि रूप स्पष्टतः अवधी का संकेत देने हैं वैसे भी बाकी पूरा व्याकरणिक ढाँचा अवधी का ही है किन्तु भौ (क्रियाभूत) में (सप्तमी परसर्ग) को (पष्ठी, पर०) ब्रज प्रभाव की सूचना देते हैं । कबीर ग्रन्थावली की रमैणी पर ब्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी ।

§ २१२. कबीर की भाषा का दूसरा रूप उनकी साहित्यों में दिखाई पड़ता है । साहित्यों की भाषा की परम्परा भी कबीर को पूर्ववर्ती सन्तों से ही मिली । अपभ्रंश में दोहों की परम्परा पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपभ्रंश में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते थे । एक तो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित शुद्ध पिगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की पूर्ववर्ती शैली । हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों की इन दो भिन्न शैलियों का उल्लेख पहले हो चुका है । (देखिये § १६०) कबीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु ब्रजशैली के दोहे भी कम नहीं हैं । नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं ।

यह तन जालों मसि करौं लिखौं राम को नाम ।
 लेखणि करुं करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ ॥७६॥
 कबीर पीर परावनी पंजर पीर न जाइ ।
 एक जु पीर पिरौति को रही कलेजा छाड़ ॥८०॥
 हाँसी खेलै हरि मिलै तो कोण सहै परसान ।
 काम क्रोध तिष्णां तजै ताहि मिले भगवान ॥८७॥

ग्राहि ग्राहि कर हरी पुकारा, साथ संगति मिलि करहु विचारा ।
रे रे जीवन नहिं विधामा, सब दुख मंडन राम को नामा ।
राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा ।
सुधित वेद सब सुनै नहीं आवै कृत काज
नहीं जैसे कुंडिल बनिल दुख सोमित विन राज
अब गहि राम नाम अविनायो हरि तजि जनि अंतइ वै जासो
जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, अब जनि जरसि समझ विष संगी

हरि चरति से—^१

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज, छांदि भकाजै जाना
कपटी लोग सब भे धरमार्थी, पोट वहदि नहि चीन्हे वियाधी
कुञ्जर बोंधे भूपन मरई, भादर सो पर सेइ चराई ॥
चन्दन काटि करीले जे लावा, ओं वि काटि बबूर बोभावा ।
कोकिल हंस मजारहि मारी, बहुत जतन कागहिं प्रतिपाली ॥
सारीक पंथ उपारि पालै तमचुर जग संसार ।
लखन सेनि ताह न वसै कादि जो खोंहि उधार ॥

कबीर की रमैनी की भाषा की श्रुति लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधी है । फिर भी कबीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आज्ञार्थक मध्यम पुरुष) जनि (अन्यव) लागि (परसर्ग, चतुर्थी) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष) आदि रूप स्पष्टतः अवधी का सचेत देने हैं वैसे भी बाकी पूरा व्याकरणिक ढाँचा अवधी का ही है किन्तु मौ (क्रियाभूत) में (सतमी परसर्ग) को (पष्ठी, पर०) ब्रज प्रभाव की सूचना देते हैं । कबीर ग्रन्थावली की रमैणी पर ब्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी ।

§ २१२. कबीर की भाषा का दूसरा रूप उनकी साखियों में दिखाई पड़ता है । साखियों की भाषा की परम्परा भी कबीर की पूर्ववर्ती सन्तों से ही मिली । अपभ्रंश में दोहों की परम्परा पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपभ्रंश में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते थे । एक तो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित शुद्ध पिगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की पूर्ववर्ती शैली । हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों की इन दो भिन्न शैलियों का उल्लेख पहले हो चुका है । (देखिये § १६०) कबीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु ब्रजशैली के दोहे भी कम नहीं हैं । नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं ।

यह तन जालों मसि करौं लिखौं राम को नाम ।
लेखणि करुं करुं की लिखि लिखि राम पठाउँ ॥७६॥
कबीर पोर परावनी पंजर पोर न जाइ ।
एक जु पोर पिरौति को रहो कलेजा छाड़ ॥८०॥
हाँसी खेलौं हरि मिलै तो कोण सहै परसान ।
काम क्रोध तिष्णां तजै ताहि मिले भगवान ॥८७॥

१. हरिचरितत्र, अप्रकाशित, देखिये सर्च रिपोर्ट १६४४-४८

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासों में इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियों (दोहों) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं ।^१

मन नहिं छाड़ै विषै विषै न छाड़ै मन को ।
इनकों इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन को ॥
खडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै ।
ज्युँ जल में प्रतिव्यव त्यूँ सकल रामहिं जाणीजै ॥
सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभुवन पति कहूँ कस ।
कहै कबीर चन्दहुनरा ज्यों जल पुन्या सकल रस ॥५४१॥

दूसरा छप्पय 'वैसास को अग' में दिया हुआ है।

जिन नरहरि जठराहँ उदकि कै पढ प्रकट कियौ ।
सिरजे ध्रुवण कर चरन जीव जीम मुख तास दियौ ॥
उरध पाँव भरध साँस बाँच पपा इम रपियौ ।
अन पान जहाँ जरै तहाँ तैं अनल न चपियौ ॥
इहि माति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छुड़रै ।
कृसन कृपाल कबोर कहि इम प्रतिपालन क्यों करै ॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्विता लाने के लिए पुराने शब्दों खास तौर से परवर्तों अपभ्रंश के रूपों का बहुत बाद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयों की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये बिना न रही और उन्हें भी 'करकलत वरकलत' का प्रयोग करना ही पड़ा। कबीर के इन छप्पयों में भाषा काफी पुराने तत्वों को सुरक्षित किये हुए है। जाणीजै < जाणिजइ, कीजै < किजइ, विगतह ('हँ' अपभ्रंश षष्ठो) रामहिं (राम को) जठराहँ (आहँ, षष्ठो) रपियो > राख्यो (रप्यउ) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिविं > प्रतिव्य, उदर > उद्र उदकतैं > उदिकयै, नदहु > न्यदहु में शब्दों को तोड़मरोड़ कर चारण शैली की नकल भी की गई है।

कबीर की भाषा के इस सक्षिप्त विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदों में अधिकांश ब्रजभाषा में लिखे गए। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० स० १५७५) का आविर्भाव हुआ या उस समय ब्रजभाषा का अभी आधिपत्य नहीं जम सका था ।^२ और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनों पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमंडल तक था परस्पर विरोधी बातें तो हा जाती हैं क्योंकि 'जा ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव क्षेत्र गुजरात से लेकर बंगाल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि ब्रजभाषा का उन दिनों आधिपत्य या प्रभाव नहीं था क्योंकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तों की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बड़ा अंश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर बैजू (१५वीं शती) तक के संगीतकारों की राग रागिनियाँ

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६-५७

२ परशुराम चतुर्वेदी कबीर साहित्य की परत, पृ० २१७

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासों में इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियों (दोहों) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं।^१

मन नहिं छाडै विषै विषै न छाडै मन को ।
इनकोइ इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन को ॥
खडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै ।
ज्यौं जल में प्रतिघ्यब त्यों सकल रामहिं जाणीजै ॥
सो मन सो तन सो विषै सो त्रिमुवन पति कहूँ कस ।
कहै कबीर चन्दहुनरा ज्यों जल पुण्या सकल रस ॥५४१॥

दूसरा छप्पय 'वैसास को अग' में दिया हुआ है।

जिन नरहरि जठराहँ उदकि कै पढ प्रकट कियौ ।
सिरजे भ्रवण कर चरन जीव जीम मुख तास दियौ ॥
उरध पाँव भरध साँस बीच पपा इम रपियौ ।
अन पान जहाँ जरै तहाँ सँ अनल न चपियौ ॥
इहि माति भयानक उद्र में उद्र न कबहुँ छुल्लै ।
कृसन कृपाल कबीर कहि इम प्रतिपालन क्यों करै ॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्विता लाने के लिए पुराने शब्दों खास तौर से परवर्तों अपभ्रंश के रूपों का बहुत बाद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयों की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये बिना न रही और उन्हें भी 'करखत वरखत' का प्रयोग करना ही पड़ा। कबीर के इन छप्पयों में भाषा काफी पुराने तत्वों को सुरक्षित किये हुए है। जाणीजै < जाणिजइ, कीजै < किजइ, विगतह ('हँ' अपभ्रंश षष्ठी) रामहिं (राम को) जठराहँ (आहँ, षष्ठी) रपियो > राख्यो (रखत) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिबिंब > प्रतिबिब, उदर > उद्र उदकतै > उदकियै, बदहु > व्यदहु में शब्दों को तोड़मरोड़ कर चारण शैली की नकल भी की गई है।

कबीर की भाषा के इस सक्षिप्त विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदों में अधिकांश ब्रजभाषा में लिखे गए। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० स० १५७५) का आविर्भाव हुआ था उस समय ब्रजभाषा का अभी आधिपत्य नहीं जम सका था।^२ और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनों पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी रानस्थान से लेकर ब्रजमंडल तक था परस्पर विरोधी बातें तो हा जाती हैं क्योंकि 'जा ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव क्षेत्र गुजरात से लेकर पंगाल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि ब्रजभाषा का उन दिनों आधिपत्य या प्रभाव नहीं था क्योंकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तों की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बड़ा अंश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर बैजू (१५वीं शती) तक के संगीतकारों की राग रागिनियाँ

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६-५७

२ परशुराम चतुर्वेदी कबीर साहित्य की परख, पृ० २१७

मीराबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है ।^१

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी

एक तरफ मीरा-साहित्य के अन्तरंग साक्ष्यों पर मालूम होता है कि रैदास मीरा के गुरु थे । दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी भगली रानी का उल्लेख हुआ है ।^२ कुछ लोग भगली रानी का मतलब मीरा ही समझते हैं ।^३ मीरा के जन्मकाल के विषय में वैसे ही विवाद है । कुछ लोग उन्हें (१४२०-१५०० सवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५-१६३० सवत्) का बताते हैं ।^४ अतः रैदास और मीरा वाले प्रसंगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता । अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं ।

रविदास ने अपने को जात का चमार या देठ कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है । अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है ।

ऐसी भेरी जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओझी करम भी ओझी कसब हमारा ।

नाचै से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदास जी की बानी पृ० २१, ४२)

इस प्रकार से अपनी जाति और वंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी । उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है ।^५ गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं । श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों संग्रहों (वाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है ।'^६ चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था । मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ देखता और ब्रज दिखाई पड़ती हैं । इनके बारे में आगे विचार करेंगे ।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'प्रह्लाद चरित्र' का भी जिक्र होना चाहिए । खोज रिपोर्ट सन् १९२६-३१ में रैदासके दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

१. मीराबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५६

२. भक्तमाल, नामादास, पृ० ४८३-८५

३. ऐन आउटलाइन आव दी रिलीजस लिटरेचर भाव इंडिया, पृ० ३०६

४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५-५८२

५. रैदास की वाणी, बेलनेडियर प्रेस, प्रयाग

६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २४१

मीराबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है ।^१

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी

एक तरफ मीरा-साहित्य के अन्तरंग साक्ष्यों पर मालूम होता है कि रैदास मीरा के गुरु थे । दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की ओका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी भाली रानी का उल्लेख हुआ है ।^२ कुछ लोग भाली रानी का मतलब मीरा ही समझते हैं ।^३ मीरा के जन्मकाल के विषय में वैसे ही विवाद है । कुछ लोग उन्हें (१४३०-१५०० सवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५-१६३० सवत्) का बताते हैं ।^४ अतः रैदास और मीरा वाले प्रसंगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता । अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं ।

रविदास ने अपने को जात का चमार या देठ कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है । अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है ।

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओझी करम भी ओझा कसब हमारा ।

नीचै से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदास जी की बानी पृ० २१, ४३)

इस प्रकार से अपनी जाति और वंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी । उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है ।^५ गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं । श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों संग्रहों (वाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव सम्भ्रज जा सकता है ।'^६ चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था । मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ देखता और ब्रज दिखाई पड़ती हैं । इनके बारे में आगे विचार करेंगे ।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'ग्रहलाद चरित्र' का भी जिक्र होना चाहिए । खोज रिपोर्ट सन् १९२६-३१ में रैदासके दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

१. मीराबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५६

२. भक्तमाल, नामादास, पृ० ४८३-८५

३. ऐन आउटलाइन आव दी रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया, पृ० ३०६

४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५-५८२

५. रैदास की वाणी, वेल्ब्रेडियर प्रेस, प्रयाग

६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २४१

अति अपार संसार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी ।
काम भ्रम क्रोध भ्रम लीन भ्रम मोह भ्रम अनन्त भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
पंच सगी मिलि पीडियो प्रान यो जाय न सक्यो वैराग भागा ।
पुत्र वरग कुल वधु ते भारजा भरवै दसो दिष सिरकाल लागा ॥३॥
परम प्रकाश अविनाशी भयमोचना निरखि निज रूप विसराम पाया ।
वद रैदास वैराग पद चिंतना जपौ जगदीस गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलतः खड़ी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामें (सर्व० अधि०) और पीडियों, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव की सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही दिखाई पड़ती है । नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं । ये तीनों पद गुरु ग्रन्थ से हैं ।

दूधु बड़रै धनहु विदारिउ फूल, बभैर अल मीनि विगारउ ॥१॥
माई गोविंद पूजा कहा लै चरहावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउ ।
मैलागिरि वैरहे हैं भुइजगा, विषु अत्रिनु वसहिं इक सगा ॥२॥
धूप दीप नइवेदहि वासा, कैसे पूज करहिं तेरो दासा ॥३॥
मनु भरपडं पूज चरावउ, गुरु परसादि निरजन पावउ ॥४॥
पूजा भरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥५॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फास हम प्रेम बधनि तुम बाँधे ।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥१॥
माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ।
मीन पकरि फाकिउ अरु काटिउ, राधि कीउ बहुवानी ।
पड पड करि भोजन कीनो, तउ न विसारिउ पानी ॥२॥
भापन नापै नाहि कियो को भावन को हरि राजा ।
मोहु पटलु सब जगत वियापिउ भगत नहीं संतापा ॥३॥
कहि रविदास भगति इक वादी भव इह का सिउ कहिअै ।
जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुष भजहुँ सहिअै ॥४॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कहूँ न जानउँ मनु माइया कै हाथि विकानउ,
तुम कहोयत हैं जगतगुरु सुआमी, हम कहींभत कलिजुग के कामी ।
इन पचन मेरो मन जु विगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥२॥
जत देपउ तत दुष की रासी, अजै न पस्याइ निगम भए साखी ॥३॥
गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥४॥
इन दूतन पनु वधु करि मारिउ, बडो निलाज अजह नहि हारिउ ॥५॥
कहि रविदास कहा कैसे कीजै, विनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥६॥

अति अपार संसार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी ।
काम भ्रम मोघ भ्रम लीन भ्रम मोह भ्रम अनत भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
पंच सर्गी मिलि पीडियो प्रान यो जाय न सक्यो वैराग भागा ।
पुत्र वरग कुल वधु ते भारजा भरवै दसो दिष सिरकाल लागा ॥३॥
परम प्रकाश अविनाशी भघमोचना निरखि निज रूप विसराम पाया ।
वद रैदास वैराग पद चितना जपौ जगदीस गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलतः खड़ी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामें (सर्व० अधि०) और पीडियो, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव को सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही दिखाई पड़ती है । नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं । ये तीनों पद गुरु ग्रन्थ से हैं ।

दूधु बल्लरै थनहु विदारिउ फूल, वभैर अल मौनि विगारउ ॥१॥
माई गोविंद पूजा कहा लै चरहावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउ ।
मैलागिरि चैरहे हैं भुइजगा, विषु अत्रिनु वसहिं इक सगा ॥२॥
धूप दीप नइवेदहि वासा, कैसे पूज करहि तेरो दासा ॥३॥
मनु भरपउं पूज चरावउ, गुरु परसादि निरजन पावउ ॥४॥
पूजा भरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥५॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फास हम प्रेम बधनि तुम बाँधे ।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम भाराधे ॥१॥
माधवे जानत इहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ।
मीन पकरि फाकिउ भरु काटिउ, राधि कीउ बहुवानी ।
पढ पढ करि भोजन कीनो, तउ न विसारिउ पानी ॥२॥
भापन बापै नाहि किमो को भावन को हरि राजा ।
मोहु पयलु सब जगत वियापिउ भगत नहीं संतापा ॥३॥
कहि रविदास भगति इक बाझी अब इह का सिउ कहिअै ।
जा कारनि हम तुम भाराधे, सो दुष अजहूँ सहिअै ॥४॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कहुअ न जानउं मनु माइया के हाथि विकानउ,
तुम कहोयत हैं जगतगुर सुआमी, हम कहीअत कलिजुग के कामी ।
इन पवन मेरो मन जु विगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥२॥
जत देखउ तत दुष की रासी, अजै न पत्याइ निगम भए साखी ॥३॥
गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥४॥
इन दूतन पनु वधु करि मारिउ, बडो निलाज अजह नहि हारिउ ॥५॥
कहि रविदास कहा कैसे कीजै, विनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥६॥

§ २१७. धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे। अपने एक पद में उन्होंने अपने को जाट कहा है और कबीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियों में उत्पन्न लोगों की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वयं भक्त हो जाने की बात लिखी है।

इहि विधि सुनकै जाटरो उठि भगती लागी

मिले प्रतपि गुसाइयां धनां बड़ भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् सवत् १४७२ अनुमानित किया है।^१ मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यतः धन्ना और रामानन्द के शिष्य गुरु-सम्बन्ध की जनश्रुति पर ही आधारित है। नाभादास ने भक्तमाल में धन्ना के बारे में एक छप्पय लिखा है। नाभादास ने इस छप्पय में लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तों को बाँट दिया और माता पिता के डर से भूठे हराई खींचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अंकुर उदित हो गए। धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है।

घर आए हरिदास तिनहि गोधूम खवाए ।

तात मात डर खेत थोथ लांगलहि चलाए ॥

आसपास कृपकार खेत काँ करत बढाई ।

भक्त भजे काँ रीति प्रकट परतीति जु पाई ॥

अचरज मानत जगत में कहूँ निपज्यो कहूँ वै वयो ।

धन्य धन्ना के भजन की तिनहि बीज अंकुर भयो ॥

—भक्तमाल, पृ० ५०४

धन्ना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। इन पदों की भाषा पर खड़ी बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरु-ग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है।^२

रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर विवहित जानसि कोई ।

जे धावहि पढ ग्रहिमड कड करता करै सु कोई ॥ रहाउ ॥

जननि वरे उदर उदक महि पिडु कीया दस दुआरा ।

देह भहारु अगिनि महि राखै ऐसा पसमु हमारा ॥१॥

कुभा जल माहि तन तिसु बाहरि पप मोरु तिन्ह नाहीं ।

पूरन परमानन्द मनोहर समझि देषु मन माही ॥२॥

पापणि कोहु गुपतु होइ रहता ताको मारत नाहीं ।

कहे धन्ना पूरन साहू को मत रे जीअ ढराही ॥३॥

§ २१८ नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित कालसीमा के अन्तर्गत आता है। इसका जन्म संवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवडी नामक ग्राम में

१. मेकालिफ—दि सिख रिलीजन भाग ५ पृ० १०६

२. राग आसा पद १ और ३ पृ० ४८७, राग आसा पद ३ पृ० ४८८,

धनासरी पद १ पृ० ६६५

§ २१७. धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे । अपने एक पद में उन्होंने अपने को जाट कहा है और कबीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियों में उत्पन्न लोगों की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वयं भक्त हो जाने की बात लिखी है ।

इहि विधि सुनकै जाटरो उठि भगती लागी

मिले प्रतपि गुसाइयां धनां बड़ भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् सवत् १४७२ अनुमानित किया है ।^१ मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यतः धन्ना और रामानन्द के शिष्य गुरु-सम्बन्ध की जनश्रुति पर ही आधारित है । नाभादास ने भक्तमाल में धन्ना के बारे में एक छप्पय लिखा है । नाभादास ने इस छप्पय में लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तों को बाँट दिया और माता पिता के डर से भूठे हराई खींचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अंकुर उदित हो गए । धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है ।

घर आए हरिदास तिनहि गोधूम खवाए ।

तात मात डर खेत थोथ लांगलहि चलाए ॥

आसपास कृपकार खेत की करत बढाई ।

भक्त भजे की रीति प्रकट परतीति जु पाई ॥

अचरज मानत जगत में कहूँ निपज्यो कहूँ वै वयो ।

धन्य धना के भजन की बिनहिं बीज अंकुर भयो ॥

—भक्तमाल, पृ० ५०४

धना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं । इन पदों की भाषा पर खड़ी बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है । नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरु-ग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है ।^२

रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर विवदित जानसि कोई ।

जे धावहि पड बहिमड कउ करता करै सु कोई ॥ रहाउ ॥

जननि बरे उदर उदक महि पिहु कीया दस दुआरा ।

देह अहार अगिनि महि रापै ऐसा पसमु हमारा ॥१॥

कुभो जल माहि तन तिसु बाहरि पप मोरु तिन्ह नाहीं ।

पूरन परमानन्द मनोहर समझि देषु मन माही ॥२॥

पापणि कीहु गुपतु होइ रहता ताको मारत नाहीं ।

कहे धना पूरन ताहु को मत रे जीअ बराही ॥३॥

§ २१८. नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित कालसीमा के अन्तर्गत आता है । इसका जन्म संवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवड़ी नामक ग्राम में

१. मेकालिफ—दि सिख रिलीजन भाग ५ पृ० १०६

२. राग आसा पद १ और ३ पृ० ४८७, राग आसा पद ३ पृ० ४८८,

धनाचरी पद १ पृ० ६६५

तुम्ह विनु अवर न कोउ मेरे पियारे तुम्ह विनु अवर न कोई हरे
 सखी रंगी रूप तूं है तिसु वरवसै जिसु नदिर करे
 सासु चुरी घर वामुन देवै पिउ मिउं मिलन न देइ चुरी
 मखी माजनी के हउं चरन सरेवउं, हरि गुरु किरपा तैं नदिर धरी ॥२॥
 आप विचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मात न अवरु कोई ।
 जिवं तू राखहिं तिवं ही रहणा सुखु दुष देवहि करहि सोई ॥३॥
 आसा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आस निरास मई
 तुरिआ बसधा गुरु सुषि पाइपै संत सभा की उतलही ॥४॥
 गियान ध्यान सगले सुभि जप तप जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा ।
 नानक राम नाम मनु राता गुरु मति पाये सहज सेवा ॥५॥
 जो नर दुष में दुष नहि मानै ।
 सुख सनेह अरु भय नहि जाके कञ्चन माटो जानै ॥
 नहिं निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना ।
 इरष सोक ते रहै नियारी नाहि मान अपमाना ॥
 आसा मनसा सक्त त्यागि कै जग तें रहे निरासा ।
 काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
 गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्ही तिन्ह यह जुगति पिछानी ।
 नानक लीन भयो गोविंद सो ज्यों पानी संग पानी ॥

ऊपर का पद मूलतः ब्रज का है जैसा कि हउं (सर्वनाम) भिउँ, सउँ, कउ, तैं (परस्मै) सरेवउँ > सरेवौं क्रिया, जिवं > जिवि, तिवं > तिवि (अव्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खड़ी बोली की भी छाप अवश्य है, भिछिया, राता, देपिया, रहणा, आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं । किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध ब्रज का है और सूर के किसी भी पद से तुलनीय हो सकता है ।

गुरु ग्रन्थ में नानक की कुछ सावियाँ भी संकलित हैं । दोहों की भाषा पर पंजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे ब्रज के ही हैं । क्रिया कहीं-कहीं आकारान्त अवश्य हैं ।

सभ काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोइ ।
 मरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ॥१॥
 जिनी न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ ।
 सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥२॥
 धनवंता इन ही कहै अवरो धन कउ भाउ ।
 • नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ॥३॥
 जिनकै परै धनु वसै तिनको नाउँ फकीर ।
 जिनकै हिरदै तू वसै तै नर गुणी गहीर ॥४॥
 वेदु बुलाइया वैदगी पकड़ि ढढोले बांह ।
 भोला वैद न जाणई करक कलेजै मांह ॥५॥

तुम्ह विनु अवर न कोउ मेरे पियारे तुम्ह विनु अवर न कोई हरे
 सखी रंगी रूप तूं है तिसु वरवसै जिसु नदिर करे
 सासु चुरी घर वामुन देवै पिउ मिउं मिलन न देइ बुरी
 मखी मात्रनी के हउं चरन सरेवउं, हरि गुरु किरपा तैं नदिर धरी ॥२॥
 आप विचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मीत न अवरु कोई ।
 जिवं तू राखहिं तिवं ही रहणा सुखु दुष देवहिं करहिं सोई ॥३॥
 आसा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आय निरास भई
 तुरिआ वसधा गुरु मुषि पाइपै संत सभा की उतलही ॥४॥
 गियान ध्यान सगले सुभि जप तप जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा ।
 नानक राम नाम मनु राता गुरु मति पाये सहज सेवा ॥५॥
 जो नर दुष में दुष नहि मानै ।
 सुख सनेह अरु भय नहि जाके कञ्चन मायो जानै ॥
 नहिं निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना ।
 हरष सोक ते रहै नियारी नाहि मान अपमाना ॥
 आसा मनसा सक्त त्यागि कै जग तें रहे निरासा ।
 काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
 गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्ही तिन्ह यह जुगति पिछानी ।
 नानक लीन भयो गोविंद सो ज्यों पानी संग पानी ॥

ऊपर का पद मूलतः ब्रज का है जैसा कि हउं (सर्वनाम) मिउँ, सउँ, कउ, तैं (परस्मै) सरेवउँ > सरेवौं क्रिया, जिवं > जिवि, तिवं > तिवि (अय्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खड़ी बोली की भी छाप अवश्य है, भिजिया, राता, देपिया, रहणा, आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं । किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध ब्रज का है और सूर के किसी भी पद से तुलनीय हो सकता है ।

गुरु ग्रन्थ में नानक की कुछ साखियाँ भी संकलित हैं । दोहों की भाषा पर पंजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे ब्रज के ही हैं । क्रिया कहीं-कहीं आकारान्त अवश्य हैं ।

सम काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोई ।
 मरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ॥१॥
 जिनी न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ ।
 सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥२॥
 धनवंता इन ही कहै अवरो धन कउ आउ ।
 नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ॥३॥
 जिनकै परै धनु वसै तिनको नाउँ फकीर ।
 जिनकै हिरदै तू वसै तै नर गुणो गहोर ॥४॥
 वेदु बुलाइया वैदगी पकड़ि दढोले बाँह ।
 भोला वैद न जाणई करक कलेजै माँह ॥५॥

अन्य कवि

हरिदास निरंजनी

§ २१९. हरिदास निरंजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नहीं हो सका है। ये निरंजन संप्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते हैं। निरंजन संप्रदाय के धार्मिक परंपराओं और सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह संप्रदाय नाथ संप्रदाय से प्रभावित था। इस संप्रदाय के अवशिष्ट रूपों की मीमांसा करते हुए श्री हितिमोहन सेन ने लिखा है कि उड़ीसा हो संभवतः इस संप्रदाय की जन्मभूमि था, और वहीं से यह संप्रदाय बंगाल आदि में प्रसारित हुआ होगा।^१ उड़ीसा में पैले हुए इस संप्रदाय से उत्तर भारत सात तौर से पश्चिमी प्रदेशों में फैले हुए निरंजनी संप्रदाय का क्या संबंध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में फैले हुई निरंजनी परंपरा का कुछ परिचय दादू पंथी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० संवत्) मिलता है। इस ग्रंथ में बारह निरंजनी महन्तों का वर्णन दिया हुआ है जिनमें हरिदास, तुसीदास, खेमजी, कान्दजरास और मोहनदास आदि सम्मिलित किए गए हैं। राघोदास निरंजनी संप्रदाय का आदि प्रवर्तक निरंजन भगवान् को बताते हैं, यही नहीं उन्होंने कबीर, नानक, दादू, जगन रायो ? के चार निर्गुण संप्रदायों को भी निरंजन से प्रेरित बताया।

रामानुज की पधित खली तपसी सँ आई ।
विष्णुस्वामि की पधित सुतौ संकर ते आई ॥
मधवाचार्य पधित शौत ब्रह्मा सुविचारा हैं ।
नौवादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा ।

अन्य कवि

हरिदास निरंजनी

§ २१९. हरिदास निरंजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नहीं हो सका है। ये निरंजन संप्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते हैं। निरंजन संप्रदाय के धार्मिक परंपराओं और सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह संप्रदाय नाथ संप्रदाय से प्रभावित था। इस संप्रदाय के अवशिष्ट रूपों की मीमांसा करते हुए श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि उड़ीसा ही संभवतः इस संप्रदाय की जन्मभूमि था, और वहीं से यह संप्रदाय बंगाल आदि में प्रसारित हुआ होगा।^१ उड़ीसा में फैले हुए इस संप्रदाय से उत्तर भारत खास तौर से पश्चिमी प्रदेशों में फैले हुए निरंजनी संप्रदाय का क्या संबंध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में फैले हुई निरंजनी परंपरा का कुछ परिचय दादू पंथी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० संवत्) मिलता है। इस ग्रंथ में चारह निरंजनी भक्तों का वर्णन दिया हुआ है जिनमें हरिदास, सुरसीदास, खेमजी, कान्हडदास और मोहनदास आदि सम्मिलित किए गए हैं। राघोदास निरंजनी संप्रदाय का आदि प्रवर्तक निरंजन भगवान् को बताते हैं, यही नहीं उन्होंने कबीर, नानक, दादू, जगन राघो ! के चार निर्गुण संप्रदायों को भी निरंजन से प्रेरित बताया।

रामानुज को पधित चली तबमों सँ आई ।
विष्णुस्वामि को पधित सुतौ संकर से आई ॥
मधवाचार्य पधित श्रौत ब्रह्मा सुविचारा है ।
गोत्रादित को पधित प्यारि सनकादि कुमारा ।

पन्दरसे वारोत्तरे फागुन सुदि छठसार
वैराग्य ज्ञान भगति कू लीयो हरि अवतार
पन्दरह सै का बारह गयो हरि धारयो अवतार
ज्ञान भक्ति वैराग्य से आप कियो भवपार
पन्दरह सै छप्पन समै वसन्त पञ्चमी जान
तब हरि गोरप रूप धरि आप दियो ग्रह ज्ञान
सोलह सौ को छटि सुदि फागुण मास
परम धाम भै प्राप्तो नगर डोंड हरिदास

इस उल्लेख के मुताबिक हरिदास का काल १५१२-१६०० संवत् मान्य पड़ता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिनमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती बताया गया है, मेल खाता है। मगलदास जी के पास एक हस्तलिखित गुटके में निधिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका बहुत परवर्ती मान्य होता है, इसे किसी पूर्णदास ने नवलगढ़ में लिखा था।

चवदेमे चोहत्तरे जन्म लियो हरिदास
सांखळ से घर अवतरे छतरा वंश निवास
छतरा वंश निवास तेज सो सुरति विराजे
छतरि भेष सो सुरमाय को दूध न लाजै
मिलियो गोरप रूप हरि दियो ज्ञान परकास
चवदह सै चोहोत्तरे जन्म लियो हरिदास

पन्दरसौ पिचागवे कियो जोति में वास
फागुन सुदि को छठ को परम जोति परकास

इसी से मिलता जुलता दूसरा उल्लेख मन्नाज प्रभाकर ग्रन्थ के १३ वें उल्लास में इस प्रकार आता है :

चवदासत संवत् सप्तचार, प्रकटे सुदेस सुरधर मन्तार ।
पचासौ पञ्चानवे शुद्ध फागुण छटि जाण ।
विंश सो वपुराखि कै पहुँचै पद निर्वाण ॥

इन सभी उल्लेखों में हरिदास का काल १५वीं १६वीं विक्रमी के बीच पड़ता है। नीचे के दोनों उल्लेखों में तो १५७५-१५८५ संवत् पर मतैक्य भी दिखाई पड़ता है। इन उल्लेखों में व्यक्त रचनाकाल को देखते हुए श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही मान्य होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७-१५९७ विक्रमी) मानते हैं^१ इन प्रसंगों के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरञ्जनी विक्रमी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

पन्दरसे वारोत्तरे फागुन सुदि छठसार
वैराग्य ज्ञान भगति कू लीयो हरि अवतार
पन्दरह सै का बारह गयो हरि धारयो अवतार
ज्ञान भक्ति वैराग्य से आप कियो भवपार
पन्दरह सै छप्पन समै वसन्त पञ्चमी जान
तब हरि गोरप रूप धरि आप दियो ब्रह्म ज्ञान
सोलह सौ को छट्टि सुदि फागुण मास
परम धाम मै प्रापतौ नगर डोंड हरिदास

इस उल्लेख के मुताबिक हरिदास का काल १५१२-१६०० संवत् मान्य पड़ता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिनमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती बताया गया है, मेल खाता है। मगलदास जी के पास एक हस्तलिखित गुटके में तिथिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका बहुत परवर्ती मालूम होता है, इसे किमी पूर्णदास ने नवलगाढ़ में लिखा था।

चवदेमे चोइतरे जन्म लियो हरिदास
सांखड से घर अवतरे छतरी वंश निवास
छतरी वंश निवास तेज सो मुरति विराजे
छतरि भेष सो सूरमाय को दूध न लाजै
मिलियो गोरप रूप हरि दियो ज्ञान परकास
चवदह सै चोइतरे जन्म लियो हरिदास

पन्दरसौ पिचागवे कियो जोति में वास
फागुन सुदि को छठ को परम जोति परकास

इसी से मिलता जुलता दूसरा उल्लेख मन्राज प्रभाकर ग्रन्थ के १३ वें उल्लास में इस प्रकार आता है :

चवदासत संवत् सप्तचार, प्रकटे सुदेस सुरधर मन्कार ।
पचासौ पञ्चानवे शुद्ध फागुण छट्टि जाग ।
विंश सो वपुराखि कै पहुँचै पद निर्वाण ॥

इन सभी उल्लेखों में हरिदास का काल १५वीं १६वीं विक्रमी के बीच पड़ता है। नीचे के दोनों उल्लेखों में तो १४७५-१५६५ संवत् पर मतैक्य भी दिखाई पड़ता है। इन उल्लेखों में व्यक्त रचनाकाल को देखते हुए श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही मालूम होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७-१५६७ विक्रमी) मानते हैं^१ इन प्रसंगों के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरञ्जनी विक्रमी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

भाषा पर कहीं कहीं राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। सत शैली के रूढ़ प्रयोगों के बावजूद, जो प्रायः कई भाषाओं से ग्रहित हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यंत सहज और भावमय है अतः भाषा बड़ी ही साफ और व्यञ्जनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१. वैष्णव संप्रदायों में निम्बार्क संप्रदाय का भी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई सुनिश्चित धारणा नहीं है। संप्रदायी भक्त लोग निम्बार्कचार्य के आदिर्भाव का काल आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३ वा विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१ वा वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस संप्रदाय का आरम्भ १२वीं से पूर्व नहीं मान सकते। १२वीं शती में निम्बार्क का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होंने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद में वृन्दावन में आकर रहने भी लगे थे। अन्य वैष्णव संप्रदायों की तरह इस संप्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट इस संप्रदाय के आदि ब्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु शिष्य परंपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में समझे माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के जीवन वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है। श्रीभट्ट का परिचय देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'इनका जन्म संवत् १५६५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता काल संवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी सी रचना आदि बानी भी मिलती है।'^१ शुक्ल जी ने जन्म-काल को जिस तरह अनुमान रूप में १५६५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनों एक ही चार्जे हैं। ब्रजभाषा की निम्बार्क सम्प्रदाय गत पहली रचना होनेके कारण यह आदिबानी कहलाई। शुक्ल जी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नहीं लिखा। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्ण भक्ति काव्य की परम्परा का सन्धान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियों पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।^२ बिहारीशरण जी ने श्रीभट्ट का सम्य १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० विक्रमी दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं 'वस्तुतः ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का संवत् गलत दिया है। निम्बार्क संप्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीभट्ट केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीभट्ट का) रचना काल संवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचना काल भी सरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क संप्रदायी हरिव्यास देव जी आयु में सूर से बड़े थे।'^३ डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००७, काशी, पृ० १८८

२. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० २५

३. वही, पृ० २५

भाषा पर कहीं कहीं राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। सत शैली के रूढ़ प्रयोगों के बावजूद, जो प्रायः कई भाषाओं से ग्रहित हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यंत सहज और भावमय है अतः भाषा बड़ी ही साफ और व्यञ्जनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१. वैष्णव संप्रदायों में निम्बार्क संप्रदाय काफी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई मुनिश्चित धारणा नहीं है। संप्रदायी भक्त लोग निम्बार्काचार्य के आनिर्भाव का काल आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३ वा विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१ वा वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस संप्रदाय का आरम्भ १२वीं से पूर्व नहीं मान सकते। १२वीं शती में निम्बार्क का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होंने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद में वृन्दावन में आकर रहने भी लगे थे। अन्य वैष्णव संप्रदायों की तरह इस संप्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट इस संप्रदाय के आदि ब्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु शिष्य परंपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में समझे माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के जीवन वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है। श्रीभट्ट का परिचय देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'इनका जन्म संवत् १५६५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता काल संवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी सी रचना आदि बानी भी मिलती है।'^१ शुक्ल जी ने जन्म-काल को जिस तरह अनुमान रूप में १५६५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनों एक ही चार्जे हैं। ब्रजभाषा की निम्बार्क संप्रदाय गत पहली रचना होनेके कारण यह आदिबानी कहलाई। शुक्ल जी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नहीं लिखा। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्णभक्ति काव्य की परम्परा का सन्धान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियों पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।^२ बिहारीशरण जी ने श्रीभट्ट का समय १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० विक्रमी दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं 'यस्तुतः ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का संवत् गलत दिया है। निम्बार्क संप्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीभट्ट केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीभट्ट का) रचना काल संवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचना काल भी सुरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क संप्रदायी हरिव्यास देव जी आयु में सूर से बड़े थे।'^३ डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००७, काशी, पृ० १८८

२. अष्टछाप और ब्रह्म संप्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० २५

३. वही, पृ० २५

गोविंद भक्ति गद रोग गति तिलक दास सद वैद हृद
जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारषद

नाभादास के इस छप्पय में श्रीमद् के बाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमशः शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के निषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन भी किया है। परशुराम ने 'जंगली देस' के लोगों को वैष्णव बनाया। यह 'जंगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है। 'जंगली' शब्द लोगों के असम्भ्य, बर्बर और अतस्कृत होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलतः यह देशभेद सूचित करता है जागल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। संभवतः दिल्ली मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जागल कहते थे। कुरु के पूरव का देश पांचाल या इसी से 'कुरुपांचाल' और 'कुरुजागल' दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। वैसे जागल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अत्योदक, तृणहीन, सूखा देश हो तथा जहाँ हवा और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जागल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आकाश वाला तथा थोड़े जल से पैदा होनेवाले पौधों शमी, करीर, बिल्व, अर्क, पीरु, कर्कण्धु आदि से भरा हुआ देश जागल कहा जाता है।^१ इन विशेषताओं से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जागल कहना उचित ही है। महाभारत में मद्र और जागल का नाम साथ आता है।^२ मद्र रावी और कैलस के बीच का देश था, इस प्रकार जागल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम सबन्धी छप्पय में 'जंगली देश' का अर्थ जागल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारषद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्यक्षेत्र का एकदम ठीक-उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमादाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्नार्क पीठ स्थानित है। वहाँ परशुराम की इहलौकिक लीला भी समाप्त हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मालूम था कि परशुराम ने जागल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक कानो बड़े भूभाग को असम्भ्य से सम्य या भक्त बनाना कुछ समय सापेक्ष व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४३ संवत्) से पूर्व तो ये ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३. परशुराम नगरमें निप्रमती गन्ध की पुष्पिका से भी कुछ लोगों को भ्रम हुआ है। उक्त पुष्पिका इस प्रकार है :

१. अत्योदकृणो अस्तु प्रवातः प्रचुरातपः

संज्ञेयो जागलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः (रत्नावली)

२. आकाशः शुभ्र उच्चरच स्वल्पानीयपादपः

शमी-करीर बिल्वार्क पीलुकर्कण्धुसंकुलः (भावप्रकाशम्) ।

३. तत्रैव कुरुपांचालाः शल्वा माद्रेय जागलाः । (महाभारत, भीष्म पर्व, अ० ६)

गोविंद भक्ति गद रोग गति तिलक दास सद वैद हृद
जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारषद

नाभादास के इस छप्पय में धीमट्ट के बाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमशः शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के विषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन भी किया है। परशुराम ने 'जंगली देस' के लोगों को वैष्णव बनाया। यह 'जंगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है। 'जंगली' शब्द लोगों के असभ्य, बर्बर और असंस्कृत होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलतः यह देशभेद सूचित करता है जागल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। संभवतः दिल्ली मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जागल कहते थे। कुरु के पूरव का देश पांचाल या इसी से 'कुरुपांचाल' और 'कुरुजागल' दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। वैसे जागल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अत्योदक, तृणहीन, सूखा देश हो तथा जहाँ हवा और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जागल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आकाश वाला तथा थोड़े जल से पैदा होनेवाले पौधों शमी, करीर, बिल्व, अर्क, पीरु, कर्कण्धु आदि से भरा हुआ देश जागल कहा जाता है।^१ इन विशेषताओं से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जांगल कहना उचित ही है। महाभारत में मद्र और जागल का नाम साथ आता है।^२ मद्र रावी और कैलस के बीच का देश था, इस प्रकार जागल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम सक्थी छप्पय में 'जंगली देस' का अर्थ जागल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारषद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्य-क्षेत्र का एकदम ठीक-उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमादाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्नार्क पीठ स्थापित है। वहाँ परशुराम की इहलौकिक लीला भी समाप्त हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मालूम था कि परशुराम ने जागल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक कानो बड़े भूभाग को असभ्य से सभ्य या भक्त बनाना कुछ समय सापेक्ष व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४३ संवत्) से पूर्व तो थे ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३. परशुराम नगरमें निप्रमती गन्ध की पुष्पिका से भी कुछ लोगों को भ्रम हुआ है। उक्त पुष्पिका इस प्रकार है :

१. अत्योदकतृणो अस्तु प्रजातः प्रचुरातपः
संज्ञेयो जांगलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः (रत्नावली)
२. आकाशः शुभ्र उच्चश्च स्वल्पपानीयपादपः
शमी-करीर बिल्वार्क पीलुकर्कण्धुसंकुलः (भावप्रकाशम्) ।
३. तत्रैव कुरुपांचालाः शल्वा माद्रेय जांगलाः । (महाभारत, भाग्य पर्व, अ० ६)

१३ ग्रंथों की यह सूची नागरीप्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१६३२-३४) में प्रस्तुत की गई। डा० मातीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज में परशुराम के २२ ग्रंथों की सूची दी है।^१

(१) साखी का जोडा (२) छंद का जोडा (३) सवैया दम अवतार का (४) खुनाथ चरित (५) श्रीकृष्ण चरित (६) सिंगार सुदामा चरित (७) द्रौपदी का जोडा (८) छप्पय राज प्राह कौ (९) प्रह्लाद-चरित (१०) अमरगोध-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निषेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण लीला (१७) समभूषणी लीला (१८) तिथि लीला (१९) नद-लीला (२०) नक्षत्र-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग कुल्ल पद।

ऊपर की १३ रचनाओं में पदारली और वार लीला को छोड़कर बाकी ११ ग्रंथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (न० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (न० ११) से मिलती जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। शौच निषेध लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनों सूचियाँ में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नहीं) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जाने वाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती हैं। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनों ही अमावस्या से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोचित ढंग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर मावस मन में गरब न करना, गुरु प्रनाम इमि दूतर तरना। पडिवा प्रीत पीव सँ लागी, मसा मिठ्या तव सव्या भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दों में कहते हैं 'मानस मैं तैं दोऊ डारी, मन मगल अतर लै सारी। पडिवा परमतत ल्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते हैं परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोड़ने की सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकड़कर प्रियतम लवलीन करने की बात करते हैं।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं

कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
सोय वार ससि अमृत झरै, पावत वेगि तवै निस्तरै
परशुराम की वारलीला में इसी को इस ढंग से कहा गया है -
वार-वार निज राम सभाहूँ,
रतन जनम भ्रम वाद न हाहूँ
सोम सुरति करि सातल वारा,
देप सकल व्यापक व्यौहारा
सोन बिसरि जाको निस्तारा,
समदष्टि होइ सुमरि अपारा।

१. प्रथम भाग, संपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२

१३ ग्रंथों की यह सूची नागरीप्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१९३२-३४) में प्रस्तुत की गई। डा० मातीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज में परशुराम के २२ ग्रंथों की सूची दी है।^१

(१) साखी का जोडा (२) छंद का जोडा (३) सबैया दम अपतार का (४) रघुनाथ चरित (५) श्रीकृष्ण चरित (६) सिंगार सुदामा चरित (७) द्रौपदी का जोडा (८) छप्पय गज ग्राह को (९) प्रह्लाद-चरित (१०) अमरगोध-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निषेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण लीला (१७) समझणी लीला (१८) तिथि लीला (१९) नद-लीला (२०) नक्षत्र-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग कुत्कल पद।

ऊपर की १३ रचनाओं में पदावली और वार लीला को छोड़कर बाकी ११ ग्रंथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (न० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (न० ११) से मिलती जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। शौच निषेध लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनों सूचियां में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नहीं) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जाने वाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती हैं। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनों ही अमावस्या से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोचित ढंग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर मावस मन में गरब न करना, गुरु प्रताप इमि दूतर तरना। पड़िवा प्रीन पीव सँ लागी, मसा मिट्या तब सक्या भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दों में कहते हैं 'मानस मैं तैं दोऊ डारी, मन मगल अतर लै सारी। पड़िवा परमतत ल्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते हैं परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोड़ने की सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकड़कर प्रियतम लवलीन करने की बात करते हैं।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं

कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
सोम वार ससि अमृत झरै, पावत वेगि तवै निस्तरै
परशुराम की वारलीला में इसी को इस ढंग से कहा गया है -
वार-वार निज राम सभाहूँ,
स्तन जनम भ्रम वाद न हारूँ
सोम सुरति करि सांतल वारा,
देप सकल व्यापक व्यौहारा
सोन बिसरि जाको निस्तारा,
समदृष्टि होइ सुमरि अपारा।

१. प्रथम भाग, संपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२

स्व० डा० पीताम्बर दत्त मड्डवाल ने उचित ही लिखा 'परशुराम का रचनामाला शात नहीं है वे कबीर से पहले के हैं या पीछे के यह भी शात नहीं। इसलिए पूर्ववत्ता संग्रह से भी इस विषय में कोई निर्णय नहीं हो सकता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनाएँ स्वामी सुखानन्द और वज्रना जी के नाम से मिलती हैं। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी यह कम सम्भव है। अधिक सम्भव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हों। और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।'

§ २२६ नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्प्रेता की कविताओं ने कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता नाम 'हित', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्बार्क संप्रदायी आचार्य कवियों के उभयनामों की सूची सर्वेश्वर में प्रकाशित की गई है।^१ इसमें प्रायः ४५ आचार्यों के अन्तरंग नामों का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्ट जी के युगलसत^२ का एक पद—

सुकर सुखर निरखत दोऊ मुख ससि नैन चकोर ।
गोर स्याम अभिराम अति छत्रो फव्वो कछु थोर ॥
गोर स्याम अभिराम विराजै ।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग सुकर सुखर निरखत नहि त्याजै ।
कठ सो कठ बाहु घोवा मिलि प्रतिविम्बित तन उपमा लाजै ॥
नैन चकोरि विलोक चदन ससि आनद सिंधु मगन भणु भ्राजै ।
नील निखोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजै ॥
घटा छटा आंख डल कोदउ दोउ तन एक देस छवि छाजै ।
गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख सुर नीसुर वाजै ॥
अमिट अटक परे दपति दग मूरति मनहु एक हों साजै ॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी^३ से—

हों कहा कहाँ सुख फूल भई ।
फूले फूल फव्वे सब वन में तन मन की सब सूल गई ॥
फूल दिसन विदसन में फूलै छिति अम्बर में फूल छई ।
फूली लता द्रुम सरित सरब में रंग गृग सब ठाँ फूल छई ॥
फूल निकुञ्ज निलय निकरनि में वरन वरन में फूल नई ।
श्री 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के उर फूल भई ॥

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, सवत् १९६७, पृ० ३३४

२. सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ७, वृन्दावन पृ० २८

३. वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरीप्रचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करने वाली है।

४. निम्बार्क—माधुरी में सकलित

स्व० डा० पीताम्बर दत्त ढड्ढवाल ने उचित ही लिखा 'परशुराम का रचनामाला ज्ञात नहीं है वे कबीर से पहले के है या पीछे के यह भी ज्ञात नहीं। इसलिए पूर्ववत्ता संन्देह से भी इस विषय में कोई निर्णय नहीं हो सकता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनाएँ स्वामी सुखानन्द और वरदान जी के नाम से मिलती हैं। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी यह कम संभव है। अधिक संभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हों। और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।'^१

§ २२६ नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्त्ववेत्ता की कविताओं ने कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता नाम 'हिनू', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्बार्क संप्रदायी आचार्य कवियों के उभयनामों की सूची सर्वेश्वर में प्रकाशित की गई है।^२ इसमें प्रायः ४५ आचार्यों के अन्तरंग नामों का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्ट जी के युगलसत^३ का एक पद—

सुकर मुखर निरखत दोऊ मुख ससि नैन चकोर ।
गोर स्वाम अभिराम अति छत्री फवो कछु थोर ॥
गोर स्वाम अभिराम विराजै ।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग सुकर मुखर निरखत नहि त्याजै ।
कठ सो कठ बाहु मोवा मिलि प्रतिबिम्बित तन उपमा लाजै ॥
नैन चकोरि विलोक वदन ससि आनंद सिंधु मगन भणु भाजै ।
नील निचोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजै ॥
घटा छटा आंख डल कोदउ दोउ तन एक देस छवि छाजै ।
गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख सुर नीसुर वाजै ॥
अमिट अटक परे दपति हग मूरति मनहु एक ही साजै ॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी^४ से—

हौं कहा कहीं सुख फूल भई ।
फूले फूल फवें सब वन में तन मन की सब सूल गई ॥
फूल दिसन विदसन में फूलै छिति अम्बर में फूल छई ।
फूली लता द्रुम सरित सरब में खग मृग सब ठां फूल दई ॥
फूल निकुज निलय निकरनि में वरन वरन में फूल नई ।
श्री 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के उर फूल भई ॥

१. नागरोपचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, सवत् १९९७, पृ० ३३४

२. सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ७, वृन्दावन पृ० २८

३. वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरोपचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करने वाली है।

४. निम्बार्क—माधुरी में संकलित

धरम मार्ग खड़ धार करम मारग कहु नाहीं ।
साध मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं ॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जानै
हरिमार्ग हरिराई वेद भागवत बखाने ।
तत्तवेत्ता तिहुँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रखा ।
सब मारग को सुमिरतां परम मार्ग परचै भया ॥

नरहरि भट्ट

§ २२७. नरहरि भट्ट उम्र में सूरदास के समवयस्क थे । उनके रचना काल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनाएँ कई दृष्टियों से सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं । भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्तः प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियों की भाषा से उतना साम्य नहीं रखती जितना अपनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिगल भाषा से । उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूर कालीन काव्य चेतना से उतना प्रभावित नहीं है जितना अपभ्रंश और पिगल काव्य रूपों और उनकी शैली से ।

नरहरि की जन्म तिथि का निर्णय करने के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । उनके वंशजों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ था । पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल संवत् १५६२ ही मानते हैं ।^१ नरहरि की रचनाओं के अंतर्संदेह से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था । उन्होंने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बड़ा विशद् और चित्रात्मक वर्णन किया है । इस प्रकार के विम्बपूर्ण वर्णन स्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना संभव नहीं है । डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते हैं कि नरहरि हुमायूँ के संपर्क में संवत् १५६० के आस-पास आये होंगे क्योंकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी संवत् १५६७ के वैशाख में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच-सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है । 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नहीं थे और उनका कई दरबारों के साथ संबन्ध था क्योंकि उनकी रचनाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियाँ मिलती हैं । बाबर के विषय में नरहरि का यह पद्य काफी महत्व का है ।'^२

मेक बल्ल दिल पाक सखी जवां मर्द शेर नर
अम्बलं अली खुदाय दिया तिरिपार भल्क जर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०३

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६ । इस छप्पय को और भी कई

लोगों ने उद्धृत किया है । देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२८ विशाल भारत, मार्च, १९४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना-संमेलन पत्रिका, पौष संवत् १९६६ । हिन्दुस्तानी, भाग २७, पृ० सं० ५

धरम मार्ग खड़ धार करम मारग कछु नाहीं ।
साध मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं ॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जानै
हरिमार्ग हरिराइ वेद भागवत बखाने ।
तत्तवेत्ता लिहूँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रखा ।
सब मारग को सुमिरतां परम मार्ग परचै भया ॥

नरहरि भट्ट

§ २२७. नरहरि भट्ट उग्र में सूरदास के समवयस्क थे । उनके रचना काल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनायें कई दृष्टियों से सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं । भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्तः प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियों की भाषा से उतना साम्य नहीं रखती जितना अपनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिंगल भाषा से । उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूर कालीन काव्य चेतना से उतना प्रभावित नहीं है जितना अपभ्रंश और पिंगल काव्य रूपों और उनकी शैली से ।

नरहरि की जन्म तिथि का निर्णय करने के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । उनके वंशजों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ था । पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल संवत् १५६२ ही मानते हैं ।^१ नरहरि की रचनाओं के श्रंतर्साक्ष से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था । उन्होंने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बड़ा विशद और चित्रात्मक वर्णन किया है । इस प्रकार के विम्बपूर्ण वर्णन स्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना संभव नहीं है । डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते हैं कि नरहरि हुमायूँ के संपर्क में संवत् १५६० के आस-पास आये होंगे क्योंकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी संवत् १५६७ के वैशाख में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच-सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है । 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नहीं थे और उनका कई दरबारों के साथ संबन्ध था क्योंकि उनकी रचनाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियाँ मिलती हैं । बाबर के विषय में नरहरि का यह पद्य काफी महत्व का है ।'^२

नेक वरत दिल पाक सखा जवां मर्द शेर नर
अबल अर्ली सुदाय दिया तिरिपार भक्त जर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०३

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६ । इस छप्पय को और भी कई लोगों ने उद्धृत किया है । देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२८ विशाल भारत, मार्च, १९४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना-संमेलन पत्रिका, पौष संवत् १९१६ । हिन्दुस्तानी, भाग २७, पृ० सं० ५

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यंजन द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है, फिर भी एक दम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छप्पय छन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चारण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परंपरा का पालन ही दिखाई पड़ता है।

§ २२९ उद्भूत स्वरों की विवृत्ति भी सुरक्षित है। परवर्ती अपभ्रंश से उद्भूत स्वरों को सधि प्रक्रिया से संयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। ब्रजभाषा में उद्भूत स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रंश की पुरानी प्रवृत्ति यानी उद्भूत स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउ (वाहु १ > ब्रज करौ), गहइ (वाहु ११ > ब्रज० गहै), रष्यउ (वाहु ११ > ब्रज० राखौ), कहइ (वाहु १२ > ब्रज० कहै), लहइ (वाहु > ब्रज लहै), रुक्मिणी मंगल में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पड़ता। जैसे—

पठाएउ > पठायौ, बुलाएउ > बुलायौ, बनाएउ > बनायौ, कीन्हेउ > कीन्हौ, दीन्हेउ > दीन्हौ, रोवइ > रोवै, जोवइ > जोवै, साधेउ > साध्यौ, अवरधेउ > अवरध्यौ, कलइ > कल्पै, तलइ > तल्पै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तब्र रूपों की ध्वनि प्रक्रिया काफी महत्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रंश में कहिउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। ब्रज में इन्हीं के कह्यौ, सुन्यौ आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अप० साधिउ > नर० साधेउ > ब्रज साध्यौ, अ० अवरधिउ > नर० अवरधेउ > ब्रज अवरध्यौ।

§ २३०. कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्त्व मिलते हैं। जगदीस कह (वाहु १ > जगदीस कौ), अप्पु मह (वाहु २ > आपु मैं), मोहिं लगि (वाहु १०), तिन्ह के (वाहु १६ > तिनकै), इत्यह (वाहु १७, षष्ठी विभक्ति युक्त), जुगह (वाहु ३७२ सविभक्तिक षष्ठी), चित्तह गुनिय (वाहु ३७३ सवित्तिक सप्तमी)। इस प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग ब्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ते।

§ २३१ परसगों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थी लगि रूप आरम्भिक ब्रज में मिलता है (देखिये § ३१७) किन्तु परवर्ती ब्रज में धीरे धीरे लौ की प्रधानता हो गई है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। केहि काज लगि (वाहु ४) केसव भट्ट पह (वाहु ३७७) अनाथ नाथ कउ (वा० मासा ११३, ब्रज कौ) एकह (वारह मासा ११३ इस कौ) परसगों की दृष्टि से 'न्हे' का प्रयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४ शताब्दी के पूर्व किसी भी अवस्था में 'ने' का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिन्ता में ही 'न्हे' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिचन्द पुराण जैसे पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा ग्रंथ में भी 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में ने के प्रयोग कोई आश्चर्यजनक नहीं कहे जायेंगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी ये प्रयोग मिलते हैं। प्रयोग का महत्त्व

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यंजन द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है, फिर भी एक दम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छप्पय छन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चारण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परंपरा का पालन ही दिखाई पड़ता है।

§ २२९ उद्धृत स्वरों की विवृति भी सुरक्षित है। परवर्ती अपभ्रंश से उद्धृत स्वरों को सधि प्रक्रिया से संयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। ब्रजभाषा में उद्धृत स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रंश की पुरानी प्रवृत्ति यानी उद्धृत स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउ (वाहु १ > ब्रज करौ), गहइ (वाहु ११ > ब्रज० गहै), रण्यउ (वाहु ११ > ब्रज० राखौ), कहइ (वाहु १२ > ब्रज० कहै), लहइ (वाहु > ब्रज लहै), रुक्मिणी मंगल में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पड़ता। जैसे—

पठाएउ > पठायौ, बुलाएउ > बुलायौ, बनाएउ > बनायौ, कीन्हेउ > कीन्हौ, दीन्हेउ > दीन्हौ, रोवइ > रोवै, जोवइ > जोवै, साधेउ > साध्यौ, अवराधेउ > अवराध्यौ, कलइ > कल्पै, तलइ > तल्पै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तव्य रूपों की ध्वनि प्रक्रिया काफी महत्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रंश में कहिउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। ब्रज में इन्हीं के कह्यौ, सुन्यौ आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अप० साधिउ > नर० साधेउ > ब्रज साध्यौ, अप० अवराधिउ > नर० अवराधेउ > ब्रज अवराध्यौ।

§ २३०. कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्व मिलते हैं। जगदीस कह (वाहु १ > जगदीस कौ), अप्पु मह (वाहु २ > आपु मैं), मोहिं लगि (वाहु १०), तिन्ह के (वाहु १६ > तिनकै), इत्थइ (वाहु १७, पद्यी विभक्ति युक्त), जुगइ (वाहु ३१७२ सविभक्तिक पद्यी), चित्तइ गुनिय (वाहु ३१७३ सवित्तिक सप्तमी)। इस प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग ब्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ते।

§ २३१ परसर्गों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थी लगि रूप आरम्भिक ब्रज में मिलता है (देखिये § ३१७) किन्तु परवर्ती ब्रज में धीरे धीरे लौ की प्रधानता हो गई है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। केहि काज लगि (वाहु ४) केसव भट्ट पह (वाहु ३१७७) अनाथ नाथ कउ (वा० मासा ११३, ब्रज कौ) एकइ (वारइ मासा ११३ इस कौ) परसर्गों की दृष्टि से 'न्हे' का प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४ शताब्दी के पूर्व किसी भी अवहट्ठ ग्रंथ में 'ने' का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिस्त में ही 'न्हे' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिचन्द पुराण जैसे पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा ग्रंथ में भी 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में 'ने' के प्रयोग कोई आश्चर्यजनक नहीं कहे जायेंगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी ये प्रयोग मिलते हैं। प्रयोग का महत्व

कुम्भ को संवद मान लिया। यड के इस निष्कर्ष ने कात्ती भ्रान्ति पैदाई और बहुत से विद्वानों ने कई प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर मीरा को उक्त काल से संवद बताया। गुजराती विद्वान् श्री गोवर्धन राय माधोराय त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'कौन्सिकल पोस्टल्स आव गुजरात' में मीरा का समय १५वीं शताब्दी निर्धारित किया।^१ उसी प्रकार श्री कृष्णलाल मोहन लाल भावेरी ने भी मीरा का जन्म १४०३ ईस्वी के आस-पास तथा उनकी मृत्यु का समय, ६७ वर्ष की उम्र में, १४७० ईस्वी में बताया है।^२ श्री हर्षिनाथ सारदा ने अपनी पुस्तक 'महाराजा सांगा' में मीरा को राव दूदा (सन् १४६१-६२) के चौथे पुत्र रतन सिंह की पुत्री बताया है।^३ विन्डियम कुक ने एनल्स आव राजस्थान में जेम्स यड के मीरा-विषयक मत के साथ सारदा का मत भी टिप्पणी में दिया है। इस प्रकार एक पक्ष के लोग मीरा को १५वीं शताब्दी का मानते हैं। दूसरी ओर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओन्ग और श्री देवीप्रसाद जैते इतिहासकार बिल्कुल भिन्न धारणा रखते हैं। डा० ओन्ग ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजपूताने के इतिहास में लिखा कि 'लोगों ने यह प्रसिद्धि हो गई है कि बड़ा मन्दिर महाराजा कुम्भ ने और छोटा उसकी रानी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल यड ने मीराबाई को महाराजा कुम्भा की रानी मिला दिया। जो मानने योग्य नहीं है। मीराबाई महाराजा सम्रान सिंह के ज्येष्ठ पुत्र मोवराज की स्त्री थी।^४ जो मन्दिर मीराबाई का बनवाया हुआ कहा जाता है वह वास्तव में राणा कुम्भ के द्वारा ही सन् १५०७ में बनवाया गया था। कुम्भ स्वामी और आदि बाबाद दोनों ही मन्दिरों की प्रशस्तियों इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।^५ मुशी देवीप्रसाद ने 'मीराबाई जीवनचरित्र' में एक दूसरे पक्ष से यड वाली मान्यता का प्रतिवाद किया। उन्होंने लिखा कि 'यह बिल्कुल गलत है क्योंकि राणा कुम्भा तो मीराबाई के पति कुँवर मोवराज के परदादा थे। और मीराबाई के पैदा होने के २५ या ३० वर्ष पहले मर चुके थे। मालूम नहीं कि यह भूल राजपूताने के ऐसे बड़े तथारत्न निम्नने वाले से क्योंकर हो गई। राणा कुम्भा जी का इतकाल सन् १५२५ में हुआ था उस वक्त तक मीराबाई के दादा दूदा जी को मेड़ता भिन्न ही नहीं था। इसलिये मीराबाई राणा कुम्भ की रानी नहीं हो सकती। मुशी देवीप्रसाद ने मीराबाई का जन्म काल सन् १५५५ के लगभग माना है।^६ ओन्ग के अनुसार मीरा का विवाह १८ वर्ष की उम्र में राणा सम्रान सिंह के ज्येष्ठ पुत्र मोवराज के साथ हुआ। विवाह के बाद सन् १५८० में मोवराज का देहान्त हो गया। मुशी देवीप्रसाद ने मीरा का मृत्युकाल सन् १६०३ माना है।

ऊपर के सविन विवरण से मीरा के जीवन-तथा रचना काल के विषय में इतना पता चलता है कि वे १६०० के पहले वर्तमान थीं और उन्होंने १५८० सन् के आस-पास मल्लि सन्धी कविताओं की रचना शुरू की थी। इस प्रकार यद्यपि मीरा मूल की पूर्ववर्ती नहीं थीं,

१. जी० एम० त्रिपाठी, कौन्सिकल पोस्टल्स आव गुजरात, पृ० १०

२. के० एम० भावेरी, माइलस्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, पृ० ३०

३. महाराजा सांगा, अजमेर, १९१८, पृ० १५-१६

४. राजपूताने का इतिहास, दूसरा खंड पृ० ६००

५. वही, पृ० ६२२

६. मीराबाई का जीवन चरित्र, पृ० ३१-३२

उसमें खड़ी बोली या पंजाबी का भी कम प्रभाव नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनों प्रकार की शैलियों—ब्रज और खड़ी—में लिखी संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ा था ।

§ २३७. मीराँ की कही जानेवाली निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है ।

- (१) नरसी जी रो माहेरो ।
- (२) गीत गोविन्द की टीका ।
- (३) सोरठ के पद ।
- (४) मीरा बाई का मलार ।
- (५) राग गोविन्द ।
- (६) गर्वा गीत ।
- (७) कुटकल पद ।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता काफी सदिग्ध है । 'नरसी जी रो माहेरो' एक प्रकार का मंगल काव्य है जिसमें प्रसिद्ध भक्त नरसी के माहेरा (लड़की या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में माई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है । नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यह माहेरा भेजा था । इस ग्रंथ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती । गुजराती विद्वानों ने इस ग्रन्थ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा बिल्कुल ही गुजराती नहीं बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है । इस पुस्तक का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है :

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस सुभ गा सुनाऊँ ।

पच्छिम दिसा प्रसिद्ध धाय सुख श्री रणछोड़ निवासी ।

नरसी को माहेरो मंगल गावे मीराँ दासी ॥१॥

छत्रो वंस जनम भय जानो नगर मेड़ते वासी ।

नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि द्वनिहासी ॥२॥

सखा आपने संग जु लोन्हें हरि मन्दिर पे भाये ।

भक्ति कथा आरंभी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥३॥

को मढ़ल को देस बखानूँ संतन के जस वारो ।

को नरसी को भयो कौन विध कहो महिराज कुँवारो ॥४॥

भये प्रसन्न मीराँ तब भाख्यो सुनि सखि मिथिला नामां ।

नरसी की विध गाय सुनाऊँ सामे सब ही कामां ॥

बीच में एक जैजैवन्ती राग का पद इस प्रकार है ।

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी थल में पिउ आये ।

मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूँ जाग परी बिण हूँ न पाये ॥

और सखी पिय सोय गमाए मैं जु सखी पिउ जागि गमाए ॥१॥

आज की बात कहाँ कहूँ सजनी सपना में हरि लेत घुलाये ।

वस्तु एक जब प्रेम की चकरी आज भये सखि मन के भाये ॥२॥

उसमें खड़ी बोली या पंजाबी का भी कम प्रभाव नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनों प्रकार की शैलियों—ब्रज और खड़ी—में लिपी संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ा था ।

§ २३७. मीराँ की कही जानेवाली निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है ।

- (१) नरसी जी रो माहेरो ।
- (२) गीत गोविन्द की टीका ।
- (३) सोरठ के पद ।
- (४) मीरा बाई का मलार ।
- (५) राग गोविन्द ।
- (६) गर्वा गीत ।
- (७) कुटकल पद ।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता काफी सदिग्ध है । 'नरसी जी रो माहेरो' एक प्रकार का मंगल काव्य है जिसमें प्रसिद्ध भक्त नरसी के माहेरा (लड़की या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में भाई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है । नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यह माहेरा भेजा था । इस ग्रंथ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती । गुजराती विद्वानों ने इस ग्रन्थ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा बिल्कुल ही गुजराती नहीं बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है । इस पुस्तक का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है :

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस सुभ गा सुनाऊँ ।

पच्छिम दिसा प्रसिद्ध धाय सुख श्री रणछोड़ निवासी ।

नरसी को माहेरो मंगल गावे मीराँ दासी ॥१॥

छत्री वंस जनम भय जानो नगर मेड़ते वासी ।

नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि द्वितीहासी ॥२॥

सखा आपने संग जु लान्हें हरि मन्दिर ये भाये ।

भक्ति कथा आरंभी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥३॥

को मढल को देस बखानूँ संतन के जस चारी ।

को नरसी को भयो कौन विध कहो महिराज कुंवारी ॥४॥

भये प्रसङ्ग मीराँ तब भाएयो सुनि सखि मिथिला नामाँ ।

नरसी की विध गाय सुनाऊँ सामे सब ही कामाँ ॥

बीच में एक जैजैवन्ती राग का पद इस प्रकार है ।

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी थल में पिड भाये ।

मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूं जाग परी बिण हूँ न पाये ॥

और सखी पिय सोय गमाए मैं जु सखी पिड जागि गमाए ॥१॥

आज की बात कहौं कहूँ सजनी सपना में हरि लेत घुलाये ।

वस्तु एक जब प्रेम की चकरी आज भये सखि मन के भाये ॥२॥

यहाँ भी पड़ने लगा था। राजपूत राजाओं के शासन काल में संगीत की चरम उन्नति हुई। कैप्टन डे का विश्वास है कि मुसलमानों के आक्रमण के पहले, देशी नरेशों का शासन-काल संगीत के विकास का सुनहरा युग था। वे तो मुसलमानों के आक्रमण को संगीत के हाथ का कारण भी मानते हैं।^१ यह सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की ध्वस्त-नीति के कारण संगीत और कला को बड़ा आघात पहुँचा किन्तु सभी मुसलमान विनाशकारी स्वभाव के ही नहीं थे। मुसलमानों के मोतबर भी बहुत से कलाप्रिय व्यक्ति थे जिनकी उदारता और साधना ने एक नई मिश्रित कला-शैली को जन्म दिया जिसका परिणाम स्थापत्य में ताजमहल, साहित्य में सूरी प्रेमदासजनक तथा संगीत में हिन्दुस्तानी पद्धति का सूजन था। श्री मातबण्डे ने हिन्दुस्तानी संगीत की विशिष्टताओं की ओर सूचित करते हुए लिखा है कि कम से कम मैं व्यक्तिगत रूप से यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि विदेशी संस्कार हमारे लिए अभिमानपूर्ण सिद्ध हुआ है। क्या हमारे दक्षिण के बन्धु अपने अनुभवों के आधार पर यह नहीं कहते कि अरबी शास्त्रीय कमजोरियों के बावजूद हिन्दुस्तानी संगीत इतना मधुर और आह्लादकारी है कि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पेशेवर संगीतकारों को इसे सीखने और अनुकरण करने की सलाह देते हैं।^२

राजपूत नरेशों के दरबार में संगीत का बहुत समान था तथा इनमें से कई नरेशों ने भारतीय संगीत के विकास में सक्रिय योग दिया था। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिए § २२) वहीं पर हमने यह भी निवेदन कर दिया है कि ब्रजभाषा के पिगल-नामकरण के पीछे एक कारण यह संगीत भी था जिसके रागों के बोल प्रायः ब्रजभाषा में ही रचित हुए थे।

सुसरो

§ २३२ भारतीय और ईरानी संगीत में समन्वय स्थापित करके उन्हे एक नई पद्धति का रूप देने में अमीर सुसरो का बहुत बड़ा हाथ है। अमीर सुसरो दोनों संगीत पद्धतियों के सर्वोत्तम विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने दोनों के मिश्रण से कुछ ऐसे नये रागों का निर्माण किया जो हिन्दुस्तानी संगीत की अनूद्य निधि हैं। मझौर, साजगरी, इमन, उश्शाक, मुजाफिक, गनम, जिल्ल, फरगना, सरपदा, बरहरार, निरदेस्त, मननू जैसे रागों को उन्होंने सृष्टि की। यही नहीं वाद्य-यंत्रों के परिष्कार तथा नये रागों के उन्मुख वाद्य-यंत्रों के निर्माण में भी सुसरो ने विशिष्ट प्रविभा का परिचय दिया।

सुसरो का जन्म एरा बिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। नाम यतुर्दान सुहम्मद इस्तन था। सात वर्ष की उम्र में पिता का देहान्त हुआ। पालन-पोषण उनकी माँ और इनके नाना एमादुल्लुल्कने किया। बचपन में इन्हें अपने पुत्र सुहम्मद सुल्तान के मनोरंजनार्थ नौकर रखा। बाद में वे सुहम्मद सुल्तान के राज कवि हुए और सन् १२८४

1 The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes, a little before the Mohamedan conquest, with the advent of the Mohamedans it declined. Indeed it is wonderful that it survived at all.

Capt. Day; Music of Southern India PP 3

२. डॉ० एन० मातबण्डे, ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे आफ दि म्यूजिक आफ अपर इन्डिया, पृ० २०-२१

• यहाँ भी पड़ने लगा था। राजपूत राजाओं के शासन काल में संगीत की चरम उन्नति हुई। कैप्टन डे का विश्वास है कि मुसलमानों के आक्रमण के पहले, देशी नरेशों का शासन-काल संगीत के विकास का सुनहरा युग था। वे तो मुसलमानों के आक्रमण को संगीत के हास का कारण भी मानते हैं^१ यह सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की ध्वस्त-नीति के कारण संगीत और कला को बड़ा आघात पहुँचा किन्तु सभी मुसलमान विनाशकारी स्वभाव के ही नहीं थे। मुसलमानों के मीतर भी बहुत से कलाप्रिय व्यक्ति थे जिनकी उदारता और साधना ने एक नई मिश्रित कच्चा-शैली को जन्म दिया जिसका परिणाम रघुनन्दन में ताजमहल, साहित्य में सूरी प्रेमाख्यानक तथा संगीत में हिन्दुस्तानी पद्धति का सूजन था। श्री मातखण्डे ने हिन्दुस्तानी संगीत की विशिष्टताओं की ओर सूचित करते हुए लिखा है कि कन से कन में व्यक्ति गत रूप से यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि विदेशी संस्कार हमारे लिए अभिमानपूर्ण सिद्ध हुआ है। क्या हमारे दक्षिण के बन्धु अपने अनुभवों के आधार पर यह नहीं कहते कि अपनी शास्त्रीय कमबोरियों के बावजूद हिन्दुस्तानी संगीत इतना मधुर और आह्लादकारी है कि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पेशेवर संगीतकारों को इसे सीखने और अनुकरण करने की सलाह देते हैं।^२

राजपूत नरेशों के दरबार में संगीत का बहुत समान था तथा इनमें से कई नरेशों ने भारतीय संगीत के विकास में सक्रिय योग दिया था। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिए § २२) वहीं पर हमने यह भी निवेदन कर दिया है कि ब्रजभाषा के पिण्ड-नामकरण के पीछे एक कारण यह संगीत भी था जिसके रागों के बोध प्रायः ब्रजभाषा में ही रचित हुए थे।

सुसरो

§ २३९. भारतीय और ईरानी संगीत में समन्वय स्थापित करके उसे एक नई पद्धति का रूप देने में अमीर सुसरो का बहुत बड़ा हाथ है। अमीर सुसरो दोनों संगीत पद्धतियों के मर्मज्ञ विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने दोनों के मिश्रण से कुछ ऐसे नये रागों का निर्माण किया जो हिन्दुस्तानी संगीत की अनूख निधि हैं। मज्जीर, साजगरी, इमन, उश्शाक, सुनाफिक, गनन, जिल्ल, परगना, सरपदा, बरहरार, निरदोस्त, मननू जैसे रागों को उन्होंने सृष्टि की। यही नहीं वाद्य-यंत्रों के परिष्कार तथा नये रागों के उरसुक्त वाद्य-यंत्रों के निर्माण में भी सुसरो ने विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया।

सुसरो का जन्म एय बिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। नाम यजुर्दान मुहम्मद इस्तन था। सात वर्ष की उम्र में पिता का देहान्त हुआ। पालन-पोषण उनकी माँ और इनके नाना एमादुल्लुल्क ने किया। बचपन में इन्हें अपने पुत्र मुहम्मद सुल्तान के मनोरंजनार्थ नौकर रखा। बाद में वे मुहम्मद सुल्तान के राज कवि हुए और सन् १२८४

1 The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes, a little before the Mohamedan conquest, with the advent of the Mohamedans it declined. Indeed it is wonderful that it survived at all

Cap. Day, Music of Southern, India PP 3

२. श्री० एन० मातखण्डे, ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे आफ दि म्यूजिक आफ अपर इन्डिया, पृ० २०-२१

क्रिया और कारक चिह्नादि खड़ी बोली के हैं।^१ डा० यमा का कथन मिलकुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दों से नहीं व्याकरणिक तत्त्वों यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए।

§ २४०. नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं -

१—मेरा मोसे सिंगार करावत आगे बैठ के मान बढावत

बासे चिह्नन ना कोउ दीसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा

—हि० अलोचना० इति० पृ० १३१

२—खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के रग ।

तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रग ॥

गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारै केस ।

चल खुसरो घर आने रैन भइ चहुँ देस ॥

३—मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल ।

कैसे गर दाना बकस मोरी लाल ॥

सूनी सेज डरावन लागै, विरहा अगिनि मोहि दस दस जाय ।

४—हजरत निजामदीन चिस्ती जरजरी दख पाँर ।

जोइ जोइ ध्यावै तेइ तेइ फल पावै

मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५—री मैं घाउँ पाउँ हजरत रव्वाजदीन

शकरगज सुलतान मशायख महबूद इलाही

निजामदीन औलिया के अमीर खुसरो बल बल जाही

ये पांच पद्यांश, जो खुसरो की रचनाओं में प्रायः प्रामाणिक माने जाते हैं। भाषा सत्रयो विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खड़ी बोली और ब्रज का निर्णय करने के लिए अपर्याप्त नहीं कहे जा सकते। अन्य रचनाओं के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबन्ध देखा जा सकता है।^२

सर्वनाम के साभित विकारी रूप मो, ना, तथा मोरो, मोरी (पट्टी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (बा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप माहि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक काउ (खड़ी बोली का कोई नहीं) नित्य सयधी जाइ जोइ तथा दूरवर्ती सक्तवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढावत आदि प्रेरणार्थक कृदन्तज रूप ओ वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खड़ी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिंग) दीनी, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सोवै, डारै, लागै, ध्यावै आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (जा केवल ब्रज में चलते हैं, खड़ी बोली में नहीं) क्रियार्थक सहा डरावन (रा प्रत्यय निर्मित खड़ी बोली का डरावना नहीं) दोउ, चहुँ जैसे सख्यावाचक विशेषण, (दनों, चारों नहीं) आदि तत्त्व इस भाषा को ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण पृ० १२७

२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सवत् १९७८, पृ० २६१।

क्रिया और कारक चिह्नादि खड़ी बोली के हैं।^१ डा० वर्मा का कथन विल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दों से नहीं व्याकरणिक तत्त्वों यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए।

§ २४०. नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं -

१—मेरा मोसे सिंगार करावत भागे बैठ के मान बढावत
वासे चिह्नन ना कोउ दोसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा
—हि० अलोचना० इति० पृ० १३१

२—खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के सग ।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रग ॥
गोरी सौवै सेज पर मुख पर डारै केस ।
चल खुसरो घर भावने रैन मइ चहुँ देस ॥

३—मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल ।
कैसे गर दाना दकस मोरी लाल ॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा भगिनि मोहि दस दस जाय ।

४—हजरत निजामदीन चिस्ती जरजरी दलरा पीर ।
जोइ जोइ ध्यावै तेइ तेइ फल पावै
मेरे मन की मुराद मर दीजै अमोर

५—री मैं घाउँ पाउँ हजरत रत्नाजदीन
शकरगज सुल्तान मशायख महबूब इलाही
निजामदीन औलिया के अमोर खुसरो बल बल जाहीं

ये पाच पद्यांश, जो खुसरो की रचनाओं में प्रायः प्रामाणिक माने जाते हैं। भाषा सवधी विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खड़ी बोली और ब्रज का निर्णय करने के लिए अपर्याप्त नहीं कहे जा सकते। अन्य रचनाओं के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध देखा जा सकता है।^२

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोरो, मोरी (पट्टी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (वा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप महि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक काउ (खड़ी बोली का कोई नहीं) नित्य सवधी जाइ जोइ तथा दूरवर्ती सकृत्वाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढावत आदि प्रेरणार्थक कृदन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खड़ी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिंग) दोनी, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सौवै, डारै, लागै, ध्यावै आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (जा केवल ब्रज में चलते हैं, खड़ी बोली में नहीं) नियार्थक सहा डरावन (ए प्रत्यय निर्मित खड़ी बोली का डरावना नहीं) दोउ, चहुँ जैसे सख्यावाचक विशेषण, (दनों, चारों नहीं) आदि तत्त्व इस भाषा को ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण
पृ० १२७

२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सवत् १६७८, पृ० २६६ ।

दिल्लोपति नरेन्द्र अकबर साह जाकों दर दरे धरती पुहुप माल हलायो
दल साजि चतुरंग सेना अपाध जहाँ गुन ख्यौ चतु विद्याधर आप
आय राग भेद गायो ।

ऐसी रचनायें गोपाल नायक की नहीं गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अकबर के दरबारी गायक थे । हायकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नहीं है कि किसे गोपाल नायक की रचना कहे और किसे गोपाललाल की ।

§ २४२. गोपाल नायक के गीत, जो राग-कल्पद्रुममें मिलते हैं, सभी ब्रजभाषा में हैं । रचना काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अत्यन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है । कहीं-कहीं प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा का स्मरण मिलते हैं । नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं ।

१—अत गत मत्र गम् नम गम् मग मम गम मग ममग अत गत मत्र गाइया
लै लोक भू में कमल रे हरि कौ लरै सन्तो लरै मकरन्द आइया

उदध चन्द्र धरौ मन में अत गत मत्र गाइया
तड तक भुयण जुग लरे हत काल विरल अपार रे अधार दे धरु गायत
नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये ऊइयां, रे अत गत मत्र गाइया

२—कदावै गुनी ज्यों साथै नाद सबद जाल कर थोक गावै ।
मार्ग देसो कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साथ चावै ॥
सो पचन मध दर पावै,
उक्ति जुक्ति भक्ति युक्ति गुप्त होवै ध्यान लगावै ।
तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगत मध पावै ॥

३—जय सरस्वती गणेश महादेव शक्ति सूर्य सब देव ।
देहो मोय विद्या कर कठ पाठ ॥
भैरव मालकोस हिडाल दीपक श्रामेघ मूर्तिवत ।
हृदय रहे ठाठ ॥
सप्त स्वर तीन ग्राम भकईस मूर्छना चाहस सुतै,
उनचास कोट ताल लग डाट ।
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे सो घाट ॥

बैजू बावरा

§ २४३ बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक की ही भाँति जन श्रुतियों एवं निजधरी कथाओं से आवृत है । गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुरु बताया जाता है । कहा जाता है कि बैजू बावरा से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक की रसाति ज्यों ज्यों बढ़ने लगी उनमें अहभावना भी बढ़ने लगी और एक दिन किसी बात पर अपने गुरु से रुष्ट होकर वे चले गए । बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर उधर हँदते रहे । अलाउद्दीन के दरबार में दोनों की भेंट हुई । अलाउद्दीन

दिल्लीपति नरेन्द्र अकबर साह जाकों ढर ढरे धरती पुहुप माल हलायो
दल साजि चतुरंग सेना अगाध जहाँ गुन ठयो चतु विद्याधर आप
आय राग भेद गायो ।

ऐसी रचनायें गोपाल नायक की नहीं गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अकबर के दरबारी गायक थे । हाँकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नहीं है कि किसे गोपाल नायक की रचना कहें और किसे गोपाललाल की ।

§ २४२. गोपाल नायक के गीत, जो राग-कल्पद्रुममें मिलते हैं, सभी ब्रजभाषा में हैं । रचना काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अत्यन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है । कहीं-कहीं प्रयोग प्राकृत पैगलम् की भाषा का स्मरण मिलते हैं । नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं ।

१—अत गत मत्र गम् नम गम् मग मम गम मग ममग अत गत मत्र गाइया
लै लोक भू में कमल रे हरि कौ लरै सन्तो लरै मकरन्द आइया

उदध चन्द्र धरौ मन में अत गत मत्र गाइया
तब तक भुयण जुग लरे हत काल विरत अपार रे अथार दे धरु गावत
नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये ऊइयां, रे अत गत मत्र गाइया

२—कहावै गुनी ज्यों साथै नाद सबद जाल कर थोक गावै ।
मार्ग देसी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साथ चावै ॥
सो पचन मध दर पावै,
उक्ति लुक्ति भक्ति युक्ति गुप्त होवै ध्यान लगावै ।
तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगत मध पावै ॥

३—जय सरस्वती गनेश महादेव शक्ति सूर्य सब देव ।
देहो मोय विद्या कर कठ पाठ ॥
भैरव मालकोस हिडाल दीपक श्रामेघ मूर्तिवत ।
हृदय रहे ठाठ ॥
सस स्वर तीन ग्राम अकईस मूर्छना बाइस सुतं,
उनचास कोट ताल लाग डाट ।
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे सो घाट ॥

बैजू बावरा

§ २४३ बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक की ही भाँति जन श्रुतियों एवं निजधरी कथाओं से आवृत है । गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुरु बताया जाता है । कहा जाता है कि बैजू बावरा से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक की रस्यति ज्यों ज्यों बढ़ने लगी उनमें अहभावना भी बढ़ने लगी और एक दिन किसी बात पर अपने गुरु से रूठ होकर वे चले गए । बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर उधर हँदते रहे । अलाउद्दीन के दरबार में दोनों की मँद हुई । अलाउद्दीन

कही गई हैं इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता । नायक बख्शू, वैजू और कर्ण फकीरल्ला के अनुसार मानसिंह के दरबार के प्रसिद्ध गायक थे । आईने अकबरी में लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा संग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोगों की रुचि के अनुसार पद संगृहीत थे ।^१ हालांकि इन तीन गायकों के नामादि का पता नहीं चलता, किन्तु यह संकेत मिलता है कि ये गायक संगीत के आचार्य ही नहीं कवि और काव्य प्रेमी भी थे । मानसुतूहल से भी मालूम होता है कि संगीतकार को पद रचयिता होना चाहिए ।^२

§ २४४. वैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं । इस प्रकार के पदों को श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ' में एकत्र संकलित कर दिया है । नीचे हम वैजू बावरा के तीन पद उद्धृत करते हैं ।

१—आगन भीर भई ब्रजपति के आज नद महोत्सव भानन्द भयो

हरद दूब दधि अक्षत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मगल चार नयो

ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरपित विमानन पुष्प धरस रग ठयो

धन धन वैजू सतन हित प्रकट नद जसोदा ये सुख जो दयो

२—कहाँ कहीं उन विन मन जरो जात है अगन बरतें कर मन कियो है बिगार

बह मूरत सूरत बिनु देखे भावै न मोहैं घर द्वार

इत उत देखत कटु न सोहावत विरथा लगत ससार

वैर करत है दुरजन सब वैजू न पावै मन पिय के

भचरज भयो हैं व्यौहार ।

३—बोलियो न ढोलियो ले आउँ हूँ प्यारी को

सुन हो सुघर वर भवहीपै जाउँ हूँ

मानिना मनाय के तिहारे पास लियाय के

मधुर मुलाय के तो चरण गहाउँ हूँ

सुन री सुन्दर नार काहे करत पुती रार

मदन छात पार चलत पततुभाउँ हूँ

मेरी सीख मान कर मान न करो तुम

वैजू प्रभु प्यारे सो बहियाँ गहाउँ हूँ

वैजू बावरा की रचनाएँ केवल अपने संगीततत्त्व के लिए ही नहीं बल्कि काव्यत्व के लिए भी प्रशंसनीय हैं ।

हकायके हिन्दी में प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५. ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ सवत् में मीर अब्दुल वाहिद विलग्रामी ने पारसी भाषा में हकायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

१. ग्लेडविन . आईने अकबरी, पृ० ७३०

२. मानसिंह और मानसुतूहल, पृ० १२२

कही गई हैं इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। नायक बख्शू, बैजू और कर्ण पकीरल्ला के अनुसार मानसिंह के दरबार के प्रसिद्ध गायक थे। आईने अफ़वरी में लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा संग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोगों की रुचि के अनुसार पद संगृहीत थे।^१ हालांकि इन तीन गायकों के नामादि का पता नहीं चलता, किन्तु यह संकेत मिलता है कि ये गायक संगीत के आचार्य ही नहीं कवि और काव्य प्रेमी भी थे। मानकुनूहल से भी मालूम होता है कि संगीतकार को पद रचयिता होना चाहिए।^२

§ २४४. बैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं। इस प्रकार के पदों को श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ' में एकत्र संकलित कर दिया है। नीचे हम बैजू बावरा के तीन पद उद्धृत करते हैं।

१—आगन भौर भई ब्रजपति के आज नद महोत्सव आनन्द भयो

हरद दूब दधि अक्षत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मगल चार नयो
ब्रह्मा ईस नारद मुर नर मुनि हरपित विमानन पुष्प बरस रग उयो
धन धन बैजू सतन हित प्रकट नद जसोदा ये सुख जो दयो

२—कहाँ कहीं उन विन मन जरो जात है अगन बरतें कर मन कियो है विगार

वह मूरत सूरत बिनु देखे भावै न मोहैं घर द्वार
हत उत देखत कटू न सोहावत विरथा लगत ससार
वैर करत है दुरजन सब बैजू न पावै मन पिय के
अचरज भयो हैं व्यौहार।

३—बोलियो न डोलियो ले आउँ हूँ प्यारी को

सुन हो सुघर वर अवहीपै जाउँ हूँ
मानिना मनाय के तिहारे पास लियाय के
मधुर बुलाय के तो चरण गहाउँ हूँ
सुन री सुन्दर नार काहे करत पुता रार
मदन डारत पार चलत पतलुभाउँ हूँ
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम
बैजू प्रभु प्यारे सो बहियाँ गहाउँ हूँ

बैजू बावरा की रचनाएँ केवल अपने संगीततत्त्व के लिए ही नहीं बल्कि काव्यत्व के लिए भी प्रशंसनीय हैं।

हकायके हिन्दी में प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५. ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ सवत् में मीर अब्दुल वाहिद विलग्रामी ने पारसी भाषा में हकायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

१. ग्रेडविन . आईने अफ़वरी, पृ० ७३०

२. मानसिंह और मानकुनूहल, पृ० १२२

- (१६) तुम्ह कारन मै सेज सैवारी
तन मन जोवन जित बलिहारी (पृष्ठ ६४)
- (१७) नन्द-नन्द पात जो आविलो सरहर पेड खजूर
तिन्ह चढ देखौ बालमा नियरै बसै कि दूर (पृष्ठ ६५)
- (१८) उठ सुहागिनि मुख न जोहु छैल खडो गलवाहिं
थाल भरी गजमोतिन गोद भरी कलियाहि (पृष्ठ ६५)

इन पद्यांशों को देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध पदों से या स्फुट रचनाओं से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहों के दरबारा में हिन्दू और मुस्लिम सभी गायक प्रायः ब्रजभाषा के बोल ही कहते थे, इन गानों में राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगों का वर्णन रहता था। ऊपर की पक्तियाँ ऐसे गीतों की ओर ही संकेत करती हैं।

‘हकायके हिन्दी’ कई दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाएँ संकलित हैं जो सूरदास से पहले की ब्रजभाषा का परिचय देती हैं। सूरदास के पहले के संगीतकार कवियों ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओं को देखने से चलता है। हकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफी साधकों की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के बाहरी विभेद और वैषम्य के मोतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफी कवि केवल अपनी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नहीं कर रहे थे बल्कि ब्रजभाषा के विकसित और प्रेम कथा मूलक काव्य को समझने समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफियों पर भी अपना अभिष्ट प्रभाव डाल दिया था। एक बार किसी ने १४ मई १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसूदराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा : ‘क्या कारण है कि सूफियों को हिन्दवी में जितना आनन्द आता है उतना गजल में नहीं आता।’ गेसूदराज ने कहा: हिन्दवी बड़ी ही कोमल और खिन्न होती है। इसका संगीत बड़ा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की करुणा, नम्रता तथा वेदना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण होता है।’ जाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब ब्रजभाषा के पदों से है।

हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि

§ २४६. मध्यदेश की बोलियों से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य भाषा मानी जाती रहीं हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम ‘ब्रजभाषा का रिकथ’ शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। दसवीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिकथ को संपूर्णतया संपादित करने वाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक प्रेमियों के द्वारा परस्पर आदान प्रदान के सहज माध्यम के रूप में गृहीत हुई। अष्टछापी कवियों की कविता का

१. जमावे-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के वचन, इन्तजामी प्रेस उस्मानगंज—
हकायके हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत

- (१६) तुम कारन मै सेज सँवारी
तन मन जोवन जिउ बलिहारी (पृष्ठ ६४)
- (१७) नन्द-नन्द पात जो आँवलो सरहर पेड खजूर
तिन्ह चढ देखौ बालमा नियरै बसैं कि दूर (पृष्ठ ६५)
- (१८) उठ सुहागिनि मुख न जोहु छैल खडो गलवाहिं
धाळ भरी गजमोतिन गोद भरी कलिपाहि (पृष्ठ ६५)

इन पद्यांशों को देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध पदों से या स्फुट रचनाओं से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहों के दरबारा में हिन्दू और मुस्लिम सभी गायक प्रायः ब्रजभाषा के बोल ही कहते थे, इन गानों में राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगों का वर्णन रहता था। ऊपर की पक्तियाँ ऐसे गीतों की ओर ही संकेत करती हैं।

‘इकायके हिन्दी’ कई दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाएँ संकलित हैं जो सूरदास से पहले की ब्रजभाषा का परिचय देती हैं। सूरदास के पहले के संगीतकार कवियों ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओं को देखने से चलता है। इकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफी साधकों की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के बाहरी विभेद और वैषम्य के भीतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफी कवि केवल अपनी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नहीं कर रहे थे बल्कि ब्रजभाषा के विकसित और प्रेम कथा मूलक काव्य को समझने समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफियों पर भी अपना अभिष्ट प्रभाव डाल दिया था। एक बार किसी ने १४ मई १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसूदराज सैयद मुहम्मद हुसैनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा : ‘क्या कारण है कि सूफियों को हिन्दवी में जितना आनन्द आता है उतना गजल में नहीं आता।’ गेसूदराज ने कहा : ‘हिन्दवी बड़ी ही कोमल और खिन्न होती है। इसका संगीत बड़ा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की करुणा, नम्रता तथा वेदना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण होता है।’ जाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब ब्रजभाषा के पदों से है।

हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि

ई २५६. मध्यदेश की बोलियों से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य भाषा मानी जाती रही हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम ‘ब्रजभाषा का रिकथ’ शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। दसवीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिकथ को संपूर्णतया संपादित करने वाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक प्रेमियों के द्वारा परस्पर आदान प्रदान के सहज माध्यम के रूप में गृहीत हुई। अष्टछापी कवियों की कविता का

१. जमावे-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के वचन, इन्तजामी प्रेस उस्मानगज—
इकायके हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत

शंकरदेव ने ब्रजभाषा में वरगीतों की रचना की। अपनी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गए थे। ब्रजभाषा कान्न की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की वनमन्त्रि से ही प्राप्त हुई। ब्रजभाषा में रचित ये वरगीत सन् १४८१-६३ के बीच लिखे गए जैसा डा० एम० नेयोग ने प्रमाणित किया है।^१ डा० नेयोग का अनुमान है कि ब्रजभाषा में लिखा पढ़ा वरगीत वदिकाभ्रम में लिखा गया। डा० नेयोग ने शंकरदेव के वरगीतों को ब्रजबुद्धि का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डा० वरुआ ने लिखा है कि वृन्दावन में शंकरदेव ने ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होंने इस भाषा को सोला और इसी को मिश्रित भाषा में वरगीतों की रचना की।^२

§ २४८. शंकरदेव के वरगीतों की भाषा मिश्रित अवश्य है क्योंकि उसमें कहीं कहीं अवधिया के प्रयोग भी आते हैं, किन्तु ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षा दिखाई पड़ती है। नीचे हम शंकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद बंदी हरिनाथयन दत्त वरुआ द्वारा संग्रहित 'वरगीत' से उद्धृत किए गए हैं।

पद संख्या २१ राग धनश्री

०

१—धु० गोपिनी प्रान काहेनो गयो रे गोविन्द ।

हासु पापिनो पुनु पेलवो नाहिं भार मोहि वदन भरविन्द ।

पद कवन भाषवती, भयो रे सुपरभात आतु भेटन मुख चौंदा ।

उगत सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप बंधु भान्धा ॥

आतु मथुरा पुरे मिलन महोसव माधव माधव मान ।

गोकुल के मंगल दूर गयो नाहिं बाजत वेनु विपान ॥

आतु जत नागरी करत भयन भरि मुख पंकज मधुपाना ।

हमारि बन्ध विधि हाते हरल निधि कृष्ण किंकर रस माना ॥

धनश्री पद १८

२—धु० मन मेरि रान चरनहिं लागु ।

तइ देख ना अन्तक जागु ॥

पद मन आयू चने-चने छूटे ।

देखो प्रान कौन दिन छूटे ॥

मन काल अजगर मिलै ।

जान तिले के मरन मिलै ॥

मन निश्चय पतन काया ।

तइ राम भज तेजि माया ॥

रे मन इ सब विषय धन्या ।

केने देखि न देखत अन्धा ॥

१. जर्नल आव दि यूनिवर्सिटी आव गुवाहाटी, भाग १ संख्या १, १९५०, नेयोग का लेख

२. ब्रजभाषा लिखेवर, पी० ई० एन०, - १९४१, पृ० २६ ।

शंकरदेव ने ब्रजभाषा में वरगीतों की रचना की। अपनी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गए थे। ब्रजभाषा कान्न की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की वन्मभूमि से ही प्राप्त हुई। ब्रजभाषा में रचित ये वरगीत सन् १४८१-६३ के बीच लिखे गए जैसा डा० एम० नेयोग ने प्रमाणित किया है।^१ डा० नेयोग का अनुमान है कि ब्रजभाषा में लिखा पड़ला वरगीत षट्त्रिंशदशम में लिखा गया। डा० नेयोग ने शंकरदेव के वरगीतों को ब्रजबुद्धि का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डा० बरुआ ने लिखा है कि वृन्दावन में शंकरदेव ने ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होंने इस भाषा को सीखा और इसी की मिश्रित भाषा में वरगीतों की रचना की।^२

§ २४८. शंकरदेव के वरगीतों की भाषा मिश्रित अवश्य है क्योंकि उसमें कहीं कहीं अलमिया के प्रयोग भी आते हैं, किन्तु ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षा दिखाई पड़ती है। नीचे हम शंकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद बंदी हरिनाथपन दत्त बरुआ द्वारा संगठित 'वरगीत' से उद्धृत किए गए हैं।

पद संख्या २१ राग धनश्री

०

१—धु० गोपिनी प्रान काहेनो गयो रे गोविन्द ।

हासु पापिनी पुनु पेखबो नाहि आर मोहि बदन अरविन्द ।

पद कवन मायवती, मयो रे सुपरमात आनु भेटन मुख चौंदा ।

उगत सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप बंधु भान्धा ॥

आनु मधुरा पुरे मिलन महोसव माधव माधव मान ।

गोकुल के मंगल दूर गयो नाहि बाजत वेनु विपान ॥

सातु जत नागरो करत नयन भरि मुख पंकज मधुपाना ।

हमारि वन्य विधि हाते हरल निधि कृष्ण किंकर रस माना ॥

धनश्री पद १८

२—धु० मन मेरि राम चरनहिं लागु ।

तइ देख ना अन्तक जागु ॥

पद मन आगू चने-चने छूटे ।

देखो प्रान कौन दिन छूटे ॥

मन काल अजगर मिलै ।

जान तिले के मरन मिलै ॥

मन निश्चय पतन काया ।

तइ राम भज तेजि माया ॥

रे मन इ सब विषय धन्या ।

केने देखि न देखत भन्धा ॥

१. जर्नल आव दि यूनिवर्सिटी आव गुवाहाटी, भाग १ संख्या १, १६५०, नेयोग का लेख

२. अक्षरमंजु लिखेवर, पी० ई० एन०, - १९४१, पृ० २६ ।

पद—पापी अजामिल हरि को सुमरि नाम आभास ।
अतये कर्म को बन्ध छौंदि पावल चैकुण्ठ वास ॥
जानि आहे लोक हरि को नामे कह विसवास ।
सकल वेद को तत्व कहए पुरुष माधवदास ॥

माधवदेव के गीतों की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है। किन्तु मूलतः ब्रज भाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पड़ती है। इ का ए रूपान्तर पूर्वी प्रदेशों में होता था (देखिये कीर्ति० १६) यहाँ भी कहइ > कहए, अतहिं > अतइ > अतए आदि में यही प्रभाव दिखाई पड़ता है। पावल का भूत 'ल' स्पष्ट ही पूर्वी है। भाषा में कई स्थानों पर सबंधी विभक्ति 'क' का भी प्रयोग है। किन्तु ब्रजभाषा 'की' 'को' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

१२५०. महाराष्ट्र और मध्यदेश का सांस्कृतिक संबंध बहुत पुराना है। मध्य देशीय भाषाओं के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है। वर्तमान खड़ी बोली का जन्म मेरठ दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरम्भिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ। डा० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतों तथा अन्य जातियों के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला। शाह जी भोसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियों का सम्मान होता था। नामदेव और त्रिलोचन जैसे सत कवियों के ब्रजभाषा पदों का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं। नीचे कुछ अल्पज्ञात कवियों की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। ये कवि सूरदास के पहले के हैं।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा^१ रचना का किंचित् सकेत चालुक्य नरेश सोमेश्वर (११८४ विक्रमी) के मानसोल्लास अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छंद, हाथी घोड़े आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पदों के उदाहरण भी दिए गए हैं। लट्टी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है। इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि १२वीं शताब्दी में अपभ्रंश प्रभावित देशी भाषा में काफी उच्चकोटि की रचनाएँ होने लगी थी।

नन्द गोकुल आयो कान्हडो गोर्वा जणे ।
पडि हिलोरे नयणे जो विधाय दण भाओ ॥

१. महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद, लेखक श्री भास्कर रामचंद्र भारेराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७ ।

पद—पापी अजामिल हरि को सुमरि नाम आभास ।
 अतये कर्म को बन्ध छुँडि पावल वैकुण्ठ वास ॥
 जानि आहे लोक हरि को नामे करु विसवास ।
 सकल वेद को तत्व कहए पुरुष माधवदास ॥

माधवदेव के गीतों की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है। किन्तु मूलतः ब्रज भाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पड़ती है। इसका एक रूपान्तर पूर्वी प्रदेशों में होता था (देखिये कीर्ति० ६६) यहाँ भी कहइ > कहए, अतहिं > अतइ > अतए आदि में यही प्रभाव दिखाई पड़ता है। पावल का भूत 'ल' स्पष्ट ही पूर्वी है। भाषा में कई स्थानों पर सबंधी विभक्ति 'क' का भी प्रयोग है। किन्तु ब्रजभाषा 'की' 'को' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

६२५०. महाराष्ट्र और मध्यदेश का सांस्कृतिक संबंध बहुत पुराना है। मध्य देशीय भाषाओं के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है। वर्तमान खड़ी बोली का जन्म मेरठ दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरम्भिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ। डा० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतों तथा अन्य जातियों के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला। शाह जी भोसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियों का सम्मान होता था। नामदेव और त्रिगुंजन जैसे सत कवियों के ब्रजभाषा पदों का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं। नीचे कुछ अल्पज्ञात कवियों की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। ये कवि सूरदास के पहले के हैं।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा^१ रचना का किंचित् सकेत चालुक्य नरेश सोमेश्वर (११८४ विक्रमी) के भानसोत्तास अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छंद, हाथी घोड़े आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पदों के उदाहरण भी दिए गए हैं। लट्टी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है। इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि १२वीं शताब्दी में अपभ्रंश प्रभावित देशी भाषा में काफी उच्चकोटि की रचनाएँ होने लगी थीं।

नन्द गोकुल आयो कान्हडो गोवी जणे ।
 पडि हिलोरे नयणे जो विधाय दण भरभो ॥

१. महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिचिद, लेखक श्री भास्कर रामचंद्र भास्कराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७ ।

जिनपद्यसूरि, विजयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियों ने परवता विकसित अपभ्रंश के पागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपा में बहुत सी मार्मिक कृतियों प्रस्तुत कीं। कुछ अन्य कवियों की रचनाओं में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध व्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओं की अन्तरात्मा मध्यदेशीय संस्कृति और काव्यपद्धति से भिन्न नहीं है। चौदहवीं शती के बाद भी गुजरात के कई कवियों ने व्रजभाषा में कवितायें लिखीं। श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोलचाल की भाषा थी। यह इतनी प्रौढ़ नहीं थी कि इसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि भूनागद वासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल सवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त व्रजभाषा साहित्य को ही उल्टा पुलंग करते थे।' श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि व्रजभाषा के अनुचित मोह से ग्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनायें होती थीं, इसके लिए जैन गुर्जर कवियों के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियों राड १ (नरसिंह शुगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००-१४००) गुजराती काय जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं और कई दृष्टियों से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओं (व्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियों द्वारा व्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुपयुक्तता कदापि नहीं है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की व्यापकता के कारण उत्पन्न पारस्परिक सन्निवेश है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि व्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा' के रूप में समानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमांत के गुजरात में ही नहीं सुदूर पूरव के असम और बंगाल में भी दिखाई पड़ता है। सवत् १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना के पहले श्री बल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और जनता में शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नहीं पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री विहृत्नाथ ने सवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात की लड़ह बार यात्रायें कीं। इन यात्राओं से गुजरात में बल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री के शब्दों में गुजरात बल्लभ मत का 'धाम' बन गया।^१ किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

१ जवाहरलाल चतुर्वेदी गुजरात के व्रजभाषी शुक पिक, पोहार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११४

२ महाप्रभु बल्लभाचार्य व्रजभाषा को इसी नाम से संबोधित करते थे।

३ श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो सचिप्त इतिहास', पृ० १८४

दुका मा बल्लभ मत तु धाम ज गुजरात भइ गयु

जिनपद्मसूरि, विजयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियों ने परवता विकसित अपभ्रंश के पागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपा में बहुत सी मार्मिक कृतियों प्रस्तुत कीं। कुछ अन्य कवियों की रचनाओं में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध ब्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओं की अन्तरात्मा मध्यदेशीय संस्कृति और काव्यपद्धति से भिन्न नहीं है। चौदहवीं शती के बाद भी गुजरात के कई कवियों ने ब्रजभाषा में कविताएँ लिखीं। श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोलचाल की भाषा थी। यह इतनी प्रौढ़ नहीं थी कि इससे द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि भूनागद घासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल सवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त ब्रजभाषा साहित्य को ही उल्टा पुलंग करते थे।'^१ श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि ब्रजभाषा के अनुचित मोह से ग्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनाएँ होती थीं, इसके लिए जैन गुर्जर कवियों के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियों खंड १ (नरसिंह युगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००-१४००) गुजराती काव्य जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं और कई दृष्टियों से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओं (ब्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुपयुक्तता कदापि नहीं है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की व्यापकता के कारण उत्पन्न पारस्परिक सन्निवेश है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि ब्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा'^२ के रूप में समानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमांत के गुजरात में ही नहीं सुदूर पूरव के असम और बंगाल में भी दिखाई पड़ता है। सवत् १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना के पहले श्री वल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और जनता में शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नहीं पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री विठ्ठलनाथ ने सवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात की छह बार यात्रायें कीं। इन यात्राओं से गुजरात में बल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री के शब्दों में गुजरात बल्लभ मत का 'धाम' बन गया।^३ किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

१ जवाहरलाल चतुर्वेदी गुजरात के ब्रजभाषी शुक पिक, पोदार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १३४

२ महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रजभाषा को इसी नाम से संबोधित करते थे।

३ श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो सचिस इतिहास', पृ० १८४

दुका मा बल्लभ मत नु धाम ज गुजरात थइ गयु

आन्दोल

नाचइ गोपिय घृद, वाजइ मधुर मृदग
मोडइ भग सुरंग, सारगधर वाइति महभरि ए ॥
कुलवण महभरि ए ॥
करलिय पकज नाल, सिरवरि फेरइ बाल ।
सुदिहि-वाजइ ताल, सारग धर वाइइ महभरि ए ॥
तारा महि जिमि चन्द, गोपिय माहि मुकुन्द ॥
पणमइ सुर नर इद, सारगधर वाइति महभरि ए ।
कुलवण महभरि ए ॥
गोपी गोपति फागु कीटत हौंइत वनइ मभारि ।
मारुन प्रेरित वन भर नमइ सुरारि ॥

५ २५२ सन् १९४६ में श्री केशवराय काशीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण : ब्रजभाषा जो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया ।^१ सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने वालों की स्थापना को तथ्यपूर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सूर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके ब्रज का आदि कवि बताया है । भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५ १५६५ नो सौ वर्षों नो समय एना पूर्वार्ध ना अस्तित्व में पुरवार करी सकवानी स्थित मा न होइ । उत्तरकाल में भाटे अट्टले के सं० १५५० १५६५ अथवा विजयमती १६ वीं सदी ना उत्तरार्ध मा परिणत थइ सकै छै खरो ।'^२ इस निष्कर्ष में स्पष्ट भालण के पूर्व निर्धारित समय को सदेहास्पद मानकर उन्हें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्री जो भालण को सूर पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है । भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कंद' के सम्पादक श्री इ० द० काँगवाल ने भूमिका में लिखा है कि श्री रा० नारायण भाथों को भालण के मकान से एक खडित बन्न-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'संवत् १४७२ वर्ष भाद्रवा, वदी दिने शनी दशोत्तीर्णा एव जन्मतो गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु संवत् भाद्रवावदी ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है ।^३ काँगवाल का अनुमान है कि १४६१ संवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न होकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकांड रचा था जो संवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था । इस अनुमान को यदि सही माने तो भालण सूर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं । श्री भाथों ने दिशावाल जाति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था कि उसके पूर्वज भीमराम और भालण संवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे । भालण हैदराबाद और औरंगाबाद में रहे थे, वहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है । इस मूर्ति के पृष्ठ-भाग पर लिखा है 'संवत् १५२० वर्ष ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुडा पूजनार्थ रत्नादित्य पूवी

१. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बंबई, ११ नवंबर, १९४६ का अंक

२. वही, पृ० ८ ।

३. भालण कृत दशमस्कंद-कविचरित्र, पृ० २, सन् १९१४, बड़ौदा

आन्दोल

नाचइ गोपिय बुद, वाजइ मधुर मृदग
मोडइ भग सुरंग, सारगधर वाइति महभरि ए ॥
कुलवण महभरि ए ॥
करलिय पकज नाल, सिरवारि फेरइ बाल ।
छुदिहि-वाजइ ताल, सारग धर वाइइ महभरि ए ॥
तारा भदि ज़िमि चन्द, गोपिय माहि मुकुन्द ॥
पणमइ सुर नर इद, सारगधर वाइति महभरि ए ।
कुलवण महभरि ए ॥
गोपी गोपति फागु कीडत हौडत वनइ मम्भारि ।
मारुत प्रेरित वन भर नमइ मुरारि ॥

§ २५२ सन् १९४६ में श्री केशवराय काशीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण : ब्रजभाषा नो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया ।^१ सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने वालों की स्थापना को तथ्यपूर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सुर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके ब्रज का आदि कवि बताया है । भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५ १५६५ नो सौ वर्षों नो समय एना पूर्वार्ध ना अस्तित्व में पुरवार करी सकवानी स्थित मान होइ । उत्तरकाल में भाटे अट्टले के सं० १५५० १५६५ अथवा विजयमर्ती १६ वीं सदी ना उत्तरार्ध मा परिणत थइ सकै छै खरो ।'^२ इस निष्कर्ष में स्पष्टतः भालण के पूर्व निर्धारित समय को सदेहास्पद मानकर उन्हें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्री जो भालण को सुर पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है । भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कन्द' के सम्पादक श्री इ० द० काँगवाला ने भूमिका में लिखा है कि श्री रा० नारायण भायों को भालण के मकान से एक खडित बन्म-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'संवत् १४७२ वर्ष भाद्रवा, वदी दिने शनी दशोत्तीर्णा एव बन्मतो गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु संवत् भाद्रवावदी ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है ।^३ काँगवाला का अनुमान है कि १४६१ संवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न होकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकांड रचा था जो संवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था । इस अनुमान को यदि सही माने तो भालण सुर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं । श्री भायों ने दिशावाल जाति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था कि उसके पूर्वज मीठाराम और भालण संवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे । भालण हैदराबाद और औरंगाबाद में रहे थे, वहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है । इस मूर्ति के पृष्ठ-भाग पर लिखा है 'संवत् १५२० वर्ष ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुडा पूजनार्थ रत्नादित्य पूवी

१. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बंबई, ११ नवंबर, १९४६ का अंक

२. वही, पृ० ८ ।

३. भालण कृत दशमस्कन्द-कविचरित्र, पृ० २, सन् १९१४, बर्हीदा

चित्त में वे जु कुर्भी रही है चोर चोर कहैत है गाम ॥
निश दिन फोरतो जु सुरभि के सगे शीर पर परत शीत घनघाम ।
निस फुनि दोहन बधन को सुख करो बैठत नाहि जो काम ॥
मोर पिच्छ गुजाफल ले ले वेख बनावत रचिर ललाम ।
भालण प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब वाम ॥

पृ० २००-२०१

पद २५४ राग सारंग

कहो मैया कैसे सुख पाउं ।
नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन सग कौन में जाउं ॥
नाहिन गृहे वे प्रजवामिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
नाहिन वृन्दावन अति बल्लभ जा कारन हु गौ चराउ ॥
नाहिन वृन्द् गोपी जन को जा कारन मृदु बेन बजाउं ।
नाहिन जमलातुन वृख दोउ जा कारन हुँ आप बयाउं ॥
नाहिन प्रेम ऐसी कोउ कु जा कु मेरी कथा सुनाउं ।
भालण को उस सी कटु नाहीं अहियां के भागै प्रज के गुन गाउं ॥

पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अब पडवे को आयो दिन ।
एते वास बड़े गने नाहीं कौडा कौनी नंद भुवन
सुन को सुन पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं जु पुन्य
आये दो दिन भये जु नाहीं उठ चले फुन जुग जीवन
अहि बाज कर हरि जु चले फुनि देखन हु कहां वृन्दावन
हम पर प्रीति नाहिन मोहन की जैसी प्रज ऊपर है मन
काहा कुमति भानक दुंदुभि की पदव रही सांवर घन
पाड़े भाये को कहीं आश राम संग चले पीत वसन
जहाँ मिथारे गिरधर वे भवनी लोक सबधन
विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत है वे भालन जन

पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत में सुनित लोक में बात ।
मेरे सो तुम सत्य कहो सुन्दर श्यामल गात ॥
सर्दापन को सुत मृदु भयो उदधि जल में पात ।
वहोत दिवस ता कु निवड गए ते राम रहे वे मात ॥
तुम पे गुरदक्षिता मागी भान दीयो विरयात ।
करवट सुत कमे बधे हे मेरे जेष्ट तिहारे आत ॥

चित्त में वे जु कुर्भी रही है चोर चोर कहैत है नाम ॥
 निश दिन फोरतो जु सुरभि के सगे शीर पर परत शीत धनवाम ।
 निस फुनि दोहन दधन को सुख करी बैठत नाहि जो काम ॥
 मोर पिच्छ गुजाफल ले ले वेख बनावत रचिर ललाम ।
 भालन प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब वाम ॥

पृ० २००-२०१

पद २५४ राग सारंग

कहो भैया कैसे सुख पाउं ।
 नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन सग कौन में जाउं ॥
 नाहिन गृहे वे घजवामिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
 नाहिन वृन्दावन अति बल्लभ जा कारन हु गौ चराउ ॥
 नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारन मृदु बेन बजाउं ।
 नाहिन जमलारुन वृख दोउ जा कारन हुँ भाए बगाउं ॥
 नाहिन प्रेम ऐसो कोउ कु जा कु मेरी कथा सुनाउं ।
 भालन को उस सो कहु नाहीं अहियां के भागै घज के गुन गाउं ॥

पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अब पडवे को आयो दित ।
 एते वरस बड़े गने नाहीं कौडा कौनी नंद भुवन
 सुत को सुख पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं जु पुन्य
 आये दो दिन भये जु नाहीं उठ चने फुन जुग जीवन
 अहि धाज कर हरि जु चले फुनि देखन हु कहां वृन्दावन
 हम पर प्रीति नाहिन मोहन की जैसो घज ऊपर है मन
 काहा कुमति भानक दुंदुभि की पदव रही सोवर धन
 पाड़े आये को कहीं भाश राम संग चले पीत वसन
 जहाँ मिथारे गिरधर वे अवनी लोक सबधन
 विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत है वे भालन जन

पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत में सुनित लोक में बात ।
 मेरे सो तुम सन्य कहो सुन्दर स्वामल गात ॥
 सर्दापन को सुत मृदु भयो उदधि जल में पात ।
 बहोत दिवस ता कु निवड गए ते राम रहे वे मात ॥
 तुम पे गुरदक्षिना मागी आन दीयो विरथात ।
 करवट सुन बसे बधे हे मेरे जेष्ट तिहारे आत ॥

चोटक

लाज हमारी लोपां तुमही सब मिलि घाल भुलायो
जहाँ जहाँ फिन्यो गहन वन गोचर तहाँ तहाँ सग भायौ
भंजी भखिया कियो तुम अंजन कहे हय माता कोपी
छाड़ौ सब चतुरी चतुराई, भरे भरे वाडरी गोपी

कारिका

कपट करे है तुम भागे, सेज सूये नहीं जागे

चोटक

सेज सूये नहि जागे, बालक आय बोलवे
यमुना तीर तरुन सब देखत मोहन वेनु बजावे
लोनो चित चुराई चम्रभुज कहते कछु ना लागे
हम अबला ये धीर धरनिधर कपट करही तुम भागे

पृ० १०६

इन दो कवियों के अलावा कुछ अन्य भी कविया ने ब्रजभाषा में कवितायें कीं। सत्रहवीं शताब्दी में गुजरात में काफी साहित्य ब्रजभाषा में भी लिखा गया, किंतु स्रोतों होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नहीं जान पड़ती। मीराबाई को भी गुजरात के लोग अपना कवि मानते हैं, मीरा का काल सूर के कुछ पहले या सम सामयिक पड़ता है, किंतु इनका परिचय ब्रजभाषा की मूल धारा के कवियों के साथ पहले ही किया जा चुका है। १७वीं १८वीं शती के कवियों का सक्षिप्त परिचय श्री बबार्हलाल चतुर्वेदी ने 'गुजरात के ब्रज भाषी शुक पिक' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है।^१

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४१३-४०

नोटक

लाज हमारी लोपी तुमही सब मिलि बाल भुलायो
जहाँ जहाँ फिन्यो गहन वन गोचर तहाँ तहाँ सरा भायौ
अंजी अखिया कियो तुम अंजन फहे हम माता कोपी
छाही सब चतुरी चतुराई, भरे भरे वाडरी गोपी

कारिका

कपट करे है तुम भागे, सेज सूये नहीं जागे

नोटक

सेज सूये नहि जागे, बालक आय बोलाने
पमुना तीर तरुन सब देखत मोहन वेनु बजावे
लोनो चित्त सुराई चम्रभुज कहते कछु ना लागे
हम भवला ये धीर धरनिधर कपट करही तुम भागे

पृ० १०१

इन दो कवियों के अलावा कुछ अन्य भी कविया ने ब्रजभाषा में कवितार्ये कीं। सत्रहवीं शताब्दी में गुजरात में काफी साहित्य ब्रजभाषा में भी लिखा गया, किंतु सरोत्तर होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नहीं जान पड़ती। मीराबाई को भी गुजरात के लोग अपना कवि मानते हैं, मीरा का काल सूर के कुछ पहले या सम सामयिक पड़ता है, किन्तु इनका परिचय ब्रजभाषा की मूल धारा के कवियों के साथ पहले ही किया जा चुका है। १७वीं १८वीं शती के कवियों का सक्षिप्त परिचय श्री बबार्दलाल चतुर्वेदी ने 'गुजरात के ब्रज भाषी शुक पिक' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है।



(१०) रासो लघुतम, वार्ता	विक्रमी १५५०	(रा० ल० वा०)
(११) छिताई वार्ता	,, १५५०	(छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा	,, १५५७	(गी० भा०)
(१३) छीदल बावनी	,, १५८४	(छी० बा०)

१४ वीं १६ वीं की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखों को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता हो है। लघुतम रासो के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्तायें भी अगरचन्द नाहय ने ब्रजभाषा की (आश्विन अगहन, सवत् २००६) अंक में प्रकाशित कराई हैं। गद्य को कोई प्रामाणिक कृति इस युग में प्राप्त नहीं हुई, इस कमी को ये वचनिकाएँ दूर कर सकती हैं। इनमें प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे खींचकर १५५० विक्रमान्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६. प्रा० ब्र० में आर्यभाषा के मध्यमालीन स्तर की प्रायः सभी ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। अगभ्रश की कुछ विशिष्ट ध्वनि प्रवृत्तियों का अभाव भी दिखाई पड़ता है। मध्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नयीन ध्वनियों का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन ब्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं :—

अ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

पिगल ब्रज में सध्यक्षर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे संयुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है (देखिये § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण सध्यक्षर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में क्रिया रूपां में कहीं भी 'औ'कारान्त प्रयोग नहीं मिलते। सर्वत्र 'ओ'कारान्त ही दिखाई पड़ते हैं। 'औ'कारान्त क्रिया रूप परवर्ती विकास है।

प्राचीन ब्रज के उपर्युक्त स्वर सानुनासिक भी होने हैं।

§ २५७. अ का एक रूप 'अँ' पादान्त में सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

ब्रजभाषा में मध्य अँ प्रायः और अन्त्य 'अँ' का निश्चित लोप होता है। (ब्रजभाषा § ८६) नव्य आर्य भाषा के विकास के आरम्भिक दिनों में इस प्रकार की प्रवृत्ति सम्भवतः प्रधान नहीं थी। बहुत से शब्दों में अन्त्य 'अ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अ' का लोप स्वीकार करना उचित नहीं मालूम होता। अयाण (प्र० च०) सायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अठार (इ० पु० २७ अष्टादश) गेह (म० क० १) इत्यादि शब्दों में अन्त्य अ का उच्चारण एकदम लुप्त नहीं मालूम होता। १२वीं १३वीं शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डा० चादुर्ग्य के मत से अन्त्य 'अ' का उच्चारण असंदिग्ध रूप में सुरक्षित दिखाई पड़ता है। (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ५)।

§ २५८. आद्य या मध्यम अक्षर में कभी कभी अ का इ रूप भी दिखाई पड़ता है।

(१०) रासो लघुतम, वार्ता	विक्रमी १५५०	(रा० ल० वा०)
(११) छिताई वार्ता	,, १५५०	(छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा	,, १५५७	(गी० भा०)
(१३) छीहल बावनी	,, १५८४	(छी० बा०)

१४ वीं १६ वीं की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखों को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता ही है। लघुतम रासो के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्तायें श्री अंगरचन्द्र नाहटा ने व्रजभारती के (आश्विन अगहन, सवत् २००६) अंक में प्रकाशित कराई हैं। गद्य को कोई प्रामाणिक कृति इस युग में प्राप्त नहीं हुई, इस कमी को ये वचनिकाएँ दूर कर सकती हैं। इनमें प्राचीन व्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे सोचकर १५५० विक्रमान्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६. प्रा० व्र० में आर्यभाषा के मध्यमालीन स्तर की प्रायः सभी ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। अनभ्रश की कुछ विशिष्ट ध्वनि प्रवृत्तियों का अभाव भी दिखाई पड़ता है। नव्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नयीन ध्वनियों का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन व्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं :—

अ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ऐ, ओ, औ औ।

पिगल व्रज में सध्यक्षर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे संयुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है (देखिये § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण सध्यक्षर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में क्रिया रूपों में कहीं भी 'औ'कारान्त प्रयोग नहीं मिलते। सर्वत्र 'औ'कारान्त ही दिखाई पड़ते हैं। 'औ'कारान्त क्रिया रूप परवर्ती विकास हैं।

प्राचीन व्रज के उपर्युक्त स्वर सानुनात्मिक भी होने हैं।

§ २५७. अ का एक रूप 'अँ' पादान्त में सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

व्रजभाषा में मध्य अँ प्रायः और अन्त्य 'अँ' का नियमित लोप होता है। (व्रजभाषा § ८६) नव्य आर्य भाषा के विकास के आरम्भिक दिनों में इस प्रकार की प्रवृत्ति सम्भवतः प्रधान नहीं थी। बहुत से शब्दों में अन्त्य 'अँ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अँ' का लोप स्वीकार करना उचित नहीं मालूम होता। अयाण (प्र० च०) तायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अठार (इ० पु० २७ अष्टदश) गेह (म० क० १) इत्यादि शब्दों में अन्त्य अ का उच्चारण एकदम लुप्त नहीं मालूम होता। १२वीं १३वीं शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अँ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डा० चादुर्ग्या के मत से अन्त्य 'अँ' का उच्चारण असदिग्ध रूप में सुरक्षित दिखाई पड़ता है। (उक्ति व्यक्ति स्टो § ५)।

§ २५८. आद्य या मध्यम अक्षर में कभी कभी अ का इ रूप भी दिखाई पड़ता है।

॥ २६३. मध्यग इ का कभी कभी य रूपान्तर भी होता है ।

गोपन्द (म० क० २६४। १ < गोविन्द) मानस्य (गी० भा० ६ < मानसिंह) व्यते (पं० वे० २६ < चितइ) । कृदन्तज भूतकालिक क्रिया में इ > य का आगम । 'वोल्पउ' में 'य' वोल्पिअउ के इ का ही रूपान्तर है । उसी तरह सहारण शब्द ॥ २५८ के अनुसार सिंहारण और निर स्पर्धारण (ल० प० क० ७१) हो गया ।

॥ २६४. 'अ+उ' या 'अ+इ' का औ या ऐ उद्भूत स्वर से सध्यस्वर रूप में परिवर्तन हो जाता है । यह प्रवृत्ति अवहट्ट या पिंगल काल में ही शुरू हो गई थी । प्राचीन ब्रज की इन रचनाओं में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं । जिनमें उद्भूत स्वर सुरक्षित हैं, यथा—

चाल्यउ (ल० प० क० ५६।१ > चलयौ) च्यारउ (छी० वा० ४।५ > च्यारौ) चउवारै (म० च० १६१।१ > चौवारै) चउपास (म० च० > चौपास) चिन्हइ (छी० वा० १।३ > चीन्है) चढिउ (म० च० ३।१ > चढ्यौ) उदीउई (म० च० ४०३।१ > उदीउै) एतउ (ल० प० क० १३।१ > एतौ) कहमास (रा० व० ३ > कैमास) कहइ (रा० वा० १ > कहै) करउ (म० क० ८।१ > करौ) खयइ (छी० वा० ६।४ > खयै) गहइ (छी० वा० ६।६ > गहै) दीघउ (ल० प० क० > दीघौ) दिखावइ (छि० वा० १३३ > दिखावै) घरई (स्वर्ग० > घरै) नीसरइ (ल० प० क० २।१ > नीसरै) मनइ (स्वर्ग० > मनै) । इस प्रकार के एक दो नहीं सैकड़ों प्रयोग मिलते हैं जिनमें उद्भूत स्वरों की सुरक्षा दिखाई पड़ती है । यह इन रचनाओं की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है । किन्तु हम इसे मूल प्रवृत्ति नहीं कह सकते क्योंकि उद्भूत स्वरों के स्थान पर सध्यस्वरों के प्रयोगों के उदाहरण भी कम नहीं हैं । बल्कि गणना करने पर सध्यस्वरों के प्रयोग ही ज्यादा मिलते हैं । नीचे कुछ इस प्रकार के प्रयोग उनके अरभ्रश रूपों के साथ दिये जाते हैं । आनीयो (ल० प० क० ५८।२ < आनीयउ) उपज्यो (गी० भा० ४१ < उपजउ) औगुन (प० वे० < अउगुण < अवगुण) कैमासहिं (रा० ल० ५ < कहमासहिं) कौ (स्व० < कउ) सकै (र० मं० < सकइ) गन्यौ (गी० भा० ४१ < गणउ) चौपहो (वे० प० < चउपई) चौगुनो (गी० भा० १३ < चउगुणी) चौक (म० क० २६५।१ < चउवक < चतुष्क) चयिप्यौ (प० वे० ३३ < चयिपउ) दीसै (म० क० १२।२ < दीसइ) नाच्यो (प० वे० १० < नचउ) पहिरौ (छि० वा० १३५ < पहिरउ) आदि ।

॥ २६५. स्वर सकोच नव्य आर्य भाषाओं की एक मूल ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति मानी जाती है । प्राचीन ब्रज में स्वर-सकोच कई प्रकार से हुआ है ।

(१) अउ > उ

कुण (रा० ल० ३६ < कउण < कवण) जदुराय (गी० भा० २६ < जादुराय < यादुराय) दीउ (ल० प० क० < दियउ)

(२) इअ > ई ।

अहारी (छी० वा० २०।४ अहारिअ < आहारिक) अगनाई (व० मं० < अगनाइअ < आत्मनः + कृत) करी (व० मं० < करिय < *करित = कृत) दीउो (ल० प० क० < दिट्टिअ < *दृष्टित = दृष्ट) भई (छी० वा० < भइअ

॥ २६३. मध्यग इ का कभी कभी य रूपान्तर भी होता है ।

गोयन्द (म० क० २६४।१ < गोविन्द) मानस्यघ (गी० भा० ६ < मानसिह) व्यते (पं० वे० २६ < चितइ) । कृदन्तज भूतकालिक क्रिया में इ > य का आगम । 'वोल्पउ' में 'य' वोल्पिअउ के इ का ही रूपान्तर है । उसी तरह सहारण शब्द ॥ २५८ के अनुसार सिहारण और निर स्पघारण (ल० प० क० ७१) हो गया ।

॥ २६४. 'अ + उ' या 'अ + इ' का औ या ऐ उद्भूत स्वर से सध्यस्वर रूप में परिवर्तन हो जाता है । यह प्रवृत्ति अवहट्ठ या पिंगल काल में ही शुरू हो गई थी । प्राचीन ब्रज की इन रचनाओं में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं । जिनमें उद्भूत स्वर सुरक्षित हैं, यथा—

चाल्पउ (ल० प० क० ५६।१ > चल्पौ) च्यारउ (छी० वा० ४।५ > च्यारौ) चउवारे (प्र० च० १६१।१ > चौवारे) चउपास (प्र० च० > चौपास) चिन्हइ (छी० वा० १।३ > चीन्है) चदिउ (प्र० च० ३।१ > चढ्यौ) उदीठई (प्र० च० ४०३।१ > उदीठै) एतउ (ल० प० क० १३।१ > एतौ) कहमास (रा० व० ३ > कैमास) कहइ (रा० वा० १ > कहै) करउ (म० क० ८।१ > करौ) खयइ (छी० वा० ६।४ > खयै) गहइ (छी० वा० ६।६ > गहै) दीघउ (ल० प० क० > दीघौ) दिखावइ (छि० वा० १३३ > दिखावै) घरई (स्वर्ग० > घरै) नीसरइ (ल० प० क० २।१ > नीसरै) मनइ (स्वर्ग० > मनै) । इस प्रकार के एक दो नहीं सैकड़ों प्रयोग मिलते हैं जिनमें उद्भूत स्वरों की सुरक्षा दिखाई पड़ती है । यह इन रचनाओं की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है । किन्तु हम इसे मूल प्रवृत्ति नहीं कह सकते क्योंकि उद्भूत स्वरों के स्थान पर सध्यस्वरों के प्रयोगों के उदाहरण भी कम नहीं हैं । बल्कि गणना करने पर सध्यस्वरों के प्रयोग ही ज्यादा मिलते हैं । नीचे कुछ इस प्रकार के प्रयोग उनके अवभ्रश रूपों के साथ दिये जाते हैं । आनीयो (ल० प० क० ५८।२ < आनीयउ) उपज्यो (गी० भा० ४१ < उपजउ) औगुन (प० वे० < अउगुण < अवगुण) कैमासहिं (रा० ल० ५ < कहमासहिं) कौ (स्व० < कउ) सकै (र० मं० < सकइ) गन्यौ (गी० भा० ४१ < गणउ) चौपही (वि० प० < चउपई) चौगुनी (गी० भा० १३ < चउगुणी) चौक (म० क० २६५।१ < चउवक < चतुष्क) चभियौ (प० वे० ३३ < चभियउ) दीसै (म० क० १२।२ < दीसइ) नाच्यो (प० वे० १० < नचउ) पहिरौ (छि० वा० १३५ < पहिरउ) आदि ।

॥ २६५. स्वर सकोच नव्य आर्य भाषाओं की एक मूल ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति मानी जाती है । प्राचीन ब्रज में स्वर-सकोच कई प्रकार से हुआ है ।

(१) अउ > उ

कुण (रा० ल० ३६ < कउण < कवण) जदुराय (गी० भा० २६ < नाद्वराय < यादवराय) दीउ (ल० प० क० < दियउ)

(२) इअ > ई ।

अहारी (छी० वा० २०।४ अहारिअ < आहारिक) अरनाई (र० मं०

< अपनाइअ < आत्मनः + कृत) करी (र० मं० < करिय < *करित = कृत)

दीउ (ल० प० क० < दिटिअ < *दृष्टि = दृष्ट) भई (छी० वा० < भइअ

§ २६६ अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं ।

औंलु (प्र० च० १३६ < असु प्रा० पै० < अधु) हँसि हँसि (प्र० च० ४०८ √ हस्) करौहि (७०६ प्र० च० √ कृ) यहाँ लुक् के कारण मौहि के वजन पर समवत करादि किया गया । चहुँदिसि (प्र० च० १८ < चउदिसि, दृश्रुति, < चतुर्दिशि) साँस (हरि० पु० < श्वास) पुँछि (ह० पु० √ प्रच्छ) साँथी (प० वे० ५३ < सर्प) ।

§ २७० सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है । वर्गीय अनुनासिक के स्पर्श से या अनुस्वारित स्वरों के साथ में रहने वाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं । उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के सदर्थ में डा० चाटुज्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति बंगाली और विहारी के निकट दिखाई पड़ती है, पश्चिमी हिन्दी के नहीं (देखिये, उक्तिव्यक्ति सङ्गी § २१) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिकता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पड़ती है । उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणों में विहाणहि (३४।२३) माभा (१६।१६) वणिण (१४।२०) आदि दिए गए हैं । नीचे प्राचीन ब्रज के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं ।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौ (स्व० रो० < कउ) परम आपणा (ल० प० क० १३ < आपण) सुजाण (छि० वा० < १२४ < सुजाण < सुज्ञान) कवलिय (प० वे० २६ < कमल) अम्रति (गी० भा० २ < अमृत) वाणिया (प्र० च० १८ < वणिक) जाणायो (प्र० च० १८ < जाणीयउ √ शा) कुवर (प्र० च० १२६ < कुमार) वाण (प्र० च० ४०२ < वाण) पराण (प्र० च० ४०३ < प्राण) काणि (प्र० च० ४०२ = कानि) पाणि (प्र० च० ४०२ < पाणि) सुणाव (ह० पु० < सुणाउ) जाम (ल० प० क० ६ < यावत) ।

§ २७१ पदान्त के अनुस्वार प्राय अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं । प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही समझे जाते थे । पिशेल के मत से पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों माने जाते थे (देखिए प्रमै० § १८०) हेमचन्द्र के दोहों में भी अपभ्रंश के पदान्त 'उ', 'हुँ' या 'ह' इत्यादि ने अनुस्वार प्राय ह्रस्व उच्चरित होते थे । डा० तेसीतोरी का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी § २०) प्राचीन ब्रजभाषा को अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई । यहाँ पर पदान्त अनुसार निश्चय ही अनुनासिक हैं । इसीलिए प्राय, इन्हें चद्र विदु से व्यक्त किया जाता है । हस्तलेखों में चद्रविदु देने का प्रचलन नहीं था, इसलिए वहाँ विदु ही दिया गया है, पर ये हैं अनुनासिक ही । यथा—

जियउ (प्र० च० १३७) हरउ, परउ (प्र० च० १३८) अवतरिउ (प्र० च० ७०५) पाऊ (६० म०) लहहुँ (स० रो०) मनावैं (वै० प०) हाहिं (वै० प०) ताई (प० वे० २०) तैसैं (गी० भा० ३०) सघरों, करों (गी० भा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होने वाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में भरे पड़े हैं ।

§ २६६ अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं ।

औंसु (प्र० च० १३६ < असु प्रा० पै० < अभ्रु) हँसि हँसि (प्र० च० ४०८ √ हस्) करौहि (७०६ प्र० च० √ कृ) यहाँ तुक के कारण मोंहि के वजन पर संभवतः कराहि किया गया । चहुँदिसि (प्र० च० १८ < चउदिसि, दृश्रुति, < चतुर्दिशि) सौंस (हरि० पु० < श्वास) पुँछि (ह० पु० √ प्रच्छ) सौँयौ (प० वे० ५३ < सर्प) ।

§ २७० सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है । वगोंय अनुनासिक के स्पर्श से या अनुस्वारित स्वरों के साथ में रहने वाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं । उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के सदर्भ में डा० चाटुज्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति बंगाली और बिहारी के निकट दिखाई पड़ती है, पश्चिमी हिन्दी के नहीं (देखिये, उक्तिव्यक्ति स्टी § २१) किन्तु प्राचीन व्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिकता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पड़ती है । उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणों में विहाणहि (३४।२३) माभ (१६।१६) वणिण (१४।२०) आदि दिए गए हैं । नीचे प्राचीन व्रज के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं ।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौ (स्व० रो० < कउ) परम आपणा (ल० प० क० १३ < आपण) सुजाण (छि० वा० < १२४ < सुजाण < सुजान) कवलिय (प० वे० २६ < कमल) अम्रति (गी० भा० २ < अमृत) वाणिया (प्र० च० १८ < वणिक) जाणायो (प्र० च० १८ < जाणीयउ √ ज्ञा) कुवर (प्र० च० १२६ < कुमार) वाण (प्र० च० ४०२ < वाण) पराण (प्र० च० ४०३ < प्राण) काणि (प्र० च० ४०२ = कानि) पाणि (प्र० च० ४०२ < पाणि) सुणाव (ह० पु० < सुणाउ) नाम (ल० प० क० ६ < यावत्) ।

§ २७१ पदान्त के अनुस्वार प्रायः अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं । प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही समझे जाते थे । पिशेल के मत से पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों माने जाते थे (देखिए प्रमै० § १८०) हेमचन्द्र के दोहों में भी अपभ्रंश के पदान्त 'उ', 'हुँ' या 'ह' इत्यादि के अनुस्वार प्रायः ह्रस्व उच्चरित होते थे । डा० तेसीतोरों का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी § २०) प्राचीन व्रजभाषा की अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई । यहाँ पर पदान्त अनुसार निश्चय ही अनुनासिक हैं । इसीलिए प्रायः, इन्हें चंद्र बिंदु से व्यक्त किया जाता है । हस्तलेखों में चंद्रबिंदु देने का प्रचलन नहीं था, इसलिए यहाँ बिंदु ही दिया गया है, पर ये हैं अनुनासिक ही । यथा—

जियउ (प्र० च० १३७) हरउ, परउ (प्र० च० १३८) अवतरिउ (प्र० च० ७०५) पाऊ (द० म०) लहहुँ (स० रो०) मनावैं (वै० प०) हाहिं (वै० प०) ताई (प० वे० २०) तैसैं (गी० भा० ३०) सघरों, करों (गी० भा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होने वाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में भरे पड़े हैं ।

र ड—खरी (प्र० च० १३६ खड़ी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोडि ७ प्र० च० ३२) पर्यो (ह० पु० पड्यो) वीरा (वि० प० < वीडा < वीटिका) जोरे (वि० प० जोड़े) थोरो (ने० पु० < थोडइ < स्तोक) करोर (गी० भा० १ < करोड < कोटि) ।

ड र—बाहुडि (ह० पु० ६ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) पाडइ (ह० पु० पारइ) पडिखा (प० वे० ४ < परिखा) ।

ल र—जरे (म० क० २ ज्वलइ) रावर (म० क० ४ < रावल < राजकुल) आरसु (म० क० ७ < आलस्य) हैवारे (स्व० रो० ३ < हिमालय) भुवारा (म्य० रो० ५ < भूपाल) जारु (गी० भा० २५ < जाल) रखवारु (गी० भा० ३६ < रखपाल < रत्नपाल) ।

ल का र रूपान्तर प्रायः व्रज की सभी बोलियों में पाया जाता है (देखिए व्रजभाषा § १०६) ।

§ २७६ न्ह, म्ह और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग होने लगा था ।

न्ह—दीन्हेउ (ह० पु० < दिण्डु हेम० ४।४३०) न्हाले (प० वे० ६७)

म्ह—ब्रम्ह (हरि० पु० २६ < ब्रह्म)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२ < उल्हास) मेल्लहै (ह० पु० < मेल्लइ हेम० ४।४३० छोडना) घल्लह (प० वे० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग परवर्ती अवधश काल से ही किसी न किसी रूप में शुरू हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन व्रजभाषा में इनका बहुल प्रयोग नहीं मिलता । मध्यकालीन और परवर्ती व्रज में अलवृत्ता इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है । १२वीं शती के उत्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियों मिलती हैं (द्रष्टव्य सट्ठी § ३१) मिर्जाखाँ इन ध्वनियों को समुक्त ध्वनि नहीं बल्कि एक ध्वनि मानते हैं । (ए व्रज ग्रामर, इन्ट्रोडक्शन पृ० १८) ।

§ २७७ मध्यग के कई स्थलों पर ग हो गया है ।

अनेग (रा० ल० ३६ < अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१ < इकुणीस < एकोन विंशति) उपगार (छी० वा० < उपकार) कातिग (प० वे० ७१ < कातिक < कार्तिक) भुगु भगु (ह० पु० < धिक् धिक्) प्रगट (रा० ल० वा० १४ < प्रकट) भुगति (छी० वा० १८।५ < भुक्ति) मगज (प्र० च० १६ < मरकत) ।

§ २७८. ल का रूपान्तर प्रायः दो प्रकार से होता है ।

ल < छ

नछत्र (प्र० च० ११ < नक्षत्र) जच्छ (प्र० च० १५ < यक्ष) छनी (प्र० च० ४०८ < क्षत्रिय) पतरिछ (प्र० च० ४१०।१ < प्रत्यक्ष)

ल < ख

खत्तिय (छि० वा० ३१ < क्षत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२ < क्षान्ति) रखवालण (प० वे० १६८ < रत्नपाल) खल (म० क० ७।१ < वृक्ष) लखनोती (ल० प० क० ६३।१ < लक्षणावती) । कुछ शब्दों में ल, का प रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी ल का उच्चारण ख ही होता है ।

§ २७९. त का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

मगज (प्र० च० १६ < मरकत) त्य का च रूपान्तर अवधश में होता था । चत्तंकुसह

र ड—खरी (प्र० च० १३६ खडी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोडि ७ प्र० च० ३२) पर्यो (ह० पु० पड्यो) वीरा (वे० प० < वीडा < वीटिका) जोरे (वे० प० जोड़े) थोरो (वे० पु० < थोडइ < स्तोक) करोर (गी० भा० १ < करोड < कोटि) ।

ड र—बाहुडि (ह० पु० ६ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) पाडइ (ह० पु० पारइ) पडिखा (प० वे० ४ < परिखा) ।

ल र—जरै (म० क० २ ज्वलइ) रावर (म० क० ४ < रावल < राजकुल) आरसु (म० क० ७ < आलस्य) हैवारे (स्व० रो० ३ < हिमालय) भुवारा (म्य० रो० ५ < भूपाल) आरु (गी० भा० २५ < जाल) रखवारु (गी० भा० ३६ < रखपाल < रत्नपाल) ।

ल का र रूपान्तर प्रायः ब्रज की सभी बोलियों में पाया जाता है (देखिए ब्रजभाषा § १०६) ।

§ २७६ न्ह, म्ह और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग होने लगा था ।

न्ह—दीन्हेउ (ह० पु० < दिण्णउ हेम० ४।४३०) न्हाले (प० वे० ६७)

म्ह—ब्रम्ह (हरि० पु० २६ < ब्रह्म)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२ < उल्हास) मेल्लहै (ह० पु० < मेल्लइ हेम० ४।४३० छोडना) मल्ह (प० वे० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग परवर्ती अवध्रश काल से ही किसी न किसी रूप में शुरू हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में इनका बहुल प्रयोग नहीं मिलता । मध्यकालीन और परवर्ती ब्रज में अलवृत्ता इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है । १२वीं शती के उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियों मिलती हैं (द्रष्टव्य स्टडी §३१) मिर्जाखाँ इन ध्वनियों को संयुक्त ध्वनि नहीं बल्कि एक ध्वनि मानते हैं । (ए ब्रज ग्रामर, इन्द्रोडकशन पृ० १८) ।

§ २७७ मध्यगु क कई स्थलों पर ग हो गया है ।

अनेग (ग० ल० ३६ < अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१ < इकुणीस < एकोन विंशति) उपगार (छी० वा० < उपकार) कातिग (प० वे० ७१ < कातिक < कार्तिक) धुगु धगु (ह० पु० < धिक् धिक्) प्रगट (ग० ल० वा० १४ < प्रकट) भुगति (छी० वा० १८।५ < भुक्ति) मर्गज (प्र० च० १६ < मरकत) ।

§ २७८ ल का रूपान्तर प्रायः दो प्रकार से होता है ।

ल < छ

नछत्र (प्र० च० ११ < नक्षत्र) जच्छ (प्र० च० १५ < यक्ष) छत्री (प्र० च० ४०८ < क्षत्रिय) पतरिछ (प्र० च० ४१०।१ < प्रत्यक्ष)

ल < ख

खत्तिय (छि० वा० ३१ < क्षत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२ < क्षान्ति) रखवालण (प० वे० १६८ < रत्नपाल) रख (म० क० ७।१ < वृक्ष) लखनोती (ल० प० क० ६३।१ < लक्षणावती) । कुछ शब्दों में ल, का व रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी ल का उच्चारण ल ही होता है ।

§ २७९ ल का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

मर्गज (प्र० च० १६ < मरकत) ल का च रूपान्तर अवध्रश में होता था । चत्तैकुसह

§ २८३. ध्य का भ रूपान्तर-अपभ्रंश की तरह ही ध्य का भ रूपान्तर हो गया है। आश्चर्य तो यह है कि ध्य > भ को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द बाद की ब्रजभाषा में कई स्थलों पर उचित न माने जाकर छोड़ दिये गए किन्तु आरम्भिक ब्रज में इस प्रकार के अपरिचित शब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए भावहिं (प्र० च० ७०६ < ध्यायति, तुलनीय हेम ४।४४०) जूझ (सज्ञा म० क० २ < जुज्झ < युध्य)।

§ २८४ मध्यग ट का ड में परिवर्तन—

तोडइ (ह० पुराण < *नोटति पिशेल § ४८६)

जड़े (प्र० च० १६ < जटित)

सकडु (छी० वा० १० < सकट)

घडन (छी० वा० १३ < घट)

यह बहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम० दा१।१६८)।

§ २८५. त्स > छ : त्स का छ रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। आरम्भिक ब्रज में च् भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्स > छ के रूपान्तर मिलते हैं। जो एक कदम आगे के रूप हैं। उछग (ह० पुराण < उच्छग < उत्सग) मछि (प० वे० १६ < मच्छ < मत्स्य)।

§ २८६. स्त > थ-परिवर्तन भी सलक्ष्य है।

शुत (गी० भा० ६ < स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७ < हस्तिनापुर)

वर्ण-विपर्यय

§ २८७ वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति न य आर्यभाषाओं में पाई जाती है। जैसे मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रंश में भी इसका किंचित् रूप दिखाई पड़ता है। डा० तेसीतोरी ने वर्ण विपर्यय के उदाहरणों को चार वर्गों में बांटा है। यह वर्णान्तरण काफी हद तक पूर्ण कहा जा सकता है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यञ्जन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तनोर (गी० भा० २१ < ताम्बूल)

सहू (ल० प० क० ३ < अय० साहू < शश्वत्, पिशेल § ६४)

कुरवा (गी० भा० ५६ < कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँवलिय (प० वे० २५ < कँल < कमल)

भँवर (प० वे० २५ < भँवर < भ्रमर)

कुँवर (ह० पु० < कुवॉर < कुमार)

अँकवार (ह० पुराण < अकवॉर < अकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परीलति (स्व० पर्थ० < परीक्षित)

(२) सिमरौ (गी० भा० < समिरउँ < स्पृ)

(३) पचाजननु (गी० भा० ४३ < पानजन्य)

§ २८३. ध्य का भ रूपान्तर-अपभ्रंश की तरह ही ध्य का भ रूपान्तर हो गया है। आश्चर्य तो यह है कि ध्य > भ को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द बाद की ब्रजभाषा में कई स्थलों पर उचित न माने जाकर छोड़ दिये गए किन्तु आरम्भिक ब्रज में इस प्रकार के अपरिचित शब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए भावहिं (प्र० च० ७०६ < ध्यायति, तुलनीय हेम ४।४४०) जूभ (सज्ञा म० क० २ < जुम्भ < युध्य)।

§ २८४ मध्यग ट का ड में परिवर्तन—

तोडइ (ह० पुराण < श्रोडति पिशेल § ४८६)

जड़े (प्र० च० १६ < जडित)

सकड्ड (छी वा० १० < सकट)

घडन (छी० वा० १३ < घट)

यह बहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम० ८।१।१६८)।

§ २८५. त्स > छः त्स का च्छ रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। आरम्भिक ब्रज में च् भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्स > छ के रूपान्तर मिलते हैं। जो एक कदम आगे के रूप हैं। उछग (ह० पुराण < उच्छग < उत्सग) मछि (प० वे० १६ < मच्छ < मत्स्य)।

§ २८६. स्त > य-परिवर्तन भी सलक्ष्य है।

थुत (गी० भा० ६ < स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७ < हस्तिनापुर)

वर्ण-विपर्यय

§ २८७ वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति न य आर्यभाषाओं में पाई जाती है। जैसे मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रंश में भी इसका किंचित् रूप दिखाई पड़ता है। डा० तेसीतोरी ने वर्ण विपर्यय के उदाहरणों को चार वर्गों में बांटा है। यह वर्णान्तरण काफी हद तक पूर्ण कहा जा सकता है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यञ्जन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तबोर (गी० भा० २१ < ताम्बूल)

सहू (ल० प० क० ३ < अप० साहू < शश्वत्, पिशेल § ६४)

कुरवा (गी० भा० ५६ < कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँवलिय (प० वे० २५ < कँल < कमल)

भँवर (प० वे० २५ < भँवर < भ्रमर)

कुँवर (ह० पु० < कुवरै < कुमार)

अँक्वार (ह० पुराण < अक्वरै < अकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परीछति (स्व० पर्य० < परीक्षित)

(२) सिमरी (गी० भा० < समिरउँ < स्मृ)

(३) पचाजननु (गी० भा० ४३ < पाचजन्य)

(३) इन्द्रिण ओगुन भरिया (प० वे० ६३) इन्द्रिया ओगुन भरी है।

(४) सरनि पूरन लागे (गी० भा० ४५) सखो से भरने लगे।

विभक्ति

§ २८१ अभिकाशत परवता ब्रज की तरह आरम्भिक ब्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग पाये जाते हैं। किन्तु ब्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी सुरक्षित हैं। यह ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है, कि उसमें खड़ी बोली की तरह केवल परसर्गों का ही नहीं विभक्तियों के भी प्रयोग बचे रहे। कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है।

कर्म हिं

(१) तिहहिं चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन

(२) कैमासहिं अहमिति होइ (रा० वार्ता ५) कर्म, एक वचन

(३) तिहहिं कियो प्रणाम (ह० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण हिं 'ए'

(१) दीउ पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से

(२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवान्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई।

(३) अर्धचन्द्र तिहिं साधित प्र० च० ४०२ उसने साधा

पछा 'ह'

(१) बणह मभारि (प्र० च० १३७)

(२) पदमह तणउ (प्र० च० १०)

अधिकरण—'हि', 'इ', 'ऐ'

कुरुलेतहि (स्प० ३) मनहिं लगाइ (छि० वाता १२८)

मनि च्यते (प० वे० २८) सरोवरि (प० वे० ३२)

रावलि (ह० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहिं अग्रतरिउ (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§ २९२ उत्तमपुरुष—प्राचीन ब्रज में उत्तम पुरुष सर्वनाम में दोनों रूप 'मैं' और 'हैं' पाये जाते हैं। कुछ पुराने लेखों में अपभ्रंश का हउ रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउ के विकसित रूप हौं की है। मइँ का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है।

(१) हउ सतिहीन म लखउ खारि (प्र० च० ७०२)

(२) मैं जु कथा यह कही (गी० भा० ३)

(३) हौं न घाउ धालें (गी० भा० ५६)

(४) फुरमान मइँ दीउगा (रा० वार्ता ४६)

(५) पूर्वज म मइँ कादउँ कियउ (प्र० च० १३६)

(६) कि मइँ पुरुष विछोही नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौं, मइँ और मैं इन चारों रूपों के उदाहरण दिये गए हैं। प्राचीन ब्रज भाषा की आरम्भिक रचनाओं में अपभ्रंश रूप हउ (हेम० ४।३३८) और मइँ (हेम० ४।३३०) भी वर्तमान थे किन्तु परवता रचनाओं में इनके विकसित रूप हौं और मैं ही प्राप्त होते हैं।

(३) इन्द्रिय ओगुन भरिया (प० वे० ६३) इन्द्रिया ओगुन भरी है।

(४) सरनि पूरन लागे (गी० भा० ४५) सखों से भरने लगे।

विभक्ति

§ २८१ अधिकांशतः परवता ब्रज की तरह आरम्भिक ब्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग पाये जाते हैं। किन्तु ब्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी सुरक्षित हैं। यह ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है, कि उसमें खड़ी बोली की तरह फेवल परसर्गों का ही नहीं विभक्तियों के भी प्रयोग बचे रहे। कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है।

कर्म 'हि'

(१) तिहहिं चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन

(२) कैमासहिं अहमिति हाइ (स० वार्ता ५) कर्म, एक वचन

(३) तिहहिं कियो प्रणाम (ह० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण 'हि' 'ए'

(१) दोउ पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से

(२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवाच्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई।

(३) अर्धचन्द्र तिहिं साधित प्र० च० ४०२ उसने साधा

पष्ठा 'इ'

(१) वणइ मभारि (प्र० च० १३७)

(२) पदमइ तणउ (प्र० च० १०)

अधिकरण—'हि', 'इ', 'ऐ'

कुरुखेतहि (स० ३) मनहिं लगाइ (छि० वार्ता १२८)

मनि च्यते (प० वे० २८) सरोवरि (प० वे० ३२)

रावलि (ह० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहिं अतरिउ (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§ २९२ उत्तमपुरुष—प्राचीन ब्रज में उत्तम पुरुष सर्वनाम में दोनों रूप 'मैं' और 'हैं' पाये जाते हैं। कुछ पुराने लेखों में अपभ्रंश का हउ रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउ के विकसित रूप हैं की है। मई का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है।

(१) हउ मतिहीन म लावउ खारि (प्र० च० ७०२)

(२) मैं जु कथा यह कही (गी० भा० ३)

(३) हों न घाउ घालें (गी० भा० ५६)

(४) कुरमान मई दीउगा (ग० वार्ता ४६)

(५) पूर्वज म मई काइउं कियउ (प्र० च० १३६)

(६) कि मई पुरुष विछोही नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौ, मइ और मैं इन चारों रूपों के उदाहरण दिये गए हैं। प्राचीन ब्रज भाषा की आरम्भिक रचनाओं में अपभ्रंश रूप हउ (हेम० ४।३३८) और मइ (हेम० ४।३३०) भी वर्तमान थे किन्तु परवता रचनाओं में इनके विकसित रूप हैं और मैं ही प्राप्त होते हैं।

में के सदृश हैं (देखिये पुरानो राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डा० धीरेन्द्रवर्मा प्राकृत महक्केरो रूप से मानते हैं ।

§ २६५. बहुवचन के हम, हमारी आदि रूप भी मिलते हैं ।

- (१) हम तुम अयो नरायन देव (ह० पु०)
- (२) हमार राजा पै वस दयाउ (रा० वार्ता० ४)
- (३) ए सब सुद्ध हमारे देव (गी० भा० ४८)
- (४) इन भारै हमकों फल कौन (गी० भा० ५६)

‘हम’ उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है । हमारी, हमार, हमारे आदि इसी के विकृत रूपान्तर हैं । हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे <स० अम्मे से किया जाता है । हमारी आदि रूप महक्कारो <स० अरमत्कार्यक. से विकसित हो सकते हैं । (देखिये तेसीतरी पुरानी राजस्थानी § ८४) ।

§ २६६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्रायः उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं । मूल रूप तुम, तू हैं जो अपभ्रंश के तुहुँ (हेम० ४।३३०) <संस्कृत त्वम् से निवृत्त हुआ है ।

- (१) अब यह राज तात तुम्ह लेहु (स्वर्गारोहण ५)
- (२) जसु राखणहारा तू दई (छी० वा० ४।६)
- (३) तुम जनि वीर घरौ सन्देह (स्व० पर्य०)
- (४) जेहि ठा तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहि आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

- (१) तो विष्णु अवरन को सरण (छी० वा० ३।६)
- (२) तो विनु और न कोऊ मेरो (रु० म०)
- (३) तो सम जाही छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)
- (४) तोहि विनु मो जग पालट मयौ (ह० पुराण)
- (५) तेहि विनु नयन ढलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं । तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश <तुहुँ <अम्मे से समव है । (देखिये हि० भाषा का इतिहास § २६१) मूलतः ये भी पड़ी के ही विकारी रूप हैं । ‘तो’ सर्वनाम पड़ी में भी प्रयुक्त होता है । तो मन की जानत नहीं । आदि ।

सम्बन्धो-सम्बन्ध विकारी रूप

- (१) तेरै सनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)
- (२) न्याय गरुभक्षण तेरउ (छी० वा० १७)
- (३) साय तुम्हारे चलिहो राई (स्व० प०)
- (४) निस दिन सुमिरन करत तिहारो (रु० म०)

में के सदृश हैं (देखिये पुरानी राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डा० धीरेन्द्रवर्मा प्राकृत महेकेरो रूप से मानते हैं ।^१

§ २६५. बहुवचन के हम, हमारी आदि रूप भी मिलते हैं ।

- (१) हम तुम जयो नरायन देव (ह० पु०)
- (२) हमार राजा पै वस दयाउ (रा० वार्ता० ४)
- (३) ए सब सुद्ध हमारे देव (गी० भा० ४८)
- (४) इन भारै हमको फल कौन (गी० भा० ५६)

‘हम’ उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है । हमारी, हमार, हमारे आदि इसी के विकृत रूपान्तर हैं । हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे < स० अम्मे से किया जाता है । हमारी आदि रूप महेकारो < स० *अस्मत्कार्यक. से विकसित हो सकते हैं । (देखिये तेसीतोरी पुरानी राजस्थानी § ८५) ।

§ २६६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्रायः उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं । मूल रूप तुम, तू हैं जो अपभ्रंश के तुहुँ (हेम० ४।३३०) < सस्कृत त्वम् से निवृत्त हुआ है ।

- (१) अब यह राव तात तुम्ह लेहू (स्वर्गरोहण ५)
- (२) जसु राखणहारा तू दई (छी० वा० ४।६)
- (३) तुम जनि वीर धरौ सन्देहू (स्व० पर्व०)
- (४) जेहि ठा तुम्ह तैह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहि आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

- (१) तो विणु अवरन को सरण (छी० वा० ३।६)
- (२) तो विनु और न कौऊ मेरो (रु० म०)
- (३) तो सम नाही छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)
- (४) तोहि विनु मो जग पालट मयौ (ह० पुराण)
- (५) तोहि विनु नयन टलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं । तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश < तुहुँ < *तुम्मे से समव है । (देखिये हि० भाषा का इतिहास § २६१) मूलतः ये भी पढ़ी के ही विकारी रूप हैं । ‘तो’ सर्वनाम पढ़ी में मी प्रयुक्त होता है । तो मन की जानत नहीं । आदि ।

सम्बन्धो-सम्बन्ध विकारी रूप

- (१) तेरै सनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)
- (२) न्याय गरअलग तेरउ (छी० वा० १७)
- (३) साय तुम्हारे चलिहो राई (स्व० प०)
- (४) निस दिन मुभिरन करत तिहारो (रु० म०)

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २६२

(२) तेइ घणी सही तिस भूषा (प० वे० ५)

(३) ते सुकृत सलिल समोपौ (प० वे० ६४)

तेइ संस्कृत तधि* > तहि > तइ > तेइ का रूपांतर हो सकता है (चाटुर्ज्या, उक्ति व्यक्ति § ६३) तिहि तदि का ही रूप है।

§ २६६ ता, ताकों आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप सैल मम जाई (स्व० रो०)

(२) ताकों रूप न सकौ बलानि (वै० पचीसी ३)

(३) ता मानिक सुत सुत को नद (वै० प०)

(४) ता घर भान मढामरु तिसै (गो० भा० ७)

इन रूपों में 'ता' व्रजभाषा का प्रसिद्ध साधित रूप है जो भिन्न भिन्न परसर्गों के साथ कई कारकों में प्रयुक्त होता है। वैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलतः पद्यों में ही प्रयुक्त होता है। पद्यी ताह (अपभ्रंश) से संकुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६३)।

३०० तामु, तिसी, तिहि, तही, ताही आदि सम्बन्ध संबंधी विकारी रूप—

(१) करि कागद मइ चिनो तिसी (छि० वार्ता० १३५)

(२) तिह नेबर सुनि फेरी दीठि (छि० वा० १३१)

(३) नारद गिरि गो तिहि टाई (प्र० च० २६)

(४) ताही को भावै वैराग (गो० भा० २२)

(५) लिखत ताहि भान गुन ताहि (गो० भा० २०)

(६) तिस कउ अन्त कोइ नहिं छहई (प्र० च० १)

(७) तास चीहइ नहिं कोई (छी० वा० १)

स० तस्य > अप० तस्स > तमु > तामु। तिसी, तामु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्य कालीन ई प्रत्यय से बनाया गया।

§ ३६१ बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते सुरनर घणा विगूता (प० वे० १२)

(२) तिह मुनिष जनम विगूते (प० वे० २४)

(३) कुटिल वचन तिन कहे बहुत (गो० भा० ३४)

(४) सास ससुर ते आहि अपार (गो० भा० ५४)

तिह और तिन रूप मूलतः वर्तुकरण के प्राचीन तेण के विकार हैं। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणमू + हि विभक्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते संस्कृत के प्राचीन ते से संबद्ध है।

विकारी रूप—

(१) ति दहि चरावति वौह उचाइ (छि० वार्ता १४२) कर्म

(२) तैं कैसे वैविण सप्राम (गो० भा० ५४) कर्म

(३) तिन समान दूजो नहिं आन (गो० भा० ३०) करण

(४) तिन की बात सु सज्जय भनै (गो० भा० ३२) सम्बन्ध

(२) तेइ घणी सही तिस भूषा (प० वे० ५)

(३) ते सुकृत सलिल समोयौ (प० वे० ६४)

तेइ सस्कृत तधि* > तदि > तइ > तेइ का रूपांतर हो सकता है (चाटुर्ज्या, उक्ति व्यक्ति § ६९) तिहि तदि का ही रूप है।

§ २६६ ता, ताको आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप सैल सम जाई (स्व० रो०)

(२) ताको रूप न सकौ बलानि (वै० पन्नीसी ३)

(३) ता मानिक सुत सुत को नद (वै० प०)

(४) ता घर भान मरामरु तिसै (गो० भा० ७)

इन रूपों में 'ता' व्रजभाषा का प्रसिद्ध साधित रूप है जो भिन्न भिन्न परसर्गों के साथ कई कारकों में प्रयुक्त होता है। वैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलतः षष्ठी में ही प्रयुक्त होता है। षष्ठी ताह (अपभ्रंश) से संकुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६१)।

३०० तामु, तिसी, तिहि, तही, ताही आदि सम्बन्ध संबंधी विकारी रूप—

(१) करि कागद मद चिनो तिसी (छि० वार्ता० १३५)

(२) तिह नेवर सुनि फेरी दीठि (छि० बा० १३१)

(३) नारद गिसि गो तिहि ढाई (प्र० च० २६)

(४) ताही को भावै वैराग (गो० भा० २२)

(५) लिखत ताहि भान गुन ताहि (गो० भा० २०)

(६) तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई (प्र० च० १)

(७) तास चीहइ नहिं कोई (छी० वा० १)

स० तस्य > अप० तस्स > तमु > तामु। तिसी, तामु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्य कालीन ई प्रत्यय से बनाया गया।

§ ३६१ बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते सुरनर घणा विगूता (प० वे० १२)

(२) तिह मुनिष जनम विगूते (प० वे० २४)

(३) कुटिल वचन तिन कहे बहूत (गो० भा० ३४)

(४) सास ससुर ते आहि अपार (गो० भा० ५४)

तिह और तिन रूप मूलतः कर्तृकरण के प्राचीन तेण के विकार हैं। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणम् + हि विभक्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते सस्कृत के प्राचीन ते से संबद्ध है।

विकारी रूप—

(१) ति इहि चरावति नौह उचाइ (छि० वार्ता १४२) कर्म

(२) तैं कैसे वैविष्ट सप्राम (गो० भा० ५४) कर्म

(३) तिन समान दूजो नहिं आन (गो० भा० ३०) करण

(४) तिन की बात सु सज्जय भनै (गो० भा० ३२) सम्बन्ध

- (२) एह बेल न संभल्यो आन (इ० पु० ६)
- (३) इह स्वर्गारोहण की क्या (स्व० रो०)
- (४) इह रंभा कह अपछर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्रायः इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एह, इह, यह आदि रूप अग्रश के एहु (हेम० ४।३६२) से निकसित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डा० चाटुर्ज्या एत् से जोड़ते हैं जिसके तीन रूप एघः, एपा और एतद् बनते हैं (वै० लै० ६।५६६) कभी कभी इह का सङ्कुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रग्यो ऐसो (प० वे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती ब्रज में भी होता था (देखिए ब्रजभाषा ६।१७४)

विकारी रूप या, याहि, आदि। या ब्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसगों के साथ बनते हैं।

- (१) अब या कउ देखियउँ पराण (प्र० च० ४०३)
- (२) अब या भयौ मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)
- (३) सुनउ क्या या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)
- (४) या तैं समझै सारु असारु (गी० भा० २८)
- (५) या ही लागि हों सेवों (गी० भा० ५७)

६।३०४. सम्बन्ध के यासु, इसो आदि रूप—

- (१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप स० एत-अत्य > प्रा० एवस्स से सम्बन्धित मालूम होता है। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एतस्य से मानते हैं देखिए (हि० भा० इतिहास ६।२६३)।

बहुवचन—ये, इन

- (१) ये नैन दुवै वसि रायै (पं० वे० ४८)
- (२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३६)
- (३) ए दुर्बुद्ध अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)
- (४) छीहल अकारण ए सयै (छी० वा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० आ० भाषा के एत् > म० का० एअ > ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी ६।६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसगों का प्रयोग होता है—

- (१) येधू इनमें एकै लहै (गी० भा० १७)
- (२) इन मारे निमुन को राज (गी० भा० ५५)
- (३) इन में को है (स० वा० २१)

इन सर्वनाम सं० एतानाम > एआण > एण्ह अय० > एन्ह > इन्ह > इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

६।३०५. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन—जो,

- (१) एकादसी सहस्र जो करे (म० क० १६५)
- (२) विनमें रोगी कुपथ जो करई (म० क० ३)

- (२) एह बेल न संभल्यो आन (इ० पु० ६)
- (३) इह स्वर्गारोहण की क्या (स्व० रो०)
- (४) इह रंभा कह अपछर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्रायः इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एह, इह, यह आदि रूप अथर्वश के एहु (हेम० ४।३६२) से विकसित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डा० चाटुर्ज्या एत् से जोड़ते हैं जिसके तीन रूप एषः, एषा और एतद् बनते हैं (वै० लै० ६।५६६) कभी कभी इह का सङ्कुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रग्यो ऐसो (प० वे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती ब्रज में भी होता था (देखिए ब्रजभाषा ६।१७४)

विकारी रूप या, याहि, आदि। या ब्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसगों के साथ बनते हैं।

- (१) अब या कउ देखियउँ पराण (प्र० च० ४०३)
- (२) अब या भयौ मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)
- (३) सुनउ क्या या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)
- (४) या तैं समझै सार असार (गी० भा० २८)
- (५) या ही लगि हों सेवों (गी० भा० ५७)

६।३०४. सम्बन्ध के यासु, इसो आदि रूप—

- (१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप स० एत-अत्य > प्रा० एअस् से सम्बन्धित मालूम होता है। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एतस्य से मानते हैं देखिए (हि० भा० इतिहास ६।२६३)।

बहुवचन—ये, इन

- (१) ये नैन दुबै यसि रावै (पं० वे० ४८)
- (२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३६)
- (३) ए दुर्बुद्ध अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)
- (४) छीदल अकारण ए सपै (छी० वा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० आ० भाषा के एत् > म० वा० एअ > ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी ६।६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसगों का प्रयोग होता है—

- (१) येधू इनमें एकै लहै (गी० भा० १७)
- (२) इन मारे त्रिमुन को राज (गी० भा० ५५)
- (३) इन में को है (रा० वा० २१)

इन सर्वनाम सं० एतानाम > एआण > एण्ह अप० > एन्ह > इन्ह > इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

६।३०५. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन—जो,

- (१) एकादसी सहस्र जो करे (म० क० १६५)
- (२) विनमें रोगी कुपध जो करई (म० क० ३)

ब्रजभाषा § १८७) किन के रूप आरम्भिक ब्रज में मिलते हैं जो उपर्युक्त उदाहरणों में दिखाई पड़ते हैं। सख्या अवश्य ही अपेक्षाकृत कम है।

§ ३०७. अघ्राणि सूचक प्रश्न वाचक सर्वनाम के रूप—कहा, काहि।

- (१) कहा काहि अहु (छि० वार्ता ११३)
- (२) कहा बहुत करि कीजै आनु (गी० भा० २६)

§ ३०८ अनिश्चय वाचक सर्वनाम

- (१) तिस कउ अन्त कोउ नहि लहई (प्र० च० २)
- (२) तुम विनु और न कोऊ मेरो (६० म०)
- (३) इहि ससार न कोऊ रह्यो (गी० भा० २५)

कोऊ ही ब्रज का मुख्य रूप है। कोई का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में नहीं दिखाई पड़ता। परवता ब्रज में (मध्यकालीन) भी इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं था (देखिये ब्रजभाषा § १६१)

विकृत रूपान्तर—काहु, किस

- (१) मानत कहा न काहु की (स्व० रोहण ६)
- (२) काहु करुना ऊपर चाऊँ (गी० भा० २३)

‘किस्यो’ रूप भी मिलता है। यह रूप डा० वर्मा के अनुसार खड़ीबोली के किस का सशोधित रूपान्तर है (ब्रजभाषा § १६२) किन्तु इसे अपभ्रंश कस्स > किस से सम्बन्धित भी कहा जा सकता है।

- (१) किस्यो देख्यो (रा० वा० ४५)

इस रूप का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में अत्यल्प दिखाई पड़ता है।

§ ३०९ अचेतन अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप

- (१) कछू सो भोग जानिबे (रा० वा० २)
- (२) कछू न रुके हिये मभार (गी० भा० ५८)

§ ३१० निजवाचक तथा आदरार्थक सर्वनाम

आपणे, आपनो, अपनी आदि रूप

- (१) तेउ रायि सरे न आपणे (प्र० च० ४०६)
- (२) परजा सुखी कीजै आपणी (इ० पुराण)
- (३) करइ आलोच मरम आपणा (ल० प० क० १३)
- (४) हौं न बिजै चाहौ आपौ (गी० भा० ५२)
- (५) इन्द्री राखहु तनइ अम्प बसि (छी० वा० २)
- (६) भीड सहइ तन आप (छी० वा० ५)

ये सभी रूप सङ्कृत आत्मन् > अण् > अण् से निर्मित हुए हैं। अपभ्रंश में इसी का अण्ण (हिम० ४।४२२) रूप मिलता है जो ब्रज में आपन, आपनो आदि रूपों में विकसित हुआ।

करिहऊ निज सुजत (छी० वा० १०)

ब्रजभाषा § १८७) किन के रूप आरम्भिक ब्रज में मिलते हैं जो उपर्युक्त उदाहरणों में दिखाई पड़ते हैं। सख्या अवश्य ही अपेक्षाकृत कम है।

§ ३०७. अप्राणि सूचक प्रश्न वाचक सर्वनाम के रूप--कहा, काहि।

- (१) कहा काहि अहु (छि० वार्ता ११३)
- (२) कहा बहुत करि कीजै आनु (गी० भा० २६)

§ ३०८ अनिश्चय वाचक सर्वनाम

- (१) तिस कउ अन्त कोउ नहिं लहई (प्र० च० २)
- (२) तुम विनु और न कोऊ मेरो (६० म०)
- (३) इहि ससार न कोऊ रह्यो (गी० भा० २५)

कोऊ ही ब्रज का मुख्य रूप है। कोई का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में नहीं दिखाई पड़ता। परवता ब्रज में (मध्यकालीन) भी इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं था (देखिये ब्रजभाषा § १६१)

विकृत रूपान्तर--काहु, किस

- (१) मानत कल्या न काहु की (स्व० रोहण ६)
- (२) काहु करना ऊपर चाऊँ (गी० भा० २३)

‘किस्यो’ रूप भी मिलता है। यह रूप डा० वर्मा के अनुसार खड़ीबोली के किस का सशोधित रूपान्तर है (ब्रजभाषा § १६२) किन्तु इसे अपभ्रंश कस्त > किस से सम्बन्धित भी कहा जा सकता है।

- (१) किस्यो देख्यो (रा० वा० ४५)

इस रूप का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में अत्यल्प दिखाई पड़ता है।

§ ३०९ अचेतन अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप

- (१) कछू सो भोग जानिबे (रा० वा० २)
- (२) कछू न सुके हिये मभार (गी० भा० ५८)

§ ३१० निजवाचक तथा आदरार्थक सर्वनाम

आपणे, आपनो, अपनी आदि रूप

- (१) तेउ रापि सरे न आपणे (प्र० च० ४०६)
- (२) परजा सुखी कीजै आपणी (इ० पुराण)
- (३) करइ आलोच मरम आपणा (ल० प० क० १३)
- (४) हौं न बिजै चाहौ आपौ (गी० भा० ५२)
- (५) इन्द्री राखहु सवइ अप्य वसि (छी० वा० २)
- (६) भीड सहइ तन आप (छी० वा० ५)

ये सभी रूप सत्कृत आत्मन् > अप्पण > अप्य से निर्मित हुए हैं। अपभ्रंश में इसी का अप्पण (हिम० ४।४२२) रूप मिलता है जो ब्रज में आपन, अपनी आदि रूपों में विकसित हुआ।

करिहऊ निज सुखत (छी० वा० १०)

(२) गीता ज्ञान होन नरु इसौ (गी० भा० २७)

सं० एतादृश > प्रा० एदिस > एइस > अइस > ऐसा, ऐसे आदि ।

(१) कइमइ मान भग या होइ (प्र० च० ३४)

(२) देखा सगुन कैसे वरवीर (गी० भा० ५१)

(३) दिन्ह कौ कैसे सुनू पुराण (इ० पु० ७)

कीदृश > कईस > कइस > कैसा

(१) तैसे सन्त लेहु तुन जानि (गी० भा० ३)

(२) तो यह मोरै हैइ तैसैं (गी० भा० ३०)

सं० तादृश > प्रा० तादिस > तइस > तैसा-

(१) कइयो प्रश्न अरुन को जैसे (गी० भा० ३०)

(२) सार माहि बतु बाध्यौ जिनो (गी० भा०)

यादृश > याईस > अइस > जैसा ।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विषय में डा० तेसीतोंरी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अयादान कारक की संज्ञायें हैं अथवा विशेष्य और वृद्धन्त । जिस सहा के साथ इनका प्रयोग होता है ये उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस सहा को संबन्ध कारक का रूप धारण करना होता है । अथवा कभी कभी अधिकरण और करण कारक का भी । इनमें से तिउँ या सौ तथा प्रति अव्यय हैं (पुरानी राजस्थानी § ६८) आरंभिक ब्रजभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है । अरभ्रश की तरह केवल द्योतक शब्दों का ही नहीं, बल्कि अन्य पूर्ण तत्सम या तद्भव पूर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है ।

कर्तृ परसर्ग—नै

§ ३१४ कर्ता कारक में नै का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है । यद्यपि यह मर्यादा अत्यन्त है ।

(१) राजा नै आइस दीन्हों (रा० ल० वार्ता० १४)

(२) सावंत ने स्नान कीयो (रा० ल० वार्ता० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वीं शती तक की भाषा में कहीं नहीं दिखाई पड़ता । ऊपर के उदाहरण रासो लघुतम वार्ता की वचनिकाओं से लिए गए हैं । इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते हैं । फिर भी ने का प्रयोग संस्कृत्य है । कीर्तिशता की भाषा को छोड़कर १५वीं शती के पहले की शायद ही किसी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले । कीर्तिशता में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्ने रूप में आते हैं । इस प्रकार सहा के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं । नरहरि भट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'न्हे' आया है (देखिये § २३१)

§ ३१५. कर्म परसर्ग—कहुँ, कौ, को, को, कूं, कँउ

तिन्हि कहुँ बुद्धि (प्र० च० १) गुणियन कौ है (गी० भा० २)

राखन को श्रवतरो (गी० भा० ५)

ताहीं को भावै वैराग (गी० भा०) सायर को तरै (गी० भा० २६)

(२) गीता ज्ञान होन नरु इसौ (गी० भा० २७)

सं० एतादृश > प्रा० एदिस > एइस > अइस > ऐसा, ऐसे आदि ।

(१) कइमइ मान भग या होइ (प्र० च० ३४)

(२) देखा सगुन कैसे वरवीर (गी० भा० ५१)

(३) तिन्ह कौ कैसे सुनू पुराण (ह० पु० ७)

कीदृश > कईस > कइस > कैसा

(१) तैसे सन्त लेहु तुन जानि (गी० भा० ३)

(२) तो यह मोरै हैइ तैसे (गी० भा० ३०)

सं० तादृश > प्रा० तादिस > तइस > तैसा-

(१) कइयो प्रश्न अर्जुन को जैसे (गी० भा० ३०)

(२) सार माहि वनु बाध्यौ जिनो (गी० भा०)

यादृश > याईस > बइस > जैसा ।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विषय में डा० तेसीतोंरी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अभादान कारक की संज्ञायें हैं अथवा विशेषण और कृदन्त । जिस सहा के साथ इनका प्रयोग होता है ये उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस सहा को संबन्ध कारक का रूप धारण करना होता है । अथवा कभी कभी अधिकरण और करण कारक का भी । इनमें से तिउँ या सौ तथा प्रति अव्यय हैं (पुष्पनी राजस्थानी § ६८) आरंभिक ब्रजभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है । अरभ्रश की तरह केवल द्योतक शब्दों का ही नहीं, बल्कि अन्य पूर्ण तत्सम या तद्भव पूर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है ।

कर्तृ परसर्ग—नै

§ ३१४ कर्ता कारक में नै का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है । यद्यपि यह मर्यादा अत्यन्त है ।

(१) राजा नै आइस दीन्हों (रा० ल० वार्ता० १४)

(२) सावंत ने स्नान कीयो (रा० ल० वार्ता० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वीं शती तक की भाषा में कहीं नहीं दिखाई पड़ता । ऊपर के उदाहरण रासो लघुतम वार्ता की वचनिकाओं से लिए गए हैं । इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते हैं । तिर भी ने का प्रयोग संस्कृत है । कौर्तिस्ता की भाषा को छोड़कर १५वीं शती के पहले की शायद ही किसी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले । कौर्तिस्ता में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्ने रूप में आते हैं । इस प्रकार सहा के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं । नरहरि भट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'न्हे' आया है (देखिये § २३१)

§ ३१५. कर्म परसर्ग—कहुँ, कौ, को, कौ, कूं, कँउ

तिन्हि कहुँ बुद्धि (प्र० च० १) गुणियन कौ है (गी० भा० २)

राखन को श्रवतये (गी० भा० ५)

ताहीं को भावै वैराग (गी० भा०) सायर को तरै (गी० भा० २६)

अधिकरण में मुख्य रूप से मध्य से विकसित मज्झि, मदि, मह, में वाले रूप मिलते हैं। उपरि के पर और पै का भी बहुत प्रयोग होता है। अन्त, अन्तर जैसे कुछेक पूर्ण शब्द भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त हुए हैं।

§ ३२०. सम्बन्ध तणउ, कउ, कौ, को, के, की (स्त्रीलिंग) तगी, तगउ

पद्मह तणउ (प्र० च० १०)

तिम कउ अन्त (प्र० च० २) लोअण कौ विस्तारा (प्र० च० १५)

मीचु को ठाई (प्र० च० ४०६) जनमेजय के रात्रि (द० पु० ५)

जाके चरन (द० मं० २) भीषम नृप की लाडली (रु० म०)

चितइ चिन तन (छि० वार्ता १२४) करम तणो (छी० वा० १८)

कउ, कौ, को, के, की आदि परसर्ग स० कृतः > प्रा० केरो > या केरक > अर० केरउ से विकसित हुए हैं।

तन, तणउ, तनी आदि रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में काफी विवाद है। बौम्स इनकी उत्पत्ति तन > तण (प्रत्यय सनातन, पुरातन) से मानते हैं। केलग ने इसका विरोध किया। सज्ञा या विशेषण से बनने वाले परसर्गों को देखते हुए किसी प्रत्यय से परसर्ग का विकसित होना नियम विरोध जैसा भाव्य होता है।^१ इसीलिए डा० तेसीतोरी ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के अनुमानित रूप आत्मनक से की।^२ आत्मनक > अणणउ > तणउ (दे० पुरानी राजस्थानी § ७३)।

§ ३२१ परसर्गों के प्रयोग में कहीं कहीं व्यत्यय भी दिखाई पड़ता है।

अधिकरण का परसर्ग करण में

का पह सीख्यो (प्र० च० ४०६)

मो पै होइहै तैसे (गो० भा० ३)

वेद व्यास पहि सुन्यौ (गो० भा० ६३)

सयुक्त—कभी कभी दो कारकों के परसर्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।

जैसे—तिन को लैं अति मुख पाइये (रु० मंगल)

विशेषण

§ ३२२ विशेषणों की रचना में प्राचीन व्रजभाषा मध्यकालीन या नवीन व्रजभाषा से बहुत भिन्न नहीं है। विशेषणों का निर्माण संस्कृत या अवधरा पद्धति से थोड़ा भिन्न अवश्य है क्योंकि रूप-निर्माण की दृष्टि से प्राचीन आर्य भाषा के विशेषणों की तरह, विशेष्य के लिंग, वचन आदि का अनुसरण करते हुए भी इनके स्वरूप में सर्वत्र कोई निश्चित परिवर्तन नहीं होता। कई स्थलों पर तो ये लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं। कहीं नहीं भी होते जैसे सुन्दर लडका, सुन्दर लडकी आदि। नीचे कुछ थोड़े से महत्वपूर्ण विशेषण-रूप उपस्थित किये जाते हैं। इनमें पहला पद विशेषण है दूसरा विशेष्य।

बड़ी वार (प्र० च० ३२) उत्तम ठाऊँ (म० क०। विकट दन्त (दे० प० १) अनूप कथा (दे० प०) चकित चित्त (छि० वार्ता १२०) सुधर जीवन (छि० वार्ता १३६) कुनुची

अधिकरण में मुख्य रूप से मध्य से विकसित मन्त्रि, मदि, मह, में वाले रूप मिलते हैं। उपरि के पर और पै का भी बहुत प्रयोग होता है। अन्त, अन्तर जैसे बृहत्क पूर्ण शब्द भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त हुए हैं।

§ ३२०. सम्बन्ध तणउ, कउ, कौ, को, के, की (स्त्रीलिंग) तणी, तणउ

पद्मह तणउ (प्र० च० १०)

तिम कउ अन्त (प्र० च० २) लोचन की विस्तार (प्र० च० १५)

मीचु को ठाई (प्र० च० ४०६) जनमेजय के शक्ति (इ० पु० ५)

जाके चरन (इ० मं० २) भीषम नृप की लाडली (इ० मं०)

चितइ चिन तन (छि० वार्ता १२४) करम तणी (छी० वा० १८)

कउ, कौ, को, के, की आदि परसर्ग स० कृतः > प्रा० केरो > या केरक > अर० केरउ से विकसित हुए हैं।

तन, तणउ, तनी आदि रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में काफी विवाद है। बीम्स इनको उत्पत्ति तन > तण (प्रत्यय सनातन, पुरातन) से मानते हैं। केलग ने इसका विरोध किया। सज्ञा या विशेषण से बनने वाले परसर्गों को देखते हुए किसी प्रत्यय से परसर्ग का विकसित होना नियम विरोध जैसा मादूम होता है।^१ इसीलिए डा० तेसीतूरी ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के अनुमानित रूप आत्मनक से की।^२ आत्मनक > अप्पणउ > तणउ (दे० पुरानी राजस्थानी § ७३)।

§ ३२१ परसर्गों के प्रयोग में कहीं कहीं व्यत्यय भी दिखाई पड़ता है।

अधिकरण का परसर्ग करण में

का पद सीख्यो (प्र० च० ४०६)

मो पै होइहै तैसे (गी० भा० ३)

वेद व्यास पहि सुन्यौ (गी० भा० ६३)

सयुक्त—कभी कभी दो चारकों के परसर्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।

जैसे—तिन को तैं अति सुख पाइये (इ० मंगल)

विशेषण

§ ३२२ विशेषणों की रचना में प्राचीन व्रजभाषा मध्यकालीन या नवीन व्रजभाषा से बहुत भिन्न नहीं है। विशेषणों का निर्माण संस्कृत या अवग्राह्य पद्धति से थोड़ा भिन्न अवश्य है क्योंकि रूप-निर्माण की दृष्टि से प्राचीन आर्य भाषा के विशेषणों की तरह, विशेष्य के लिंग, वचन आदि का अनुसरण करते हुए भी इनके स्वरूप में सर्वत्र कोई निश्चित परिवर्तन नहीं होता। कई स्थलों पर तो ये लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं। कहीं नहीं भी होते जैसे सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की आदि। नीचे कुछ थोड़े से महत्वपूर्ण विशेषण-रूप उपस्थित किये जाते हैं। इनमें पहला पद विशेषण है दूसरा विशेष्य।

बड़ी चार (प्र० च० १२) उत्तम ठाऊँ (मं० क०) विकट टन्त (वै० प० १) अनूप कथा (वै० प०) चकित चित्त (छि० वार्ता १२०) सुपर जोवन (छि० वार्ता १३६) कुतुबी

- १००—सौ (प्र० च० ११) सै (ह० पुराण)
 १०१—एकौत्तर सइ (ल० प० क० ११)
 कोटि (म० क० २६६,) करोर (गी० भा० १)

§ ३२४. क्रम वाचक

- १—प्रथम (छी० वा० १५)
 २—दूजो (गी० भा० ११)
 ५—पंचमी (प्र० च० ११) स्त्रीलिंग
 ८—अष्टमी (छी० वा० ५३)
 ९—नवमी (ल० प० क० ४) स्त्रीलिंग

अपूर्ण संख्यावाचक

- ३ अर्ध (प्र० च० ४०३)

§ ३२५. आवृत्ति सख्यावाचक—

- चौगुनो (गी० भा० १३)

क्रियापद

सहायक क्रिया

§ ३२६. व्रजभाषा में संयुक्त क्रिया का बहुल प्रयोग होता है। संयुक्त क्रिया में सहायक क्रिया का अपना अलग महत्व है। सहायक क्रिया अस्तिनाचक क्रिया के रूपों से निर्मित होती है। व्रजभाषा में √भू और √*अच्छ (अछई ल० प० क० ९ अछै आदि रूप) धातु से बनी सहायक क्रियाएँ होती हैं। नीचे भू धातु से बनी सहायक क्रिया के विविध काल के रूप दिये जाते हैं।

सामान्यवर्तमान

- होइ, हुइ, हौं, होय, होहि (बहु)
 कवित न होइ (प्र० च० १) सो होइ (प्र० च० ५)
 होय थान (म० क० २६६) संवन्धी हैं (गी० भा० ५५)
 होहि, बहुवचन (वै० प०) देत हइ (रा० वा० ४८)

होइ, हुई, होय < अप० होइ < सं० भवति से बने हैं। होहि बहुवचन का रूप है।
 हैं रूप < अहइ < अछइ < *अक्षति से विकसित माना जाता है।

विधि आशार्थक रूप का कोई उदाहरण इन रचनाओं में नहीं मिला। संभवतः यह रूप होइजे, हूजै, हूजो, रहा होगा, ऐसे ही रूप अन्य क्रियाओं के आशार्थक में होते हैं। इसी से मिलते जुलते रूप पुरानी राजस्थानी में उपलब्ध होते हैं (देखिये तेसीतूरी पु० राज० § ११४)

भूत कृदन्त

§ ३२७. हुअउ, भयउ, भई (स्त्रीलिंग) भौ, भये, भयौ, हुउ

- सो दाढे भयऊ (प्र० च० २८) भई चितकाणि (प्र० च० ४०२) भौ ताम (प्र० च० ४०३) भयौ मोचु को (प्र० च० ४०६) खंड हे भयऊ (त्व० रो० ८) हजूर हुउ (रा० वा० ४८) हुअ उछाइ (ल० प० क० ५११) भई (छि० वार्ता १२७) भौ जिमि खौर (छि० वार्ता

- १००—सौ (प्र० च० ११) सै (ह० पुराण)
 १०१—पकोत्त सइ (ल० प० क० ११)
 कोटि (म० क० २६६,) करोर (गी० भा० १)

§ ३२४. क्रम वाचक

- १—प्रथम (छी० वा० १५)
 २—दूजो (गी० भा० ११)
 ५—पंचमी (प्र० च० ११) स्त्रीलिंग
 ८—अष्टमी (छी० वा० ५३)
 ९—नवमी (ल० प० क० ४) स्त्रीलिंग

अपूर्ण संख्यावाचक

- १ अर्ध (प्र० च० ४०३)

§ ३२५. आवृत्ति संख्यावाचक—

- चौगुनो (गी० भा० १२)

क्रियापद

सहायक क्रिया

§ ३२६. ब्रजभाषा में संयुक्त क्रिया का बहुल प्रयोग होता है। संयुक्त क्रिया में सहायक क्रिया का अपना अलग महत्व है। सहायक क्रिया अस्तिवाचक क्रिया के रूपों से निर्मित होती है। ब्रजभाषा में $\sqrt{\text{भू}}$ और $\sqrt{\text{अहृच्छ}}$ (अहृच्छ ल० प० क० ६ अहृ आदि रूप) धातु से बनी सहायक क्रियाएँ होती हैं। नीचे भू धातु से बनी सहायक क्रिया के विविध काल के रूप दिये जाते हैं।

सामान्यवर्तमान

- होइ, हुइ, हौं, होय, होहि (बहु)
 कवित न होइ (प्र० च० १) सो होइ (प्र० च० ५)
 होय थान (म० क० २६६) संबन्धी हैं (गी० भा० ५५)
 होहि, बहुवचन (वि० प०) देत हइ (रा० वा० ४८)

होइ, हुई, होय < अप० होइ < सं० भवति से बने हैं। होहि बहुवचन का रूप है।
 हैं रूप < अहइ < अहृइ < *अस्तुति से विकसित माना जाता है।

विधि आशार्थक रूप का कोई उदाहरण इन रचनाओं में नहीं मिला। संभवतः यह रूप होइजे, हूजै, हूजो, रहा होगा, ऐसे ही रूप अन्य क्रियाओं के आशार्थक में होते हैं। इसी से मिलते जुलते रूप पुरानी राजस्थानी में उपलब्ध होते हैं (देखिये तेसीतोरी पु० राज० § ११४)

भूत श्रुदन्त

§ ३२७. हुआउ, भयउ, मई (स्त्रीलिंग) भौ, भये, भयौ, हुउ

- सो दादे भयऊ (प्र० च० २८) भई चितकाणि (प्र० च० ४०२) भौ ताम (प्र० च० ४०३) भयौ मोचु को (प्र० च० ४०६) खंड ह्ये भयऊ (स्व० रो० ८) इजूर हुआउ (रा० वा० ४८) हुआउ उछाह (ल० प० क० ५।१) भई (छि० वार्ता १२७) भौ जिमि खोर (छि० वार्ता

एकवचन—सोइइ (प्र० च० १६) चलइ (प्र० च० ३३) मीजइ (प्र० च० १३६)
रोवइ (प्र० च० १३६) पाडै (ह० पु०) मुँरै (ह० पु०) मेलहै (ह० पु०) बिनसै (म० क० १)
करै (म० क० २६५) हौंडइ (ल० प० क० ७) देपै (छि० वार्ता १२६) बजावइ
(छि० वा० १३६)।

बहुवचन की क्रिया में हि विभक्ति अपभ्रंश में चलती थी, कुछ स्थानों पर हि विभक्ति सुरक्षित है। अहिं > अइं > ऐ के रूप में परिवर्तन भी हुआ है।

हि—कराहि (प्र० च० ७०६) जाहि (गी० भा० ३८) गुजहि (छी० वा० १७)

इ—लागइ (ह० पुराण २) जाइ (छि० वा० १२४) देपइ (छि० वा० १२४)

पीवइ (छी० वा० १०)।

ऐ—मनावै (वै० प० २)

ऐ—राखै (स्व० रो० ६) आवै (छि० वार्ता १२४)

वर्तमान कृदन्त से बना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३ वर्तमान कृदन्त के अत वाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था। संस्कृत अन्तकः > अ० अन्तउं > अत, अती के रूप में इनका विकास हुआ। पठन्त > पठन्तउ > पठत पढ़ती या पढ़ति। डा० तेसीतोरों का विचार है कि संभवतः अपभ्रंश में ही दन्त्य अनुनासिक व्यञ्जन दुर्जल हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ४।३८८ में उद्धृत करंतु और प्राकृतपैगलम् १।१३२ में उद्धृत जात से अनुमान किया जा सकता है। (पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्त वाले रूप भी अवदृष्ट में सुरक्षित हैं। किन्तु अन्त > अत की प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल दिखाई पड़ती है। बाद में ब्रजभाषा में अन्त वाले रूप प्रायः अत-अती वाले रूपों में बदल गए। कहीं कहीं अन्त वाले रूप मिलते हैं उन्हें अपभ्रंश का प्रभाव ही कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यहि छन्द सुगन्तु (ह० पु० ३०)

(२) घोर पाप पीडन्तु (ह० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण में अवदृष्ट की तरह अन्त वाले रूप ही मिलते हैं। बाद में १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे। उदाहरण—

(१) दुष सुख परत न दीठि (क० म० १)

(२) देवी पूजन क वर मागत (क० म०)

(३) मोहन महलन करत विलास (विष्णुपद)

(४) देखति फिरति चित्र चहुँपासि (छि० वार्ता १३२)

(५) तिन्हहिं चरावनि बाह उचाइ (छि० वार्ता १४२)

(६) आवति सपइ बार बार (छी० वा० ७)

इन रूपों में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिङ्ग में है। छीइल बावनी में अपभ्रंश के प्रभाव के कारण कुछ अतउ वाले रूप भी मिलते हैं।

चित चिन्ता चिन्तउ हरिण (३)

एकवचन—सोइइ (प्र० च० १६) चलइ (प्र० च० ३३) मीजइ (प्र० च० १३६)
रोवइ (प्र० च० १३६) फाटै (ह० पु०) भुरै (ह० पु०) मेलहै (ह० पु०) बिनसै (म० क० १)
करै (म० क० २६५) हौंइइ (ल० प० क० ७) देवै (छि० वार्ता १२६) बजावइ
(छि० वा० १३६) ।

बहुवचन की क्रिया में हि विभक्ति अरभ्रश में चलती थी, कुछ स्थानों पर हि विभक्ति सुरक्षित है । अहिं > अइं > ऐ के रूप में परिवर्तन भी हुआ है ।

हि—कराहि (प्र० च० ७०६) जाहि (गी० भा० ३८) गुजहि (छी० वा० १७)

इ—लागइ (ह० पुराण २) जाइ (छि० वा० १२४) देपइ (छि० वा० १२४)

पीवइ (छी० वा० १७) ।

ऐ—मनावै (वि० प० २)

ऐ—राखै (स्व० रो० ६) आवै (छि० वार्ता १२४)

वर्तमान कृदन्त से बना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३ वर्तमान कृदन्त के अत वाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था । संस्कृत अन्तः > अप० अन्तउं > अत, अती के रूप में इनका विकास हुआ । पठन्त > पठन्तउ > पठत पडती या पडति । डा० तेस्रोतोरों का विचार है कि संभवतः अरभ्रश में ही दन्त्य अनुनासिक व्यञ्जन दुर्गल हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ४।३८८ में उद्धृत करंतु और प्राकृतपैगलम् १।१३२ में उद्धृत जात से अनुमान किया जा सकता है । (पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्त वाले रूप भी अवदह में सुरक्षित हैं । किन्तु अन्त > अत की प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल दिखाई पडती है । बाद में ब्रजभाषा में अन्त वाले रूप प्रायः अत-अती वाले रूपों में बदल गए । कहीं कहीं अन्त वाले रूप मिलते हैं उन्हें अरभ्रश का प्रभाव ही कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यहि छन्द सुगन्तु (ह० पु० ३०)

(२) घोर पाप पीडन्तु (ह० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण में अवदह की तरह अन्त वाले रूप ही मिलते हैं । बाद में १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे । उदाहरण—

(१) दुष मुख परत न दीडि (क० म० १)

(२) देवी पूजन क वर मागत (क० म०)

(३) मोहन महलन करत विलास (विष्णुपद)

(४) देखति फिरति चित्र चहुँपासि (छि० वार्ता १३२)

(५) तिन्हहि चरावनि वाह उचाइ (छि० वार्ता १४२)

(६) आवति सपइ बार बार (छी० वा० ७)

इन रूपों में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिङ्ग में है । छीहल वावनी में अरभ्रश के प्रभाव के कारण कुछ अतउ वाले रूप भी मिलते हैं ।

चित चिन्ता चिन्ता (३)

क्रियार्थक-संज्ञा

§ ३३६. परवर्ती ब्रज की ही तरह आरम्भिक ब्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं । एक 'न' वाला रूप और दूसरा 'न' वाला । डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नो' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते हैं (देखिये ब्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं ।

'न'—करन (प्र० च० ३१) पोषन (म० क० २६४) रचन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२४) राखन (गी० भा० ५) भाजन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३) ।

'नि'—स्त्रीलिंग रूपों में 'नि' लगता है ।

चितवनि, चलनि, मुरनि, मुसकयानि (छि० वा० १३५)

'व'—चलिवे को (रा० वार्ता ८) होइव (गी० भा० १६)

कहिवे (गी० भा० २७) ।

§ ३३७. भूत वृद्धन्त—भूतकाल में भूत वृद्धन्त के बने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है । ये रूप कर्ता के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं । भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

- (१) रचिउ पुराण (प्र० च० ७०५)
- (२) अवतरिउँ (प्र० च० ७०५)
- (३) सुमिरयो आदीत (इ० पु० ४)
- (४) कियौ कवीत (इ० पुराण ४)
- (५) हउ सहिउँ सब (छी० वा० १५)
- (६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता । प्रायः ये रूप एकवचन में ऊ, ओ, औ, ओ कारान्त, बहुवचन में ऐ-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन में ईकारान्त तथा बहुवचन में ई-कारान्त होते हैं । उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है । बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं ।

मध्यम पुरुष के रूप

- सौख्यो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कास (प्र० च० ४१०)
भुंजिउ राज (प्र० च० ४१०)
फूलियौ मूढ अब पत्त तजि (छी० वा० १२)
ये अजुत कीवउ घणो (छी० वा० १२)
एह बोल म संमल्यो आन (इ० पुराण ६)

अन्य पुरुष के रूप

उकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं ।

क्रियार्थक-संज्ञा

§ ३३६. परवर्ती ब्रज की ही तरह आरम्भिक ब्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक 'व' वाला रूप और दूसरा 'न' वाला। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नो' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते हैं (देखिये ब्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं।

‘न’—करन (प्र० च० ३१) पोषन (म० क० २६४) रचन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२४) राखन (गी० भा० ५) भाजन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३)।

‘नि’—स्त्रीलिंग रूपों में ‘नि’ लगता है।

चितवनि, चलनि, सूरनि, मुसकयानि (छि० वा० १३५)

‘व’—चलिवे को (१० वार्ता ८) होइव (गी० भा० १६)
कहिवे (गी० भा० २७)।

§ ३३७. भूत कृदन्त—भूतकाल में भूत कृदन्त के बने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है। ये रूप कर्ता के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

- (१) रचिउ पुराण (प्र० च० ७०५)
- (२) अवतरिउँ (प्र० च० ७०५)
- (३) सुमिरयो आदीत (ह० पु० ४)
- (४) कियौ कथीत (ह० पुराण ४)
- (५) हउ सहिउँ सब (छी० वा० १५)
- (६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। शायः ये रूप एकवचन में ऊ, ओ, औ, ओ कारान्त, बहुवचन में ए-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन में ईकारान्त तथा बहुवचन में ई-कारान्त होते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मध्यम पुरुष के रूप

- सीख्यो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कास (प्र० च० ४१०)
भुंजिउ राज (प्र० च० ४१०)
फूलियौ मूढ अब एच तजि (छी० वा० १२)
ये अजुत कीयउ वणो (छी० वा० १२)
एह बोल म संभल्यो आन (ह० पुराण ६)

अन्य पुरुष के रूप

ऊकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं।